

सचित्र

श्रीमद्भाल्मीकि-रामायण

[हिन्दीभाषानुवाद सहित]

अरण्यकाण्ड-४

अनुवादक

चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा, पम० आर० ए०एस०

प्रकाशक

रामनारायण लाल

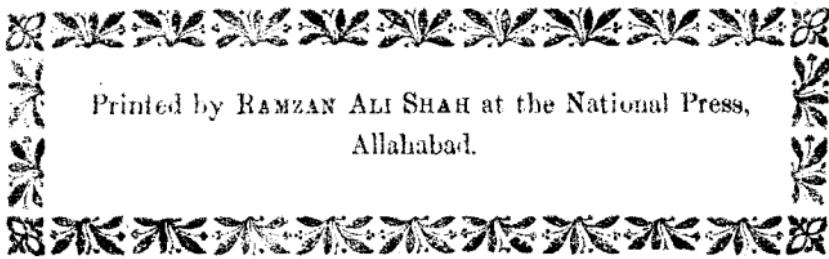
पठिलशर और बुकसेलर

इलाहाबाद

१९२७

प्रथम संस्करण २०००]

[मूल्य२)



Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press,
Allahabad.

विषय-सूची

अरण्यकाण्ड

प्रथम सर्ग

१-७

ऋषियों द्वारा श्रीरामचन्द्र जी का आतिथ्य और अपने कष्टों का वर्णन किया जाना ।

दूसरा सर्ग

७-१४

वन में प्रवेश करने पर श्रीरामचन्द्रादि द्वारा घोरदर्शन विराध का देखा जाना । विराध द्वारा सीता के हरे जाने पर श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मण के साथ संवाद ।

तीसरा सर्ग

१४-२०

श्रीरामचन्द्र और विराध की आपस में बातचीत और परस्पर आत्मपरिचय । श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को कंधे पर बिठा कर विराध का वन की ओर भागना ।

चौथा सर्ग

२०-२९

विराध द्वारा श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण का हरा जाना देख सीता का रोना चिह्नाना । श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के हाथ से मारे जाने पर विराध का पूर्वरूप प्राप्त करना और श्रीरामचन्द्र जी को विराध का शरभङ्ग मुनि के आश्रम का हाल बतलाना और विराध के प्रार्थनानुसार श्रीरामचन्द्र द्वारा विराध के मृतशरीर का गढ़े में गाढ़ा जाना ।

पाँचवाँ सर्ग

२९-३८

सीता और लक्ष्मण को साथ लिये हुए श्रीरामचन्द्र जी का शरभङ्ग मुनि के आश्रम में प्रवेश । श्रीरामचन्द्र जी का

वहाँ शरभङ्ग ऋषि को इन्द्र के साथ बातचीत करते देखना और शरभङ्ग ऋषि से इन्द्र के वहाँ आने का कारण पूँछना तथा शरभङ्ग ऋषि का श्रीरामचन्द्र जी को इन्द्र के आगमन का कारण बतलाना । तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी द्वारा एकान्तस्थान बतलाने का प्रश्न किये जाने पर, शरभङ्ग ऋषि का श्रीरामचन्द्र जी को सुतीक्ष्ण के आश्रम का पता बतलाना ।

छठवाँ सर्ग

३९-४५

राक्षसों के उपद्रवों से भयभीत दण्डकवनवासी ऋषियों की श्रीरामचन्द्र जी के प्रति आत्मरक्षा के लिये प्रार्थना तथा श्रीरामचन्द्र जी का उनको अभयदान देना ।

सातवाँ सर्ग

४५-५१

शरभङ्ग के आश्रम से श्रीरामचन्द्र जी का सुतीक्ष्ण के आश्रम में जाना और आये हुए श्रीरामचन्द्र जी को सुतीक्ष्ण द्वारा पहुँचाई ।

आठवाँ सर्ग

५२-५६

अन्य ऋषियों के आश्रमों को देखने के लिये शगले दिन सबेरे श्रीरामचन्द्र जी का सुतीक्ष्ण मुनि के आश्रम से बाहर निकलना । सुतीक्ष्ण की पुनः आने के लिये श्रीरामचन्द्र जी से प्रार्थना ।

नवाँ सर्ग

५७-६५

मार्ग में धनुष वाणादि आयुधधारी श्रीरामचन्द्र जी की सीता जी का धर्मस्मरण कराना ।

दसवाँ सर्ग

६५-७१

श्रीरामचन्द्र जी का सीता को आयुधादि लेकर वन में आने का कारण बतलाना ।

ग्यारहवाँ सर्ग

७१-९१

मार्ग में श्रीरामचन्द्रादि का माणडवकर्ण के तड़ाग का देखना और उसे देख कुतूहल के वशवर्ती हो उसके बारे में धर्मभृत नामक ऋषि से प्रश्न करना । तब धर्मभृत मुनि का श्रीरामचन्द्र जी को उस तड़ाग का वृत्तान्त बतलाना । मार्ग में लक्ष्मण से श्रीरामचन्द्र जी का इत्वलोपाख्यान कहना । अगस्त्य ऋषि के भाई के आश्रम में तीनों का रात व्यतीत करना । अगले दिन अगस्त्य-आश्रम में तीनों का पहुँचना ।

बारहवाँ सर्ग

९२-१००

श्रीरामचन्द्र जी की आङ्गा से लक्ष्मण का जाकर अगस्त्य के शिष्य से श्रीरामचन्द्र जी के आगमन की सूचना देना । तदनन्तर उस शिष्य का गुह जी के निकट जाना और श्रीरामचन्द्र जी के आगमन का वृत्तान्त निवेदन करना । अगस्त्य के आश्रम में जाने पर श्रीरामचन्द्र जी का वहाँ विविध देवताओं के स्थानों को देखना । तदनन्तर यथाविधि सत्कार के अनन्तर अगस्त्य जी का श्रीरामचन्द्र जी को धनुष, बाण और तरकस का देना ।

तेरहवाँ सर्ग

१००-१०६

श्रीरामचन्द्र जी के सामने अगस्त्य का सीता जी के गुणों की बड़ाई करना । तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी द्वारा रहने के लिये किसी रमणीक स्थान का पता पूँछे जाने पर अगस्त्य जी का उनको पञ्चवटीस्थान बतलाना ।

चौदहवाँ सर्ग

१०६-११३

पञ्चवटी की ओर जाते हुए रास्ते में श्रीरामचन्द्र जी की जटायु से भेंट और बातचीत ।

पन्द्रहवाँ सर्ग

११४-१२१

अपने पिता के मित्र जटायु के साथ श्रीरामचन्द्र जी का पञ्चवटी में पहुँचना । श्रीरामचन्द्र जी की आज्ञा से लक्ष्मण का वहाँ पर्णशाला बनाना और सीता सहित उसमें श्रीराम-चन्द्र जी का सुखपूर्वक निवास ।

सोलहवाँ सर्ग

१२१-१३२

हेमन्त वर्णन और भरत का स्मरण कर श्रीरामचन्द्र जी का उनके लिये विलाप करना ।

सत्रहवाँ सर्ग

१३३-१४०

पर्णशाला में रहते समय लक्ष्मण के साथ श्रीरामचन्द्र जी की विविध प्रकार की बातबीत होना और उसी बीच में कामपोइति शूर्पनखा का पर्णशाला में आना और अपना परिचय देना ।

अद्वारहवाँ सर्ग

१४०-१४६

लक्ष्मण द्वारा शूर्पनखा के कान और नाक का काटा जाना । अपने भाई खर के पास जा नकटी बूचों शूर्पनखा का क्रोध प्रकट करना ।

उन्नीसवाँ सर्ग

१४६-१५२

रामलक्ष्मण को दण्डकवन से निकालने के लिये खर का चौदह राज्यों को आदेश देना ।

बीसवाँ सर्ग

१५२-१५८

अपने आश्रम में आये हुए और खर के भेजे हुए राज्यों का श्रीरामचन्द्र द्वारा तर्जन । किन्तु श्रीरामचन्द्र जी की बातों पर ध्यान न देकर आक्रमण करने वाले राज्यों का

श्रीरामचन्द्र द्वारा वध देख कर, शूर्पनखा का खर के पास
भाग भर जाना ।

इक्षीसवाँ सर्ग

१५८-१६३

खर के पास जा शूर्पनखा का विलाप करना और
श्रीराम लक्ष्मण के वध के लिये प्रेरणा करना ।

बाइसवाँ सर्ग

१६३-१६९

शूर्पनखा को धीरज बंधा, खर का सैन्य सज्जा कर
श्रीरामचन्द्र जी से लड़ने के लिये जनस्थान से प्रस्थान ।

तेझीसवाँ सर्ग

१६९-१७७

रास्ते के बुरे शकुनों को अवहेला कर, खर का बारह
प्रख्यात वीरों से घिर कर पञ्चवटी की ओर जाना ।

चौबीसवाँ सर्ग

१७७-१८५

मावी उपद्रव की आशङ्का कर, श्रीरामचन्द्र जी की
प्रेरणा से लक्ष्मण का सीता का लेकर एक पर्वत-गुफा में
जाना । युद्ध के लिये तैयार खर की सेना को श्रीरामचन्द्र
जी का देखना ।

पचीसवाँ सर्ग

१८५-१९६

खर की सेना के राज्यसों का वर्णन और उनका नाश ।

छब्बीसवाँ सर्ग

१९७-२०५

श्रीरामचन्द्र जी और दूषण का घोर युद्ध और दूषण का
वध ।

सत्ताइसवाँ सर्ग

२०५-२१०

श्रीरामचन्द्र जी से लड़ने के लिये खर को जाते देख
और उसे रोक सेनापति त्रिशिरा का लड़ने को जाना और
श्रीरामचन्द्र द्वारा उसका मारा जाना ।

अद्वाइसवाँ सर्ग

२१०-२१८

खर के साथ लड़ते हुए श्रीरामचन्द्र जी द्वारा खर का रथ नष्ट किया जाना और उसके सारथि का मारा जाना ।

उन्तीसवाँ सर्ग

२१८-२२५

खर का श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर गदा चलाना ।

तीसवाँ सर्ग

२२५-२३५

श्रीरामचन्द्र जी और लक्ष्मण जी का वीरोचित कथोपकथन, तनदन्तर खर का युद्ध में मारा जाना । युद्ध देखने के लिये आये हुए देवता और ऋषियों द्वारा श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम की बड़ाई किया जाना ।

इक्तीसवाँ सर्ग

२३५-२४७

रावण के पास जा अक्षयन का जनस्थानवासी राक्षसों के नाश का वृत्तान्त कहा जाना और इसके बदले सीता को हरलाने की रावण को सलाह देना । इस काम में सहायता माँगने के लिये रावण का मारीच के आश्रम में जाना और मारीच के उपदेश को मान रावण का लड़ा को लौट जाना ।

बत्तीसवाँ सर्ग

३४८-२५३

खरदूषण का वध देख भयभीत शूर्पनखा का रावण के समीप जाकर श्रीरामचन्द्र जी की बुराई करना ।

तेतीसवाँ सर्ग

२५३-२६०

अपनी प्रजा का वृत्तान्त जानने में असाध्यान रहने के लिये शूर्पनखा का रावण की निन्दा करना ।

चौतीसवाँ सर्ग

२६०-२६६

शूर्पनखा की बातें सुन रावण का क्रोध में भर जाना;
तब शूर्पनखा का रावण को सीता हर कर ले आने के लिये
उत्तेजित करना ।

पैतीसवाँ सर्ग

२६६-२७६

तब रावण का मारीच के पास फिर जाना ।

छत्तीसवाँ सर्ग

२७६-२८१

मारीच के सामने रावण द्वारा जनस्थान वासी खरदूष-
णादि राक्षसों के मारे जाने का वृत्तान्त कहा जाना और
सीता हरण के लिये मारीच से साहाय्य प्राप्ति की याचना
किया जाना ।

सैतीसवाँ सर्ग

२८१-२८७

सीता हरने के लिये उद्यत रावण के प्रति मारीच का
पुनः हितोपदेश ।

अड़तीसवाँ सर्ग

२८८-२९६

विश्वामित्र के आश्रम में श्रीरामचन्द्र सम्बन्धी आत्मनु-
भवों का बखान करते हुए मारीच का रावण को यह
उपदेश देना कि—“रमतां स्वेषु दारेषु ।” (अर्थात्
अपनी स्त्रियों के साथ भोग विलास करो ।)

उन्तालीसवाँ सर्ग

२९६-३०२

मारीच द्वारा रावण को सीताहरण सम्बन्धी अन्य अनेक
दोषों को दिखला कर, रावण को इस कार्य से विरक्त करने
का उद्योग किया जाना ।

चालीसवाँ सर्ग

३०२-३०९

मरनहार रावण के मन पर मारीच के उपदेश का कुछ भी प्रभाव न पड़ना । प्रत्युत सीताहरण में सहायता न देने पर मारीच को रावण द्वारा मार डालने को धमकी दिया जाना ।

इकतालीसवाँ सर्ग

३०९-३१४

अपने उपदेश के प्रतिकूल रावण को निषिद्ध कार्य में प्रवृत्त होने को उद्यत देख कर भी रावण को मारीच का फिर समझाना ।

ब्यालीसवाँ सर्ग

३१४-३२२

रावण के भय से मारीच का राजी होना । रावण और मारीच का श्रीरामाश्रम की ओर गमन । श्रीरामाश्रम के निकट पहुँच मारीच का कपटी हिरन का हृष धर आश्रम में इधर उधर विचरना और फूल तोड़ती हुई सीता को उस पर दृष्टि पड़ना ।

तेतालीसवाँ सर्ग

३२२-३२३

बनावटी मृग के देखते ही सीता का उसे पकड़वाने के लिये अपने पति और देवर को पुकारना । अपनी पत्नी के बचन सुन, हिरन पकड़ने के लिये जाने की तैयारी कर श्रीरामचन्द्र जी का लक्ष्मणजी के साथ परामर्श करना ; तब लक्ष्मण का यह कहना कि यह मायामृग है, इसका वध करना ठीक है ।

चौथालीसवाँ सर्ग

३२४-३४०

हिरन को पकड़ने की चेष्टा करते हुए श्रीरामचन्द्र जी का निज आश्रम से बहुत दूर निकल जाना । मारीचवध ।

मरने के पूर्व सीता को धोखा देने के लिये श्रीरामचन्द्र जी के कण्ठस्वर का अनुकरण कर मारीच का “ हा सीते ! ” “ हा लक्ष्मण ! ” कह कर चिल्लाना ।

पैतालीसवाँ सर्ग

३४०—३४९

श्रीराम को विपद्ग्रस्त जान सीता जी का लक्ष्मण जी को, श्रीरामचन्द्र जी का हाल जाकर लाने की प्रेरणा करना । न जाने पर सीता जी द्वारा कठोर बचन कहे जाने पर, लक्ष्मण जी का आश्रम से प्रस्थान करना ।

छियालीसवाँ सर्ग

३४९—३५९

यति के रूप में रावण का सीता के समोप जाना और सीता द्वारा रावण का आतिथ्य किया जाना ।

सेतालीसवाँ सर्ग

३५९—३७०

सीता का रावण से अपना वृत्तान्त कहना ।

अड़तालीसवाँ सर्ग

३७१—३७६

रावण का सीता के सामने अपने कुल और वीर कर्मों का बखान करना ।

उन्ननचासवाँ सर्ग

३७६—३८५

सीतापहरण, रास्ते में जटायु से समागम ।

पचासवाँ सर्ग

३८५—३९२

रावण के प्रति जटायु का हितोपदेश और अन्त में युद्ध के लिये उसका रावण को ललकारना ।

इक्यावनवाँ सर्ग

३९२—४०३

जटायु और रावण का युद्ध । युद्ध में रावण द्वारा जटायु के पंखों का काटा जाना ।

| | |
|--|---------|
| बावनवाँ सर्ग | ४०३-४१३ |
| विलाप करती हुई सीता को पकड़ कर रावण का आकाश मार्ग से गमन । | |
| त्रेपनवाँ सर्ग | ४१३-४१९ |
| सीता विलाप । | |
| चौंवनवाँ सर्ग | ४२०-४२७ |
| सुग्रीवादि वानरों को बैठा देख सीता का अपने कुछ आभूषणों को गिराना । | |
| पचपनवाँ सर्ग | ४२७-४३६ |
| रावण का सीता को अपना ऐश्वर्य दिखाना और अपनी भार्या बनाने के लिये उसका सीता जी से अनुरोध करना । | |
| छपनवाँ सर्ग | ४३६-४४४ |
| क्रोध में भर कर सीता जी का रावण के प्रति कठोर वचन कहना । तब रावण का सीता को धमकाना डराना । | |
| सत्तावनवाँ सर्ग | ४४५-४५० |
| मारीच का वध करके लौटते हुए श्रीरामचन्द्र का अपशकुनों को देख, सीता जी के अनिष्ट के सम्बन्ध में शङ्खा करना । | |
| अद्वावनवाँ सर्ग | ४५१-४५६ |
| लद्धपण को देख सीता के नष्ट होने का निश्चय सा कर श्रीरामचन्द्र जी का विलाप करना । | |

उनसठवाँ सर्ग

४५६-४६३

श्रीमनेत्रादि अङ्गों के फड़कने से सीता पर विपत्ति पड़ने की शङ्का कर श्रीरामचन्द्र जो का लक्ष्मण को, अपनी आङ्गों के विरुद्ध आश्रम छोड़ कर चले आने के लिये उल्हना देना ।

साठवाँ सर्ग

४६३-४७३

श्रीरामचन्द्र जी का ससम्भ्रम आश्रम की ओर दौड़ना । आश्रम में सीता को न देख कर, श्रीरामचन्द्र जी का उन्मत्त होना और सीता का हाल जानने को लृक्षादि से प्रश्न करना ।

इकसठवाँ सर्ग

४७३-४८०

सीता के लिये श्रीरामचन्द्र जी का दुखी होना । श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण का सीता की खोज में इधर उधर घूमना । चिल्हाते हुएं श्रीरामचन्द्र की शान्त करने के लिये लक्ष्मण का समझाना ।

बासठवाँ सर्ग

४८०-४८५

श्रीरामचन्द्र जी का दीन हो कर सीता के लिये बार बार विलाप करना ।

त्रेसठवाँ सर्ग

४८५-४९३

दुःखार्त श्रीराम का विलाप और लक्ष्मण का उनको धीरज बंधाना ।

चौसठवाँ सर्ग

४९३-५०९

गोदावरी के तट पर सीता की खोज में घूमते फिरते श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को हिरनों द्वारा दक्षिण दिशा में जाकर हूँढ़ने के लिये सङ्केत का मिलना ।

| | |
|---|---------|
| पैसठवाँ सर्ग | ५१०-५१३ |
| श्रीरामचन्द्र जी को लक्ष्मण का आश्वासन प्रदान करना । | |
| छ्याछ्याठवाँ सर्ग | ५१४-५१८ |
| लक्ष्मण जी का श्रीरामचन्द्र जी को यह समझाना कि न तो श्रापको साधारण जन की तरह शोकान्वित होना उचित है और न समस्त सृष्टि का संहार कर, एक बड़े भारी पाप को अपने ऊपर लेना उचित है; किन्तु जिसने सीता हरी है उसको खोज कर अवश्य मार डालना चाहिये । | |
| सरसठवाँ सर्ग | ५१८-५२५ |
| मुमुर्षदशा को प्राप्त जटायु से श्रीरामचन्द्र की भेंट तथा जटायु का श्रीरामचन्द्र जी को यह बतलाना कि रावण तुम्हारी छोटी सीता को हर लेगया है । | |
| अदृसठवाँ सर्ग | ५२५-५३४ |
| जटायु का मरण और श्रीरामचन्द्र जी द्वारा उसका अौर्ध्वदेहिक कर्म किया जाना । | |
| उनहत्तरवाँ सर्ग | ५३४-५४५ |
| इधर उधर घूमते फिरते श्रीरामचन्द्र जी का कौञ्चारण्य में मत्सङ्ग आश्रम में पहुँचना तथा अयोमुखी और कबन्ध से समागम । | |
| सत्तरवाँ सर्ग | ५४६-५५० |
| कबन्ध की भुजाओं का श्रीराम लक्ष्मण द्वारा छेदा जाना । | |

इकहत्तरवाँ सर्ग

५५०-५५७

कवन्ध का आत्मवृत्तान्त सुनाना, और श्रीरामचन्द्र का उसके मृत शरीर को फूकना ।

वहत्तरवाँ सर्ग

५५७-५६४

शापयुक्त कवन्ध का श्रीरामचन्द्र को सीतान्वेषण के लिये सुग्रीव की सहायता लेने का परामर्श देना ।

तिहत्तरवाँ सर्ग

५६४-५७४

पम्पातीर पर मतदृश्याश्रम में शवरी के समीप जाने के लिये श्रीरामचन्द्र जी से कवन्ध का निवेदन करना ।

चौहत्तरवाँ सर्ग

५७४-५८२

शवरी द्वारा श्रीरामचन्द्र का आतिथ्य किया जाना और शवरी का स्वर्गरीहण ।

पचहत्तरवाँ सर्ग

५८३-५९०

श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण का पम्पातट की ओर प्रयाण और सुग्रीव के दर्शन करने के लिये लक्ष्मण को श्रीरामचन्द्र जी का आदेश ।

इति

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्भारामायणपारायणोपक्रमः

[नोट—सनातनधर्म के अन्तर्गत जिन वैदिकसम्प्रदायों में श्रीमद्भारामायण का पारायण होता है, उन्हीं सम्प्रदायों के अनुसार उपक्रम और समापन क्रम प्रत्येक खण्ड के आदि और अन्त में क्रमशः दे दिये गये हैं ।]

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—*—

कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।

आरुहा कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकित्तम् ॥ १ ॥

वाल्मीकिर्मुनिसिंहस्य कवितावनचारिणः ।

शृगवरामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ २ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।

अतृप्सस्तं मुर्नि वन्दे प्राचेतसमकल्पम् ॥ ३ ॥

गोष्ठदीकृतवारीशं मशकीकृतराक्षसम् ।

रामायणमहामाजारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ ४ ॥

अञ्जनानन्दनं थोरं जानकीशोकनाशनम् ।

कपीशमन्त्रहत्तारं वन्दे लङ्घाभयङ्घरम् ॥ ५ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं

जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।

वातात्मजं वानरयूथमुख्यं

श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ ६ ॥

उद्धुद्धुय सिन्धोः सलिलं सलोलं
यः शोकवहि जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनैव ददाह लङ्घां
नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ ७ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्जनाद्रकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततर्मूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ ८ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राज्ञसान्तकम् ॥ ९ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १० ॥
तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यवद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ ११ ॥

श्रीराघवं दशरथात्मजमप्रभेयं
सीतापतिं रघुकुलान्वयरक्षदीपम् ।
आजानुबाहुमरविन्ददलायतात्तं
रामं निशाचरविनाशकरं नमामि ॥ १२ ॥

बैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येपुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।

अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यानं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामजम् ॥१३॥

— : * : —

माधवसम्पदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं च नुर्भुजम् ।
प्रसन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

लद्मीनारायणं वन्दे तद्वक्तप्रवरो हि यः ।
श्रीमदानन्दतीर्थाख्यो गुहस्तं च नमाम्यहम् ॥ २ ॥

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा ।
आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते ॥ ३ ॥

सर्वविघ्नप्रगमनं सर्वसिद्धिकरं परम् ।
सर्वजीवप्रणेतारं वन्दे विजयदं हरिम् ॥ ४ ॥

सर्वाभीष्टप्रदं रामं स गरिष्ठनिवारकम् ।
जानकीजानिमनिशं वन्दे मद्गुहादितम् ॥ ५ ॥

अभ्रमं भङ्गरहितमजडं विमलं सदा ।
आनन्दतोर्थमतुलं भजे तपत्रशापहम् ॥ ६ ॥

भवति यदनुभावादेडमूकोऽपि वाग्मी
जडमतिरपि जन्तुर्जायते प्राङ्मौलिः ।
सकलवचनचेतोदेवता भारती सा
मम ववसि विघ्नां सविर्धि मानसे च ॥ ७ ॥

मिष्यासिद्धान्तदुर्ध्वान्तविध्वंसनविचक्षणः ।
जयतीर्थाख्यतरणिर्भासितां नो हृदम्बरे ॥ ८ ॥

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वक्यैमनैरखण्डतैः ।

गुरुभावं व्यञ्जयन्ति भाति श्रीजयतीर्थवाक् ॥ ६ ॥

कूजन्तं रामं रामेति मधुरं मधुराक्षसम् ।

आहृष्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ १० ॥

वाल्मीकिर्मुनिसिहस्य कवितावनचारिणः ।

श्रृगवन्नामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ११ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।

अतुपस्तं मुनिं वन्दे प्राचेतसमकल्मषम् ॥ १२ ॥

गोष्ठदीकृतवारीशं मशकोकृतराक्षसम् ।

रामायणमहामालारत्नं वन्देऽनिलात्मजम् ॥ १३ ॥

अङ्गजनानन्दनं धीरं जानकीशोकनाशनम् ।

कपीशमन्त्रहन्तारं वन्दे लङ्घाभयङ्घरम् ॥ १४ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं

जितेन्द्रियं बुद्धिमर्ता वरिष्ठम्

वातात्मजं वानरयूथमुख्यं

श्रीरामदूतं शरसा नमामि ॥ १५ ॥

उल्लङ्घ्य सिंधोः सलिलं सलीलं

यः शोकवह्नि जनकात्मजायाः ।

आदाय तेनैव ददाह लङ्घां

नमामि तं प्राञ्जलिराञ्जनेयम् ॥ १६ ॥

आञ्जनेयमतिपाटलाननं

काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।

पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १७ ॥

यत्र यत्र रघुनाथकीर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
बाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं
मारुतिं नमत राज्ञसान्तकम् ॥ १८ ॥

वेदवेदे परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षादामायणात्मना ॥ १९ ॥

आपदामपहर्तारं दातारं सर्वसम्पदाम् ।
लोकाभिरामं श्रीरामं भूयो भूयो नमास्यहम् ॥ २० ॥

तदुपगतसमाससन्धियोगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिप्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ २१ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्ये पुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यानं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥ २२ ॥

वन्दे वन्द्यं विधिभवमहेन्द्रादिवृन्दारकेन्द्रैः
व्यक्तं व्याप्तं स्वगुणगणतो देशतः कालतश्च ।
धूतावदं सुखचितिमयैर्मङ्गलैर्युक्तमङ्गैः
सानाथ्यं नो विद्यदधिकं ब्रह्म नारायणाख्यम् ॥ २३ ॥
भूषारत्नं भुवनवलयस्याखिलाश्चर्यरत्नं
लीलारत्नं जलधिदुहितुर्देवतामौलिरक्षम् ।

चिन्तारलं जगति भजतां सत्सरोजद्युरलं
कौसल्याया लसतु मम हृन्मण्डले पुत्ररत्नम् ॥ २४ ॥

महाव्याकरणाभेदिमन्थमानसमन्दरम् ।

कवयन्तं रामकीर्त्या हनुमन्तमुपास्महे ॥ २५ ॥

मुख्यप्राणाय भीमाय नमो यस्य भुजान्तरम् ।

नानावीरसुवर्णानां निकषाश्मायितं बभौ ॥ २६ ॥

स्वान्तस्थानन्तश्चाय पूर्णज्ञानमहार्णसे ।

उत्तुङ्गवाक्करङ्गाय मध्वदुध्याव्यये नमः ॥ २७ ॥

वाल्मीकिर्गैः पुनीयान्नो महीधरपदाश्रया ।

यद्दुग्धपुपजीवन्ति कवयस्तर्णका इव ॥ २८ ॥

सूक्तिरत्नाकरे रम्ये मूलरामायणार्णवे ।

विहरन्तो महीर्यासः प्रीयन्तां गुरवो मम ॥ २९ ॥

हयग्रीव हयग्रीव हयग्रीवेति यो वदेत् ।

तस्य निःसरते वाणी जहुकन्याप्रवाहवत् ॥ ३० ॥

—*—

स्मार्तसम्प्रदायः

शुक्लाम्बरधरं विष्णुं शशिवर्णं चतुर्भुजम् ।

सन्नवदनं ध्यायेत्सर्वविघ्नोपशान्तये ॥ १ ॥

वागीशाद्याः सुमनसः सर्वार्थानामुपक्रमे ।

यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ २ ॥

दोर्मिर्युक्ता चतुर्भिः स्फटिकमणिमयीमत्तमालां दधाना

हस्तैनैकेन पद्मं सितमपि च शुकं पुस्तकं चापरेण ।

भासा कुन्देन्दुशङ्कुस्फटिकमणिनिभा। भासमानासमाना
सा मे वाग्देवतेयं निवसतु वदने सर्वदा सुप्रसन्ना ॥३॥

कृजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आख्या कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥ ४ ॥

वाल्मीकेमुनिमिहस्य कवितावनवारिणः ।
शृणुवन्नामकथानादं को न याति परां गतिम् ॥ ५ ॥

यः पिबन्सततं रामचरितामृतसागरम् ।
अतृप्तस्तं मुनि वन्दे प्राचेतसपकल्पषम् ॥ ६ ॥

गोप्यदोकृतवाराणश मणकीकृतराक्षसम् ।
रामायणप्रहामाकारत्वं वन्देऽनिजात्मजम् ॥ ७ ॥

अञ्जनानन्दनं वीरं जानकीशोकनाशनम् ।
कपीशमक्तहन्तारं वन्दे लङ्घाभयङ्घरम् ॥ ८ ॥

उल्लङ्घ्य सिन्धोः सलिलं सलीलं
यः शोकवद्दिं जनकात्मजायाः ।
आदाय तेनेव ददाह लङ्घां
नमामि तं प्राञ्जिराञ्जनेयम् ॥ ९ ॥

अञ्जनेयमतिपाटलाननं
काञ्जनादिकमनोयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं
भावयामि पवमाननन्दनम् ॥ १० ॥

यत्र यत्र रघुनाथकोर्तनं
तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।

वास्त्वारिपरिपूर्णलोचनं
मारुति नमत रात्रसान्तकम् ॥ ११ ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं
जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्ठम् ।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं
श्रीरामदूतं शिरसा नमामि ॥ १२ ॥

यः कण्जिलिसम्पुटैरहरहः सम्यक्पित्यादरात्
वाल्मीकिवद्नारविन्दगतिं रामायणाख्यं मधु ।
जन्मव्याधिजराविपत्तिमरणैरत्यन्तसोपद्रवं
संसारं स विहाय गच्छति पुमान्विष्णोः पदं शाश्वतम् ॥ १३ ॥

तदुपगतसमाससन्धियेगं
सममधुरोपनतार्थवाक्यबद्धम् ।
रघुवरचरितं मुनिग्रणीतं
दशशिरसश्च वधं निशामयध्वम् ॥ १४ ॥

वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी ।
पुनातु भुवनं पुण्या रामायणमहानदी ॥ १५ ॥

श्लोकसारसमाकीर्णं सर्गक्लोलसङ्कुलम् ।
कागडग्राहमहामीनं वन्दे रामायणार्णवम् ॥ १६ ॥

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे ।
वेदः प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना ॥ १७ ॥

वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामण्डपे
मध्येषुष्पकमासने मणिमये वीरासने सुस्थितम् ।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्वं मुनिभ्यः परं
व्याख्यानं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम् ॥ १८ ॥

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान्पश्चात्सुमित्रासुतः
 शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्विवर्दकोणेषु च ।
 सुग्रीवश्च विभीषणश्च युवराट् तारासुतो जाग्ववान्
 मध्ये नोलसरोजकोमलरुचि रामं भजे श्यामलम् ॥११॥

नमोऽस्तु रामाय सलह्मणाय
 देव्यै च तस्यै जनकात्मजायै ।
 नमोऽस्तु रुद्रेन्द्रयमानिकेभ्यो
 नमोऽस्तु चन्द्रार्कमरुदूगणेभ्यः ॥ २० ॥



श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

—;*;—

अरण्यकाण्डः

प्रविश्य तु महारण्यं दण्डकारण्यमात्मवान्^१ ।

ददर्श रामो दुर्धर्षस्तापसाश्रमण्डलम् ॥ १ ॥

धैर्यवान् और दुर्दृष्ट श्रीरामचन्द्र जी ने दण्डक नामक महावन में प्रवेश कर, तपस्वियों के आश्रम देखे ॥ १ ॥

कुशचीरपरिक्षिसं ब्राह्मचा लक्ष्म्याऽ समावृतम् ।

यथा प्रदीपं दुर्दर्शं गगने सूर्यमण्डलम् ॥ २ ॥

इन आश्रमों में जगह जगह यज्ञ में काम आने वाले कुशों के ढेर लगे थे । आश्रमवासियों के चीर जगह जगह सूखने के लिये फैलाये हुए थे । वेदाध्ययन और वैदिक कर्मानुष्ठान के कारण, इन आश्रमों में एक प्रकार का ऐसा तेज व्याप्त था, जिसे रात्रिसादि उसी प्रकार नहीं सहन कर सकते थे, जिस प्रकार आकाशस्थ सूर्य का तेज सहन नहीं किया जाता ॥ २ ॥

शरण्यं सर्वभूतानां सुसंमृष्टाजिरं सदा ।

मृगैर्बहुभिराकीर्णं पक्षिसङ्घैः समावृतम् ॥ ३ ॥

१ आत्मवान् — धैर्यवान् । (गो०) २ ब्राह्मालक्ष्म्या—ब्राह्मीलक्ष्मीः ब्रह्म-विद्याभ्यास जनितस्तेजो विशेषः । (रा०)

ये आश्रम प्राणि मात्र के लिये सुखप्रद आश्रयस्थल थे और स्वच्छ स्थानों से सुशोभित थे । इन आश्रमों में बहुत से हिरन निर्भय धूमा फिरा करते थे और पक्षियों की टोलियाँ, आश्रमों के वृक्षों पर रहा करती थीं ॥ ३ ॥

पूजितं चोपनृत्तं च नित्यमप्सरसां गणैः ।

विशालैरग्निशरणैः सुग्भाण्डैरजिनैः कुशैः ॥ ४ ॥

इन आश्रमों में अप्सराएँ आ कर नृत्य किया करती थीं । वे इन आश्रमों का सम्मान करती थीं, यहाँ बड़ी लंबी चौड़ी यज्ञशालाएँ बनी थीं ; जिनमें अग्निकुण्ड के समीप स्नुवा, यज्ञपात्र, मृगचर्म और कुश रखे हुए थे ॥ ४ ॥

समिद्धिस्तोयकलशैः फलमूलैश्च शोभितम् ।

आरण्यैश्च महावृक्षैः पुण्यैः स्वादुफलैर्युतम् ॥ ५ ॥

इन आश्रमों में समिधाय, जल से भरे घड़े, और कन्द मूल फल रखे थे । बनैले बड़े बड़े पेड़ों में स्वादिष्ट और खाने योग्य पवित्र फल लगे थे ॥ ५ ॥

बलिहोमार्चितं^२ पुण्यं ब्रह्मधेष्ठनिनादितम् ।

पुष्पैर्वर्न्यैः परिक्षिसं पद्मिन्या च सप्तव्या ॥ ६ ॥

इन सब आश्रमों में नित्य ही बलिवैश्वदेव होता और पवित्र वेद-व्यनि हुआ करती थी । वहाँ देवताओं पर चढ़े हुए बनैले फूल विष्वरे हुए थे और खिले हुए कमल के फूलों से परिपूर्ण तलैयाँ से ये सब आश्रम सुशोभित थे ॥ ६ ॥

१ अग्निशरणैः—अग्निहोत्रगृहैः । (गो०) २ बलिभिः—भूतवलिप्रभृतिभिः । (गो०) ३ होमैवैश्वदेवादिहोमैश्च । (गो०)

फलमूलाशनैर्दान्तैश्चीरकृष्णाजिनाम्बरैः ।

सूर्यवैश्वानराभैश्च पुराणैर्मुनिभिर्वृत्तम् ॥ ७ ॥

इन सब आश्रमों में कन्दमूल फल खाने वाले, चीर और मृगचर्म धारण करने वाले, जितेन्द्रिय, सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी, तथा वृद्ध मुनिगण वास करते थे ॥ ७ ॥

पुण्यैश्च नियताहारैः शोभितं परमर्षिभिः२ ।

तद्ब्रह्मभवनप्रख्यं ब्रह्मघोषनिनादितम् ॥ ८ ॥

ये आश्रम, नियताहारी और पवित्र परमर्षियों से सुशोभित और सदा वेदों के पढ़ने का शब्द होते रहने के कारण, ब्रह्मलोक के समान प्रसिद्ध थे ॥ ८ ॥

ब्रह्मविद्भिर्महाभागैर्ब्रह्मणैरूपशोभितम् ।

स दृष्टा राघवः श्रीमांस्तापसाश्रममण्डलम् ॥ ९ ॥

परब्रह्म का ज्ञान रखने वाले महाभाग ब्राह्मणों से सुशोभित इन आश्रमों को देख, श्रीमान् रामचन्द्र जी ने ॥ ९ ॥

अभ्यगच्छन्महातेजा विज्यं कृत्वा महद्धनुः ।

दिव्यज्ञानोपपन्नास्ते रामं दृष्टा महर्षयः ॥ १० ॥

अपने बड़े धनुष का रोदा उतार कर, उन आश्रमों की ओर गमन किया । दिव्यज्ञानसम्पन्न महर्षियों ने जब श्रीरामचन्द्र जी को आते हुए जाना ॥ १० ॥

१ पुराणैः—वृद्धैः । (गो०) २ परमर्षिभिः—उक्तमुनीनामभिपूजनीयैः । (गो०)

३ ब्रह्मविद्भिः—परब्रह्मज्ञानभिः । (गो०)

अभ्यगच्छंस्तथा प्रीता वैदेहीं च यशस्विनीम् ।

ते^१ तं सोममिवोद्यन्तं^२ दृष्टा वै धर्मचारिणः ॥ ११ ॥

तब प्रसन्न हो , वे त्रिकालज्ञ महर्षि श्रीरामचन्द्र और यशस्विनी जानकी जी की ओर चले । उन लोगों ने अन्धकारनाशक चन्द्रमा के समान श्रीरामचन्द्र जी को देखा ॥ ११ ॥

लक्ष्मणं चैव दृष्टा तु वैदेहीं च यशस्विनीम् ।

मङ्गलानि प्रयुज्ञानाः प्रत्यगृह्णन्दद्वताः ॥ १२ ॥

साथ में लक्ष्मण तथा यशस्विनी सीताजी को देख, उन दृढ़ ब्रतधारी महर्षियों ने तीनों को मङ्गलाशीर्वाद दिया और उनको अपनी रक्षा करने वाले देवता समझ, उनका यथाविधि आदर सल्कार किया ॥ १२ ॥

रूपसंहननं लक्ष्मीं सौकुमार्यं सुवेषताम् ।

दद्युर्विस्मिताकारा रामस्य वनवासिनः ॥ १३ ॥

वे सब वनवासी ऋषि गण, रामचन्द्र जी के रूप का सौन्दर्य, लावण्य, सुकुमारता और सुवेष को देख, अत्यन्त विस्मित हुए ॥ १३ ॥

[नोट—श्रीरामचन्द्र जी के शरीर और रूप को देख उन महर्षियों को इस लिये विस्मय हुआ कि ऐसे सुकुमार इस महाघोर वन में क्यों आये हैं ।]

वैदेहीं लक्ष्मणं रामं नेत्रैरनिमिषैरिव ।

आश्चर्यभूताद्वशः सर्वे ते वनचारिणः ॥ १४ ॥

१ से—त्रिकालज्ञः । (गो०) २ उद्यन्तं—सोममिव स्थितं अन्धकारनिवत्तं—प्रवृत्तचन्द्रमिवस्थितं । (गो०) ३ प्रत्यगृह्णन्—संरक्षकेषु देवता बुद्ध्याप्रतिगृहीत-वन्तः । (रा०)



एवमुक्त्वा फलैर्मूलैः पुष्पैर्वन्यैश्च राघवम्^१ ।

अन्यैश्च विविधाहरैः सलक्षणपूजयन् ॥ २२ ॥

यह कह कर उन लोगों ने फल फूल कन्द मूल आदि विविध प्रकार के बन में उत्पन्न होने वाले भोज्य पदार्थों से श्रीरामचन्द्र, सीता तथा लक्ष्मण का अतिथि-सत्कार किया ॥ २२ ॥

तथान्ये तापसाः सिद्धा रामं वैश्वानरोपमाः^२ ।

न्यायवृत्ताः^३ यथान्यायं तर्पयामासुरीश्वरम् ॥ २३ ॥

इति प्रथमः सर्गः ॥

इसी प्रकार वहाँ के उन अन्य सिद्धपुरुषों और तपस्त्रियों ने जो अपने स्वरूप के विरुद्ध काम्य कर्मों को त्याग छुके थे, और स्वरूपानुरूप कैङ्गर्य करते थे, श्रीरामचन्द्र जी का यथोचित सत्कार कर उनको सन्तुष्ट किया ॥ २३ ॥

अरण्यकाशड का प्रथम सर्ग पूरा हुआ ।

—;*;—

द्वितीयः सर्गः

—;*;—

कृतातिथ्योऽथ रामस्तु सूर्यस्योदयनं प्रति ।

आमन्त्र्य स मुनीन्सर्वान्वनमेवान्वगाहत ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी अगले दिन सूर्य के उदय होने पर उन सब मुनियों से विदा मांग फिर आगे बन में चले ॥ १ ॥

१ राघवमित्यनेन सीतापञ्जनमप्यर्थं सिद्धः । (गो०) २ वैश्वानरोपमाः—स्वरूपविरुद्धनिषिद्ध काम्यकर्मान्तर त्यागिन इत्यर्थः । (गो०) ३ न्यायवृत्ता—स्वरूपानुरूपकैङ्गर्यवृत्तयः । (गो०)

नानामृगगणाकीर्ण शार्दूलवृक्षसेवितम् ।

ध्वस्तवृक्षलतागुलम् दुर्दर्शसलिलाशयम् ॥ २ ॥

निष्कृजनानाशकुनि भिलिकागणनादितम् ।

लक्ष्मणानुगतो रामो वनमध्यं ददर्श ह ॥ ३ ॥

उस वन में अनेक प्रकार के जीव जन्तु थे तथा शार्दूल और भैरव या धूमा फिरा करते थे । उस वन में कहीं भी न वृक्ष, न लता, न गुलम दिखलाई पड़ते थे । तालाबों का जल सूख जाने के कारण वे केवल भयङ्कर ही नहीं देख पड़ते थे, बल्कि जलाभाव के कारण वहाँ किसी पक्षी की बोली भी नहीं सुन पड़ती थी । केवल भिली की झनकार सुनाई देती थी । चलते चलते सीता, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने वन के बीच में पहुँच, वहाँ का यह भयङ्कर दृश्य देखा ॥ २ ॥ ३ ॥

वनमध्ये तु काकुत्स्थस्तस्मिन्योरमृगायुते ।

ददर्श गिरिशृङ्गार्थं पुरुषादं महास्वनम् ॥ ४ ॥

जंगली पशुओं से सेवित उस घोर वन के बीच पहुँच, श्रीरामचन्द्र जी ने पहाड़ की चोटी के समान लंबा, नरमांसभक्षी, महाशब्द करनेवाला एक राक्षस देखा ॥ ४ ॥

गम्भीराक्षं महावक्त्रं विकटं^१ विषमोदरम्^२ ।

बीभत्सं विषमं दीर्घं विकृतं घोरदर्शनम् ॥ ५ ॥

उस राक्षस की आँखें माथे के भीतर बहुत गहरी धुसी हुई थीं, मुँह बहुत लंबा था, उसका शरीर विशाल था, पेट ऊँचा नीचा था,

१ विकट—विशाल । (गो०) २ विषमोदर—निम्नोद्धतोदर । (गो०)

उसकी आकृति बड़ी धिनौनी थी, उसका शरीर देहा मेहा था, ऊँचा नीचा, खाली भरा हुआ था अर्थात् उसके शरीर का एक भी अंग एक सा न था । अतः वह देखने में बड़ा भयङ्कर जान पड़ता था ॥ ५ ॥

वसानं चर्म वैयाघ्रं वसार्द्धं रुधिरोक्षितम् ।

त्रासनं सर्वभूतानां व्यादितास्यमिवान्तकम् ॥ ६ ॥

वह रात्रम् रुधिर से भींगा हुआ व्याघ्र का चमड़ा ओढ़े हुए था । जब वह अपना मुँह फैला कर जमुहाई लेता था, तब वह काल की तरह सब प्राणियों को त्रस्त कर देता था अर्थात् उसका खुला हुआ मुख देख सब प्राणी भयभीत हो जाते थे ॥ ६ ॥

त्रीनिंसहांश्चतुरो व्याघ्रान्द्वौ वृषो पृष्ठान्दश ।

सविषाणं वसादिग्धं गजस्य च शिरो महत् ॥ ७ ॥

अवसज्यायसे शूले विनदन्तं महास्वनम् ।

स रामं लक्ष्मणं चैव सीतां दृष्टाथ मैथिलीम् ॥ ८ ॥

वह तोन शेर, चार व्याघ्र, दो बैल और दस बारहसिंहों तथा दांतों सहित चर्वी से भरा हुआ एक हाथी का मस्तक, जो लोहे के त्रिशूल में विधा हुआ था, लिये हुए तथा नाद करता और चिह्नाता हुआ देख पड़ा । वह श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और सीता को देख, ॥ ७ ॥

अभ्यधावत संकुद्धः प्रजाः काल इवान्तकः ।

स कृत्वा भैरवं नादं चालयन्निव मेदिनीम् ॥ ९ ॥

अङ्गेनादाय वैदेहीमपक्रम्य ततोऽब्रवीत् ।

युवां जटाचीरधरौ सभार्यै क्षीणजीवितौ ॥ १० ॥

और महाकोथ में भर, प्रलयकारी काल के समान उनकी और दैड़ा। वह महाभयङ्कर रात्रस गर्जन कर, पृथिवी को कँपाता हुआ, सीता को गोदी में उठा और कुछ दूर जा कर कहने लगा— तुम दोनों जटाचीर धारण किये स्थियों सहित इस वन में जो आये हो, सो तुम अपने को कुछ ही तरणों का महामान समझो अथवा अपने को मरा हुआ ही समझो ॥६॥१०॥

[नोट—मूल में “सभायौ” द्विवचन में भार्या शब्द का प्रयोग करने से जान पढ़ता है कि विराध ने समझा कि, सीता दोनों की भार्या है ।]

प्रविष्टौ दण्डकारण्यं शरचापासिधारिणौ ।

कथं तापसयोर्वां च वासः प्रमदया सह ॥ ११ ॥

इस दण्डकवन में (तुम सिर्फ जटा चीर धारी बनकर ही नहीं किन्तु) तीर कमान ले और तलवार बांध कर आये हो । फिर जब तुम तपस्वी का रूप (जटाचीर धारण करने से) धारण किये हो, तब यह तो बतलाओ कि, खी के साथ तपस्थियों का रहना कैसे सम्भव है ॥ ११ ॥

अधर्मचारिणौ पापौ कौ युवां मुनिदूषकौ ।

अहं वनमिदं दुर्गं विराधो नाम राक्षसः ॥ १२ ॥

अतः बतलाओ तुम दोनों अधर्मी, पापी और मुनियों का नाम धराने वाले कौन हो ? मैं विराध नामक रात्रस हूँ और इस दुर्गम वन में ॥ १२ ॥

चरामि सायुधो नित्यभृषिमांसानि भक्षयन् ।

इयं नारी वरारोहा मम भार्या भविष्यति ॥ १३ ॥

शख लिये ऋषि मुनियों के मास को भक्षण करता हुआ, नित्य घूमा करता हूँ । यह सुन्दरी नारी मेरी भार्या होगी ॥ १३ ॥

युवयोः पापयोश्चाहं पास्यामि रुधिरं मृधे ।

तस्यैवं ब्रुवतो धृष्टं विराधस्य दुरात्मनः ॥ १४ ॥

तुम दोनों महापापी हो, अतः तुम दोनों के साथ मैं युद्ध कर, तुम्हारा दोनों का रुधिर पिऊँगा । जब उस दुरात्मा विराध ने ऐसे धृष्टतापूर्ण वचन कहे ॥ १४ ॥

श्रुत्वा सर्वं वचनं सम्भ्रान्ता जनकात्मजा ।

सीता प्रावेपतोद्वेगात्प्रवाते कदली यथा ॥ १५ ॥

तब उसके इन अहङ्कार युक्त वचनों को सुन कर, जानकी जी डरीं और मारे डर के वे वायु के वेग से काँपते हुए, केले के पेड़ की तरह, थर थर काँपने लगीं ॥ १५ ॥

तां दृष्टा राघवः सीतां विराधाङ्कगतां शुभाम् ।

अब्रवीलक्ष्मणं वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ १६ ॥

उधर श्रीरामचन्द्र जी सीता को विराध की गोदी में देख, उदास हो लक्ष्मण से बोले ॥ १६ ॥

पश्य सौम्य नरेन्द्रस्य जनकस्यात्मसम्भवाम् ।

मम भार्या शुभाचारां विराधाङ्के प्रवेशिताम् ॥ १७ ॥

हे सौम्य ! देखो राजा जनक की बेटी, शुद्धाचरण वाली मेरी भार्या सीता, विराध द्वारा पकड़ ली गयी है ॥ १७ ॥

अत्यन्तसुखसंवृद्धां राजपुत्रीं मैनस्विनीम् ।

यदभिप्रेतमस्मासु प्रियं वरवृतं च यत् ॥ १८ ॥

यह मनस्विनी राजपुत्री बड़े लाङ्घ्यार से पाली पेसी गयी है। सो इसकी यह दशा हुई। सो जिस उद्देश्य से कैकेयी ने वरदान मांगा था वह उसका उद्देश्य आज सफल हुआ ॥ १८ ॥

कैकेयास्तु सुसम्पन्नं क्षिप्रमव्यैव लक्ष्मण ।

या न तुष्यति राज्येन पुत्रार्थं दीर्घदर्शिनी ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! कैकेयी बड़ी दूरदर्शिनी है जो अपने पुत्र को राज्य दिला कर भी सन्तुष्ट न हुई (और हमें इस अभिप्राय से वन में भेजा कि, वन में जब सीता को राक्षस हर लैंगे और राम उस दुःख से मर जायगे तब मेरे बैटे का राज्य निष्कण्टक हो जायगा) इतनी जल्दी उसी कैकेयी की मनोभिलाष आज पूरी हुई ॥ १९ ॥

यथाहं सर्वभूतानां हितः प्रस्थापितो वनम् ।

अद्येदानीं सकामा सा या माता मम मध्यमा ॥ २० ॥

जिस कैकेयी ने मुझ जैसे सब प्राणियों के हितैषी को वन में निकलवा दिया उस मेरो मझली माता कैकेयी का इस बड़ी मनोरथ पूर्ण हुआ ॥ २० ॥

[नोट — जिस कैकेयी को श्रीरामचन्द्र ने पहिले “कनीयसी” छोटी माता कहा था अब उसीको ‘मध्यमा माता’ क्यों कहा — इसका समाधान भूषणटीकाकार ने इस प्रकार किया है। “यद्यपि श्रव्यं मम माता कनीय तोत्युक्तं तथापि महिषी-त्रयोपेक्षया कनीयसोत्वं, सर्वदशरथपत्न्यपेक्षया मध्यमत्वं । त्रिशतं पञ्चाशत्त्वं दशरथपत्न्यः सन्तीति श्रव्यमेवाक्तं ।”]

परस्पर्शात्तु वैदेह्या न दुःखतरमस्ति मे ।

पितुर्वियोगात्सौमित्रे स्वराज्यहरणात्था ॥ २१ ॥

हे लक्ष्मण ! इस समय सीता का राक्षस द्वारा हुआ जाना देख, मुझको जैसा दुःख हो रहा है वैसा दुःख मुझे न तो पिता के मरने पर हुआ और न राज्य छूटने पर हुआ ॥ २१ ॥

इति ब्रुवति काकुत्स्थे बाष्पशोकपरिप्लुते ।

अब्रवीललक्ष्मणः क्रुद्धो रुद्धो नाग इव श्वसन् ॥ २२ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने यह कहा, तब आँखों में आँसू भर और शोकाकुल हो लक्ष्मण जो मंत्रमुग्ध सर्प की तरह क्रोध में भर फुँफकार मारते हुए, यह बोले ॥ २२ ॥

अनाथ इव भूतानां नाथस्त्वं वासवोपमः ।

मया प्रेष्येण काकुत्स्थ किमर्थं परितप्यसे ॥ २३ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! मेरे जैसे सेवक के साथ होते हुए और इन्द्र की तरह सब प्राणियों के स्वयं स्वामी हो कर भी, आप एक अनाथ की तरह क्यों सन्तप्त हो रहे हैं ? ॥ २३ ॥

शरेण निहतस्याद्य मया क्रुद्धेन रक्षसः ।

विराधस्य गतासोहिं मही पास्यति शोणितम् ॥ २४ ॥

मैं क्रुद्ध हो, अभी इस राक्षस को वाण से मार इसका रुधिर पृथिवी को पिलाता हूँ ॥ २४ ॥

राज्यकामे मम क्रोधो भरते यो बभूव ह ।

तं विराधे प्रमोक्ष्यामि वज्री वज्रमिवाचले ॥ २५ ॥

राज्य की कामना रखने वाले भरत पर मुझे जो क्रोध आया था, वह क्रोध आज मैं इस विराध पर उसी तरह उतारूँगा, जैसे इन्द्र वज्र का प्रहार कर पहाड़ों पर अपना क्रोध उतारते हैं ॥ २५ ॥

मम भुजबलवेगवेगितः

पततु शरोऽस्य महान्महोरसि ।

व्यपनयतु तनोश्च जीवितं

पततु ततः स महीं विघूर्णितः ॥ २६ ॥

इति द्वितीयः सर्गः ॥

हे राम ! मेरी भुजाओं के बल के वेग से चलाया हुआ महाबाण
इसके हृदय को विदीर्ण कर इसको मार डालेगा और यह घुमरी
खाता हुआ पृथिवी पर गिरेगा ॥ २६ ॥

अरण्यकागड का दूसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—;*;—

तृतीयः सर्गः

—;*;—

इत्युक्त्वा लक्ष्मणः श्रीमान्राक्षसं प्रहसन्निव ।

को भवान्वनमभ्येत्य चरिष्यति यथासुखम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजी से यह कह श्रीमान् लक्ष्मण ने (तिरस्कार
सूचक) मुसक्का कर राक्षस से पूछा कि, आप कौन हैं जो इस
प्रकार स्वेच्छाचारी हो इस वन में घूमा करते हैं ॥ १ ॥

अथोवाच पुनर्वक्यं विराधः पूरयन्वनम् ।

आत्मानं पृच्छते ब्रूतं कौ मुवां क गमिष्यथः ॥ २ ॥

इसके उत्तर में विराध अपनी गम्भीर वाणी से उस वन को
फिर पूर्ण करता हुआ बोला—मैं जो तुमसे पूँछता हूँ उसका उत्तर
दो कि, तुम दानों कौन हो और कहाँ जा रहे हो ॥ २ ॥

तमुवाच ततो रामो राक्षसं ज्वलिताननम् ।

पृच्छन्तं सुमहातेजा इक्ष्वाकुकुलमात्मनः ॥ ३ ॥

यह सुन अंगार के समान जलते हुए भयङ्कर मुख वाले राक्षस को श्रीरामचन्द्र जो ने अपने इक्ष्वाकुवंश का नाम बतलाया ॥ ३ ॥

क्षत्रियौ वृत्तसम्पन्नौ विद्धि नौ वनगोचरौ ।

त्वां तु वेदितुमिच्छावः कस्त्वं चरसि दण्डकान् ॥ ४ ॥

और कहा कि, हम क्षत्रिय हैं और क्षत्रिय वर्णोचित वृत्ति सम्पन्न हैं और वन में आये हैं, यह तुझे जान लेना चाहिये । हम तेरा परिचय भी चाहते हैं कि, इस दण्डक वन में घूमने वाला तू कौन है ॥ ४ ॥

तमुवाच विराधस्तु रामं सत्यपराक्रमम् ।

हन्त वक्ष्यामि ते राजन्निबोध मम राधव ॥ ५ ॥

यह सुन विराध ने सत्यपराक्रम श्रीराम से कहा—हे राधव ! मैं अपना वृत्तान्त कहता हूँ, तुम सुनो ॥ ५ ॥

पुत्रः किल जयस्याहं मम माता शतहदा ।

विराध इति मामाहुः पृथिव्यां सर्वराक्षसाः ॥ ६ ॥

मैं निश्चय ही जय का पुत्र हूँ और शतहदा मेरी माता है । इस पृथिवी के सब राक्षस मुझे विराध नाम से पुकारते हैं ॥ ६ ॥

तपसा चापि मे प्राप्ता ब्रह्मणो हि प्रसादजा ।

शस्त्रेणावध्यता लोकेऽच्छेद्याभेद्यत्वमेव च ॥ ७ ॥

मैंने अपनी तपस्या के बल से ब्रह्मा जो को प्रसन्न कर, उनसे यह वरदान पाया है कि, मैं किसी शस्त्र से न तो धायल होऊँ और न मारा ही जा सकूँ ॥ ७ ॥

उत्सृज्य प्रमदामेनामनपेक्षां यथागतम् ।

त्वरमाणौ पलायेथां न वां जीवितमाददे ॥ ८ ॥

अतः तुम इस स्त्री को और मेरे साथ लड़कर विजय प्राप्त करने की इच्छा को त्याग कर जहाँ से आये हो वहाँ को भाग जाओ ।
मेरी इच्छा नहीं कि मैं तुम्हारा वध करूँ ॥ ८ ॥

तं रामः प्रत्युवाचेदं कोपसंरक्तलोचनः ।

राक्षसं विकृताकारं विराधं पापचेतसम् ॥ ९ ॥

विराध के ये वचन सुन श्रीरामचन्द्रजी कोध में भर लाल लाल आंखे कर, उस पापी और विकट शरीर वाले विराध राक्षस से बोले ॥ ९ ॥

क्षुद्र धिक्त्वां तु हीनार्थं मृत्युमन्वेषसे ध्रुवम् ।

रणे संप्राप्स्यसे तिष्ठ न मे जीवनगमिष्यसि ॥ १० ॥

हे अधम ! तुझको धिक्कार है । तू बड़ी श्रोद्धी जाति का है । तू निश्चय ही अपनी मौत को खोज में है । सो खड़ा रह, तू आज मुझसे युद्ध कर, जीता बच कर न जा पावेगा ॥ १० ॥

ततः सज्यं धनुः कृत्वा रामः सुनिशिताञ्चरान् ।

सुशीघ्रमभिसंधाय राक्षसं निजघान ह ॥ ११ ॥

यह कह श्रीरामचन्द्र जी ने उस राक्षस को लक्ष्य कर शीघ्र धनुष पर रोदा चढ़ाया और उस पर बड़े पैने वाण रखकर चलाये ॥ ११ ॥

धनुषा ज्यागुणवता सप्त वाणान्मुमोच ह ।

रुक्मपुद्धान्महावेगान्सुपर्णानिलतुल्यगान् ॥ १२ ॥

उन्होंने धनुष पर रोदा चढ़ा सुनहले पुंखों से युक्त पवन और गरुड़ के समान शीघ्रगामी सात वाण चलाये ॥ १२ ॥

ते शरीरं विराधस्य भित्त्वा वर्हिणवाससः ।

निपेतुः शोणितादिग्धा धरण्यां पावकोपमाः ॥ १३ ॥

वे बाण जिनमें मोर के पंख लगे हुए थे विराध के शरीर को फोड़ खून से सने, अग्नि की तरह लाल लाल पृथिवी पर जागिरे ॥ १३ ॥

स विद्धो न्यस्य वैदेहीं शूलमुद्घम्य राक्षसः ।

अग्न्यद्वत्सुसंक्रुद्धस्तदा रामं सलक्ष्मणम् ॥ १४ ॥

बाणों से विद्ध हुआ विराध, सीता जी को छोड़, और हाथ में त्रिशूल ले क्रोध में भर श्रीराम लक्ष्मण की ओर झपटा ॥ १४ ॥

स विनद्य महानादं शूलं शक्वध्वजोपमम् ।

प्रगृह्याशोभत तदा व्यात्तानन इवान्तकः ॥ १५ ॥

उस समय वह बड़ा नाद करता और इन्द्रध्वज के समान शूल को हाथ में लिये हुए ऐसा जान पड़ता था, मानों मुख फैलाये साक्षात् काल दौड़ा हुआ आता हो ॥ १५ ॥

अथ तौ भ्रतरौ दीप्तं शरवर्षं वर्षतुः ।

विराधे राक्षसे तस्मिन्कालान्तकयमोपमे ॥ १६ ॥

उस राक्षस को अपनी ओर आता देख दोनों भाई, उस यमराज की समान विराध राक्षस पर चमकते हुए तीरों की वर्षा करने लगे ॥ १६ ॥

स प्रहस्य महारौद्रः स्थित्वाऽजृम्भत राक्षसः ।

जृम्भमाणस्य ते बाणाः कायान्निष्पेतुराशुगाः ॥ १७ ॥

तब वह महाभयङ्कर राक्षस हँसा और खड़े हो कर उसने जमुहाई ली। उसके जमुहाई लेते ही वे शीघ्रगामी बाण उसके शरीर से निकल कर पृथिवी पर गिर पड़े ॥ १७ ॥

बलात् वरदानस्य प्राणान्संरोध्य राक्षसः ।

विराधः शूलमुद्यम्य राघवावभ्यधावत ॥ १८ ॥

यद्यपि विराध उन बाणों के आघात से अति पीड़ित था; तथापि वरदान के बल से वह मरा नहीं और जीता रहा और शूल उठा दोनों भाइयों की ओर दौड़ा ॥ १८ ॥

तच्छूलं वज्रसङ्काशं गगने ज्वलनोपमम्^१ ।

द्वाभ्यां शराभ्यां चिच्छेद रामः शस्त्रभृतां वरः ॥ १९ ॥

तब शस्त्रधारण करने वालों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने वज्र और आकाशस्थ अग्नि के समान उसके शूल को दो बाणों से काट कर गिरा दिया ॥ १९ ॥

तद्रामविशिखच्छब्नं शूलं तस्य कराद्दुवि ।

पपाताशनिना च्छब्नं मेरोरिव शिलातलम् ॥ २० ॥

विराध के हाथ से वह शूल श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से कट दुकड़े दुकड़े हो उसी तरह पृथिवी पर गिरा, जिस प्रकार वज्र के आघात से मेरुपर्वत की शिलाएँ दुकड़े दुकड़े हो गिरती हैं ॥ २० ॥

तौ खड्हौ क्षिप्रमुद्यम्य कृष्णसर्पोपमौ शुभौ ।

तूर्णमापततस्तस्य तदा प्राहरतां बलात् ॥ २१ ॥

जब उसका शूल कट गया, तब श्रीराम और लक्ष्मण अपनी अपनी तलवारों को ले, अति शीघ्र काटने को तैयार नाग की तरह

^१ गगने ज्वलनः—आकाशस्थामिः । (गो०)

उस पर भपटे और उस पर बल पूर्वक तलवारों का बार करने लगे ॥ २१ ॥

स वध्यमानः सुभृशं बाहुभ्यां परिरभ्य तौ ।

अप्रकम्प्यौ नरच्याद्रौ रौद्रः प्रस्थातुमैच्छत ॥ २२ ॥

जब वह राक्षस तलवारों के आघात से अत्यन्त पीड़ित हुआ, तब दोनों पुरुषश्रेष्ठों को जो बड़ी धीरता से लड़ रहे थे, और जिन्हें कोई हरा नहीं सकता था, विराघ दोनों हाथों से पकड़ और अपने कंधों पर रख, ले चला (इस लिये कि दूर लेजा कर दोनों को ज़मोन पर पटक कर मार डालें) ॥ २२ ॥

तस्याभिप्रायमाङ्गाय रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।

वहत्वयमलं तावत्पथाऽनेन तु राक्षसः ॥ २३ ॥

यथा चेच्छति सौमित्रे तथा वहतु राक्षसः ।

अयमेव हि नः पन्था येन याति निशाचरः ॥ २४ ॥

उसके अभिप्राय को समझ श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा—बड़ी अच्छी बात है कि, यह हमें कंधे पर चढ़ा ले जा रहा है। अतः है लक्ष्मण ! जहाँ इसकी हमें ले जाने कि इच्छा हो इसे ले चलने दो, क्योंकि इसी मार्ग से जिससे यह हमको लिये जा रहा है—हमें जाना है ॥ २३ ॥ २४ ॥

स तु स्वबलवीर्येण समुत्क्षिप्य निशाचरः ।

बालाविव स्कन्धगतौ चकारातिवलौ ततः ॥ २५ ॥

उस अतिवली विराघ राक्षस ने अपने बल पराक्रम से श्रीराम और लक्ष्मण को दो बालकों की तरह अपने दोनों कंधों पर बिटा लिया ॥ २५ ॥

तावारोप्य ततः स्कन्धं राघवौ रजनीचरः ।

विराधो निनदन्धोरं जगामाभिमुखो वनम् ॥ २६ ॥

वह विराध राजस श्रीराम लक्ष्मण को अपने कंधों पर रख, बड़े ज़ोर से चिल्लाता हुआ वन की ओर चला ॥ २६ ॥

वनं महामेघनिभं प्रविष्टो

दुर्महद्विर्विधैरुपेतम् ।

नानाविधैः पक्षिशतैर्विचित्रं ।

शिवायुतं व्यालमृगैर्विकीर्णम् ॥ २७ ॥

इति तृतीयः सर्गः ॥

फिर वह राजस महामेघ के तुल्य अनेक प्रकार के बड़े बड़े वृक्षों से युक्त विविध प्रकार के पक्षियों के समूह से परिपूर्ण, सियार, अजगरों और मृगों से युक्त वन में उन दोनों को ले चला ॥ २७ ॥

अरण्यकाण्ड का तीसरा सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

चतुर्थः सर्गः

—*—

हियमाणौ तु तौ दृष्ट्वा वैदेही रामलक्ष्मणौ ।

उचैःस्वरेण चुक्रोश प्रगृह्य^१ सुभुजा भुजौ ॥ १ ॥

जब विराध श्रीराम और लक्ष्मण को हरण कर ले चला, तब यह देख जानकी जी अपनी बड़ी बड़ी भुजाएँ उठा ज़ोर से रो कर कहने लगीं ॥ १ ॥

^१ प्रगृह्य—उद्यम्य । (१०)

एष दाशरथी रामः सत्यवा^१शीलवा^२शुचिः^३ ।

रक्षसा रौद्ररूपेण हियते सहलक्ष्मणः ॥ २ ॥

हा ! यह भयानक राक्षस, महाराज दशरथ के सत्यमाणी, सदाचारी और सीधे सादे पुत्र श्रीरामचन्द्र को, लक्ष्मण सहित हरे लिये जाता है ॥ २ ॥

मां वृका भक्षयिष्यन्ति शार्दूला द्वीपिनस्तथा ।

मां हरोत्सृज्य काकुत्स्थौ नमस्ते राक्षसोत्तम ॥ ३ ॥

अब मुझे ये बनैले जन्तु शेर चीते खा डालेंगे । हे राक्षसोत्तम ! मैं तुझे नमस्कार करती हूँ । तू इन दोनों काकुत्स्थ-राजकुमारों को छोड़ दे और इनके बदले मुझे हर ले ॥ ३ ॥

तस्यास्तद्वचनं श्रुत्वा वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ।

वेगं^४ प्रचक्रतुर्वीरौ वधे तस्य दुरात्मनः ॥ ४ ॥

सीता का ऐसा वचन सुन दोनों वीर भाई श्रीराम और लक्ष्मण, उस दुरात्मा के घात के लिये उद्यत हो, शीघ्रता करने लगे ॥ ४ ॥

तस्य रौद्रस्य सौमित्रिर्वाहुं सव्यं वभञ्ज ह ।

रामस्तु दक्षिणं वाहुं तरसा^५ तस्य रक्षसः ॥ ५ ॥

उस भयङ्कर राक्षस की वाई भुजा लक्ष्मण जी ने और दहिनी भुजा श्रीरामचन्द्रजी ने बल लगा कर तोड़ डाली ॥ ५ ॥

१ सत्यवान् - सत्यवचनवान् । (गो०) २ शीलवान् — सदाचारसम्पन्नः । (गो०) ३ शुचिः — क्रज्जुद्धिः । (गो०) ४ वेगं — तराम् । (रा०) ५ तरसा — बलेन । (गो०)

स भग्रबाहुः संविग्नो^१ निपपाताशु राक्षसः ।

धरण्यां मेघसङ्काशो वज्रभिन्न इवाचलः ॥ ६ ॥

जब उस राक्षस की दोनों बांहें टूट गयीं तब वह मेघ के समान काला राक्षस भयभीत हो तुरन्त ज़मीन पर वैसे ही गिर पड़ा, जैसे वज्र के आघात से पर्वत टूट कर गिरता है ॥ ६ ॥

मुष्टिभिर्जनुभिः पद्मिः सूदयन्तौ तु राक्षसम् ।

उद्यम्योद्यम्य चाप्येन स्थण्डिले निष्पिपेषतुः ॥ ७ ॥

उस समय वे दोनों भाई उस राक्षस को धूसों से मारते, पैरों से टुकराते और उठा उठा कर ज़मीन पर पटकते हुए उसे चूर्ण किये डालते थे ॥ ७ ॥

स विद्धो वहुभिर्बणैः सङ्गाभ्यां च परिक्षतः ।

निष्पिष्ठो वहुधा भूमौ न ममार स राक्षसः ॥ ८ ॥

यद्यपि उस राक्षस के शरीर में अनेक तीर विधे हुए थे और वह तलवारों के अनेक घाव खाये हुए था, तथा कई बार ज़मीन पर उसने पटकी भी खायी थी, तथापि वह मरा नहीं था ॥ ८ ॥

तं प्रेक्ष्य रामः सुभृशमवध्यमच्छ्लोपमम् ।

भयेष्वभयदः^२ श्रीमानिंदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

भय के समय, स्वगुणों के कीर्तन, स्मरणादि करने पर अभय देने वाले श्रीरामचन्द्र ने उस पर्वत के समान सर्वथा अवध्य राक्षस का दोष लक्ष्मण से कहा ॥ ९ ॥

१ संविग्नः — भीतः । (गो०) २ भयेषु अभयदः — भयकालेषु अभयदः ।

स्वगुणादि अवण स्मरण कीर्तनादिना । (रा०)

तपसा पुरुषव्याघ्रं राक्षसोऽयं न शक्यते ।

शस्त्रेण युधि निर्जेतुं राक्षसं निखनावहे ॥ १० ॥

हे पुरुषसिंह ! यह राक्षस अपने तपोबल से शस्त्र द्वारा नहीं जीता जा सकता, अतः आओ इसे पृथिवी में गाढ़ दें ॥ १० ॥

तच्छ्रुत्वा राघवेणोक्तं राक्षसः प्रश्रितं^१ वचः ।

इदं प्रोवाच काकुत्स्थं विराघः पुरुषर्षभम् ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी का वचन सुन वह राक्षस विनय पूर्वक पुरुषश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी से कहने लगा ॥ ११ ॥

हतोऽहं पुरुषव्याघ्रं शक्रतुल्यबलेन वै ।

मया तु पूर्वं त्वं मोहान् ज्ञातः पुरुषर्षभः ॥ १२ ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! हे पुरुषसिंह ! मैं आपके इन्द्र तुल्य पराक्रम से अधमरा हो गया हूँ । मैंने अब तक अज्ञान से आपको नहीं पहचाना था ॥ १२ ॥

कौसल्या सुप्रजा तात रामस्त्वं विदितो मया ।

वैदेही च महाभागा लक्ष्मणश्च महायशाः ॥ १३ ॥

हे तात ! अब इस समय मैंने जाना कि, आप श्रीराम हैं और आपके कारण देवी कौशल्या सुपुत्रवती हुई हैं। इन सौभाग्यवन्ती सीता और महायशस्त्री लक्ष्मण को भी मैंने भली भाँति पहचान लिया है ॥ १३ ॥

अपि शापादहं घोरां प्रविष्टो राक्षसीं तनुम् ।

तुम्बुरुर्नाम गन्धर्वः शसो वैश्रवणेन ह ॥ १४ ॥

हे राम ! मैंने शापवश यह घोर राक्षसशरीर पाया है । मैं पहले तुम्हरु नाम का गन्धर्व था । मुझे कुवेर ने शाप दिया था ॥ १४ ॥

प्रसाद्यमानश्च मया सेऽब्रवीन्मां महायशाः ।

यदा दाशरथी रामस्त्वां वधिष्यति संयुगे ॥ १५ ॥

शाप देने के बाद जब मैंने उनको प्रसन्न किया, तब वे महायशस्वी मुझसे बोले कि, जब दशरथनन्दन श्रीराम तुझे युद्ध में मारेंगे ॥ १५ ॥

तदा प्रकृतिमापन्नो^१ भवान्स्वर्गं गमिष्यति ।

इति वैश्रवणो राजा रम्भासक्तं पुराऽनघ ॥ १६ ॥

तब तू फिर अपने पूर्ववत् शरीर को ग्रास कर स्वर्ग को जायगा । हे अनघ ! मुझे राजा वरुण जी ने यह शाप इस लिये दिया था कि, रम्भा पर मैं आसक्त हो गया था ॥ १६ ॥

अनुपस्थीयमानो मां संकुद्धो व्याजहार ह ।

तव प्रसादान्मुक्तोऽहमभिशापात्सुदारुणात् ॥ १७ ॥

अतः मैं समय पर वरुण जी के पास उपस्थित न हो सका । इस पर अप्रसन्न हो उन्होंने शाप दिया । अब मैं आपकी कृपा से उस दारुण शाप से छूट गया ॥ १७ ॥

भुवनं स्वं गमिष्यामि स्वस्ति वोऽस्तु परन्तप ।

इतो वसति धर्मात्मा शरभङ्गः प्रतापवान् ॥ १८ ॥

हे परन्तप ! आपका मङ्गल हो, मैं अब अपने लोक को जाऊँगा । इसी बन में प्रतापी एवं धर्मात्मा शरभङ्ग जी का आश्रम है ॥ १८ ॥

^१ प्रकृतिं—स्वरूपं । (गो०)

अध्यध्योजने तात महर्षिः सूर्यसन्निभः ।

तं क्षिप्रमभिगच्छ त्वं स ते श्रेयो विधास्यति ॥ १९ ॥

हे तात ! सूर्य के समान उन महर्षि का आश्रम यहाँ से डेढ योजन की दूरी पर है । उनके समीप आप शीघ्र जायें । वे आपका भला करेंगे ॥ २० ॥

अबटे चापि मां राम प्रक्षिप्य कुशली ब्रज ।

रक्षसां गतसत्त्वानामेष धर्मः सनातनः ॥ २० ॥

हे राम ! आप सुझे गड्ढे में डाल कुशल पूर्वक चले जाइये । मरे हुए राक्षसों को ज़मीन में गढ़ना, यह प्राचीन प्रथा है ॥ २० ॥

अबटे ये निधीयन्ते तेषां लोकाः सनातनाः ।

एवमुक्त्वा तु काकुत्स्थं विराधः शरपीडितः ॥ २१ ॥

क्योंकि जो मरे हुए राक्षस गड्ढा खोद कर गाढ़ दिये जाते हैं, उनको सनातन लोक प्राप्त होते हैं । इस प्रकार विराध राक्षस, जो शरपीडित था, श्रीरामचन्द्र जी से कह ॥ २१ ॥

बभूव स्वर्गसंप्राप्तो न्यस्तदेहो महाबलः ।

तच्छ्रुत्वा राघवो वाक्यं लक्ष्मणं व्यादिदेश ह ॥ २२ ॥

और शरीर को त्याग, स्वर्ग में चला गया । श्रीरामचन्द्र जी ने राक्षस के ये वचन सुन लक्ष्मण जी को आज्ञा दी ॥ २२ ॥

कुञ्जरस्येव रौद्रस्य राक्षसस्यास्य लक्ष्मण ।

वनेऽस्मिन्सुमहच्छ्वभ्रं खन्यतां रौद्रकर्मणः ॥ २३ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम इन वन के बीच, प्रचण्ड हाथी की तरह भीमकर्मा इस राक्षस के शरीर को गाढ़ने के लिये, एक बहुत बड़ा गड्ढा खोदा ॥ २३ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामः प्रदरः खन्यतामिति ।

तस्थौ विराधमाक्रम्य कण्ठे पादेन वीर्यवान् ॥ २४ ॥

लक्ष्मणजी को गड्ढा खोदने की आज्ञा दे, पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी स्वयं भी अपने पैरों से विराध का गला दवा खड़े रहे ॥ २४ ॥

ततः खनित्रमादाय लक्ष्मणः श्वभ्रमुत्तमम् ।

अखनत्पार्श्वतस्तस्य विराधस्य महात्मनः ॥ २५ ॥

तब लक्ष्मण ने खंता ले, विराध के पांस ही एक गड्ढा खोदा ॥ २५ ॥

तं मुक्तकण्ठं निषिष्य शङ्कुकर्ण^१ महास्वनम् ।

विराधं प्राक्षिपच्छुभ्रे नदन्तं भैरवस्वनम् ॥ २६ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने गधे जैसे कान वाले विराध के गले से अपने पैर हटा लिये और उसको उठा कर उस गड्ढे में डाल दिया । उस समय विराध अति धोर शब्द करने लगा ॥ २६ ॥

तमाहवे निर्जितमाशुविक्रमौ

स्थिरावुभौ संयति^२ रामलक्ष्मणौ ।

मुदान्वितौ चिक्षिपतुर्भयावहं

नदन्तमुत्क्षिप्य विले तु राक्षसम् ॥ २७ ॥

१ शङ्कुकर्ण — शङ्कुः कीलंतत्पदशं गर्दभाकारंवा । (गो०) २ संयति — युद्धस्थिरौ । (गो०)

युद्ध में स्थिर चित्त और सत्य पराक्रमी श्रीरामचन्द्र व लक्ष्मण ने प्रसन्न हो विकटाकार उस प्रकारण राक्षस को, युद्ध में पराजित किया और अपने भुजबल से उठा कर, उस शोर करते हुए राक्षस को गड्ढे में डाल कर, ऊपर से वह गड्ढा मिट्टी से पाट दिया ॥ २७ ॥

अवध्यतां प्रेक्ष्य महायुरस्य तौ
शितेन शस्त्रेण तदा नरर्षभौ ।
समर्थ्य चात्यर्थविशारदाव्रभौ
बिले विराधस्य वधं प्रचक्रतुः ॥ २८ ॥

पैने से पैने शख्स से भी उस महाअसुर को मरते न देख, और उसके वध का एक मात्र उपाय गढ़े में गाढ़ना निश्चित कर उन दोनों चतुर भाइयों ने उसे गढ़े में गाढ़ कर उसका वध किया ॥ २८ ॥

स्वयं विराधेन हि मृत्युरात्मनः
प्रसहय रामेण वधार्थमीप्सितः ।
निवेदितः काननचारिणा^१ स्वयं
न मे वधः शस्त्रकृतो भवेदिति ॥ २९ ॥

विराध ने बरजोरी अपनी मौत के लिये श्रीरामचन्द्रजी से इच्छा प्रकट की, क्योंकि उसने स्पष्ट अपने मुख से कहा कि, मैं किसी भी शख्स से नहीं मारा जा सकता ॥ २९ ॥

[नोट—आदिकाव्यकार ने यह इलोक इस लिखे लिखा है कि, जिससे लोग श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर यह दोष न लगावें कि, उन्होंने विराध को

^१ काननचारिणा-विराधेन । (रा०)

जीवित ज़मीन में गाढ़ दिया। इसका समाधान करने ही को इस इलोक में कहा गया है कि, विराध ने अपने आर अपनी मौत बुलाई और वरदान द्वारा अख शब्द से अवध्य होने के कारण, उसका वध करने के लिये श्रीरामचन्द्र को उसे ज़िन्दा ज़मीन में गादना पड़ा।]

तदेव रामेण निशम्य भाषितं

कृता मतिस्तस्य विलप्रवेशने ।

विलं च रामेण बलेन रक्षसा

प्रवेश्यमानेन वनं विनादितम् ॥ ३० ॥

विराध का कहना मान कर ही श्रीरामचन्द्र ने उसको गड्ढे में डाला था। जिस समय वह गड्ढे में पटका गया, उस समय वह ऐसा गरजा कि, उसके चोकार से सारा वन प्रतिष्ठनित हो गया ॥ ३० ॥

प्रहृष्टरूपाविव रामलक्ष्मणौ

विराधमुर्व्या प्रदरे निखाय तम् ।

ननन्दतुर्वीतभयौ महावने

शिलाभिरन्तर्दधतुश्च राक्षसम् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीराम और लक्ष्मण उस विराध राक्षस को पृथिवी में गाढ़ और उस महावन में भय रहित हो अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ ३१ ॥

ततस्तु तौ कार्मुकखञ्जधारिणौ

निहत्य रक्षः परिगृह्य मैथिलीम् ।

विजहतुस्तौ मुदितौ महावने

दिवि स्थितौ चन्द्रदिवाकराविव ॥ ३२ ॥

इति चतुर्थः सर्गः ॥

तदनन्तर धनुष और तलवार धारी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण उस रासन्न का वध कर और जानकी जी को ले उस महावन में प्रसन्न हो उसी प्रकार सुशोभित हुए, जिस प्रकार आकाश में चन्द्र और सूर्य शोभित होते हैं ॥ ३२ ॥

अररथकाण्ड का चौथा सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पञ्चमः सर्गः

—*—

हत्वा तु तं भीमबलं विराधं राक्षसं वने ।

ततः सीतां परिष्वज्य समाश्वास्य च वीर्यवान् ॥ १ ॥

इस प्रकार पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी ने उस भयङ्कर राक्षस का वध कर, और सीता जी को गले लगा उनको बहुत कुछ ढाँड़स बँधाया ॥ १ ॥

[नोट—सीता जी विराध द्वारा पकड़ी जाने से बहुत दुःखी और लजित थीं । अतः श्रीरामचन्द्र जी ने उन्हें बड़े प्यार से समझाया ।]

अब्रवीलक्ष्मणं रामो भ्रातरं दीपतेजसम् ।

कष्टं वनमिदं दुर्गं न च स्म वनगोचराः^१ ॥ २ ॥

और अपने तेजस्वी भाई लक्ष्मण से बैले—यह वन बड़ा दुर्गम और कष्टदायी है । हम लोगों ने ऐसा विकट वन इसके पूर्व कभी नहीं देखा था ॥ २ ॥

^१ वर्यंचेतः पूर्वं कदापि ईदृशं वनं न दृष्टं । (रा०)

अभिगच्छामहे शीघ्रं शरभङ्गं तपोधनम् ।

आश्रमं शरभङ्गस्य राघवोऽभिजगाम ह ॥ ३ ॥

इसलिये आओ शीघ्र शरभङ्ग के आश्रम में चलें । यह कह श्रीरामचन्द्र जी शरभङ्ग जी के आश्रम की ओर चले ॥ ३ ॥

तस्य देवप्रभावस्य तपसा^१ भावितात्मनः ।

समीपे शरभङ्गस्य ददर्श महदद्वुतम् ॥ ४ ॥

वहाँ पहुँच कर, उन देवतुल्य प्रभाव वाले और तपस्या द्वारा ब्रह्म का साक्षात् किये हुए, शरभङ्ग के आश्रम में दूर से एक बड़ा चमकार देखा ॥ ४ ॥

विभ्राजमानं वपुषा सूर्यैश्वानरोपमम् ।

अवरुद्ध रथोत्सङ्गात्सकाशे विवुधानुगम् ॥ ५ ॥

कि सूर्य और अग्नि के समान प्रकाशमान, देवराज इन्द्र अपने शरीर की प्रभा से प्रकाशित हो, देवताओं के साथ श्रेष्ठ रथ पर चढ़े हुए हैं ॥ ५ ॥

असंसृशन्तं वसुधां ददर्श विवुधेश्वरम् ।

सुप्रभाभरणं देवं विरजोऽम्बरधारिणम् ॥ ६ ॥

श्याम रंग के घोड़ों से युक्त उनका रथ पृथिवी का स्पर्श न कर आकाश में चलता था, उनके सब आभूषण चमक रहे थे और पहिनने के बख्त भी उजले थे ॥ ६ ॥

तद्विधैरेव बहुभिः पूज्यमानं महात्मभिः ।

हरिभिर्वाजिभिर्युक्तमन्तरिक्षगतं रथम् ॥ ७ ॥

१ तपसा भवितात्मनः—साक्षात्कृत परब्रह्मणः “तपसा ब्रह्मविज्ञासस्व” इति श्रुतेः । (गो०) २ विरजो—निर्मलं । (गो०) ३ हरिभिः—श्यामैः । (गो०)

ददर्शादूरतस्तस्य तरुणादित्यसन्निभम् ।
 पाण्डुराम्रघनप्रख्यं चन्द्रमण्डलसन्निभम् ॥ ८ ॥

अपश्येद्विमलं छत्रं चित्रमालयोपशोभितम् ।
 चामरव्यजने चाउये स्वमदण्डे महाधने ॥ ९ ॥

गृहीते वरनारीभ्यां ध्रुयमाने च मूर्धनि ।
 गन्धर्वामरसिद्धाश्च बहवः परमर्षयः ॥ १० ॥

अन्तरिक्षगतं देवं वाग्भिरउयाभिरीडिरे ।
 सह सम्भाषपाणे तु शरभङ्गेण वासवे ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने दूर से देखा कि, उनके मस्तक पर तरुण सूर्य (मध्याह्न के सूर्य) के समान अथवा सफेद मेघ के तुल्य अथवा चन्द्रमण्डल के सदृश विमल छत्र, जो चित्र विचित्र मालाओं से सुशोभित था, लगा हुआ है। उनके आगे सोने की डंडी के और मूल्यवान चबर और पंखा लिये हुए दो सुन्दरी लियाँ उन्हें उनके मस्तक पर डुला रही थीं। बहुत से देव गन्धर्व और सिद्ध और देवर्षिश्रेष्ठ शब्दों से युक्त स्तुति-पाठ करते जाते थे। उस समय इन्द्र शरभङ्ग जी से कुछ वार्तालाप कर रहे थे ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

दृष्टा शतकतुं तत्र रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ।
 रामोऽथ रथमुद्दिश्य लक्ष्मणाय प्रदर्शयन् ॥ १२ ॥

वहाँ पर इन्द्र को देख, श्रीरामचन्द्र जी ने, लक्ष्मण का ध्यान उस रथ की ओर आकृष्ट कर, लक्ष्मण से कहा ॥ १२ ॥

अर्चिष्मन्तं^१ श्रिया^२ जुष्टमद्वुतं पश्य लक्ष्मण ।
प्रतपन्तमिवादित्यमन्तरिक्षगतं स्थम् ॥ १३ ॥

हे लक्ष्मण ! परम दीपमान, कान्तियुक्त, तंपते हुए सूर्य की तरह चमकीले इस अद्भुत एवं आकाशचारी रथ को देखो ॥ १३ ॥

ये हयाः पुरुहूतस्य^३ पुरा शक्रस्य नः श्रुताः ।
अन्तरिक्षगता दिव्यास्त इमे हरयो ध्रुवम् ॥ १४ ॥

मैंने पहले अनेक यज्ञ करने वाले इन्द्र के घोड़ों के विषय में सुना था, सो निश्चय ही आकाशचारी श्याम रंग के दिव्य घोड़े वे ही हैं ॥ १४ ॥

इमे च पुरुषव्याघ्रा ये तिष्ठन्त्यभितो रथम् ।
शर्तं शर्तं कुण्डलिनो युवानः खड्गपाणयः ॥ १५ ॥
विस्तीर्णविपुलोरस्काः परिघायतवाहवः ।
शोणांशुवसनाः सर्वे व्याघ्रा इव दुरासदाः ॥ १६ ॥
उरोदेशेषु सर्वेषां हारा ज्वलनसन्निभाः ।

रूपं विभ्रति सौमित्रे पञ्चविंशतिवार्षिकम् ॥ १७ ॥

हे पुरुषसिंह ! इस रथ के चारों ओर जो सैकड़ों युवा पुरुष कानों में कुण्डल पहिने कमर में तलवार बाँधे विशाल वक्षःस्थल और विशाल भुजा वाले, लाल पोशाक पहिने हुए, व्याघ्र के समान दुर्द्वष और गले में अग्नि तुल्य हार पहिने हुए हैं, सब के सब पचोंस वर्ष की उमर के जान पड़ते हैं ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

१ अर्चिष्मन्तं - सतेजस्कं । (गो०) २ श्रिया -- कान्त्या । (गो०) ३ पुरुहूतस्ययज्वभिर्बहुशो । (गो०)

एतद्दि किल देवानां वयो भवति नित्यदा ।

यथेमे पुरुषव्याघ्रा दृश्यन्ते प्रियदर्शनाः ॥ १८ ॥

हे पुरुषसिंह ! देवताओं की उम्र और सौन्दर्य निश्चय ही सदा ऐसा ही बना रहता है, जैसे कि ये अब देख पड़ते हैं ॥ १८ ॥

इहैव सह वैदेह्या मुहूर्तं तिष्ठु लक्षण ।

यावज्जानाम्यहं व्यक्तं कं एष द्युतिमानरथे ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! जब तक मैं जाकर यह जान लूँ कि, यह बैठा हुआ द्युतिमान पुरुष कौन है, तब तक तुम मुहूर्तं भर सीता जी के साथ यहाँ खड़े रहो ॥ १९ ॥

तमेवमुक्त्वा सौमित्रिमिहैव स्थीयतामिति ।

अभिचक्राम काकुत्स्थः शरभङ्गाश्रमं प्रति ॥ २० ॥

लक्ष्मण जी से यह कह कि, तुम यहाँ खड़े रहो, श्रीरामचन्द्र जी शरभङ्ग जी के आश्रम की ओर बढ़े ॥ २० ॥

ततः समभिगच्छन्तं प्रेक्ष्य रामं शचीपतिः ।

शरभङ्गमनुप्राप्य विविक्त इदमब्रवीत् ॥ २१ ॥

शचीपति इन्द्र ने श्रीराम को आते देख, शरभङ्ग से विदा माँगी और देवताओं से गुप्त रीति से यह बोले ॥ २१ ॥

इहोपयात्यसौ रामो यावन्मां नाभिभाषते ।

निष्ठां नयतु तावन्तु ततो मां द्रष्टुमर्हति ॥ २२ ॥

देखो श्रीरामचन्द्र इधर ही चले आ रहे हैं । सो उनको मुझसे बातचीत करने का अवसर न दे कर, उनके यहाँ पहुँचने के पूर्व ही, यहाँ से हमें अन्यत्र ले चलो, जिससे वे हमें देख भी न पावें ॥ २२ ॥

जितवन्तं कृतार्थं च द्रष्टाऽहमचिरादिमम् ।

कर्म हयनेन कर्तव्यं महदन्यैः सुदुष्करम् ॥ २३ ॥

निष्पादयित्वा तत्कर्म ततो मां द्रष्टुमर्हति ।

इति वज्री तमामन्य मानयित्वा च तापसम् ॥ २४ ॥

रथेन हरियुक्तेन ययौ दिवमरिन्दमः ।

प्रयाते तु सहस्राक्षे राघवः सपरिच्छदम् ॥ २५ ॥

अभी इनको ऐसा बड़ा दुष्कर कार्य करना है, जो दूसरों से हो ही नहीं सकता । जब यह थोड़े दिनों बाद राज्ञसों को जीत कर कृतकार्य होंगे, तब मैं इनके दर्शन करूँगा । उस कार्य को कर चुकने पर ही यह मुझे देख सकेंगे । तदनन्तर इन्द्र महर्षि शरभङ्ग से विदा माँग और उनका विशेष सन्मान कर, थोड़े जुते हुए रथ में बैठ स्वर्ग को चले गये । इन्द्र के जाने के बाद, श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण सहित ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

अग्निहोत्रमुपासीनं शरभङ्गमुपागतम् ।

तस्य पादौ च संगृहय रामः सीता च लक्ष्मणः ॥ २६ ॥

अग्निहोत्र में बैठे हुए शरभङ्ग जी के पास गये और श्रीरामचन्द्र, सीता तथा लक्ष्मण ने उनके चरण छुए ॥ २६ ॥

निषेदुः समनुज्ञाता लब्धवासा निमन्त्रिताः ।

ततः शक्रोपयानं तु पर्यपृच्छत्स राघवः ॥ २७ ॥

शरभङ्ग ने उनके टिकने के लिये स्थान बतलाया और भोजन के लिये निमंत्रण दिया । तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ इन्द्र के आने का कारण पूछा ॥ २७ ॥

शरभङ्गश्च तत्सर्वं राघवाय न्यघेदयत् ।

मामेष वरदो राम ब्रह्मलोकं निनीषति ॥ २८ ॥

शरभङ्ग ने सब वृत्तान्त कह सुनाया । (शरभङ्ग ने कहा) हे राम ! यह वरदाता इन्द्र मुझे ब्रह्मलोक में ले जाने के लिये आये थे ॥ २८ ॥

जितमुग्रेण तपसा दुष्प्रापमकृतात्मभिः^१ ।

अहं ज्ञात्वा नरव्याघ वर्तमानमदूरतः ॥ २९ ॥

मैंने तप द्वारा वह लोक प्राप्त करने का अधिकार सम्पादन कर लिया, जिसे भगवद्-उपासना किये विना पाना कठिन है । हे पुरुष-सिंह ! यह विचार कर कि, आप समीप आ पहुँचे हैं ॥ २९ ॥

ब्रह्मलोकं न गच्छामि त्वामद्वाहा प्रियातिथिम् ।

त्वयाऽहं पुरुषव्याघ धार्मिकेण महात्मना ॥ ३० ॥

समागम्य गमिष्यामि त्रिदिवं देवसेवितम् ।

अक्षया नरशार्दूल मया लोका जिताः शुभाः ॥ ३१ ॥

अतः आप सरोखे प्रिय अतिथि के दर्शन किये विना, मुझे ब्रह्मलोक में जाना अभीष्ट नहीं । हे पुरुषसिंह ! अब आप जैसे धर्मनिष्ठ और महात्मा से मिल भेट कर मैं स्वर्ग या ब्रह्मलोक को चला जाऊँगा । हे नरशार्दूल ! मैंने तपःप्रभाव से जिन अक्षय और रम्य लोकों का अधिकार प्राप्त कर रखा है ॥ ३० ॥ ३१ ॥

ब्राह्म्याश्च नाकपृष्ठच्याश्च प्रतिगृह्णीष्व मामकान् ।

एवमुक्तो नरव्याघः सर्वशास्त्रविशारदः ॥ ३२ ॥

^१ अकृतात्मभिः — अनुनुष्टिभगवदुपासनैः । (रा०)

ऋषिणा शरभङ्गेण राघवो वाक्यमब्रवीत् ।
अहमेवाहरिष्यामि सर्वलोकान्महामुने ॥ ३३ ॥

सो उन ब्रह्मलोक, और स्वर्ग की प्राप्ति के साधन रूप तपःफल को, मैं आपको समर्पित करता हूँ। आप ग्रहण करें। महर्षि शरभङ्ग जी के ऐसा कहने पर सब शास्त्रों के जानने वाले पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र जी शरभङ्ग ऋषि से बोले—हे महामुने ! मैं स्वयं ही उन सब लोकों को प्राप्ति करूँगा ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ।
राघवेणैवमुक्तस्तु शक्रतुल्यवलेन वै ॥ ३४ ॥

मैं इस वन में रहना चाहता हूँ। आप मुझे रहने के लिये स्थान बतलाइये। इन्द्र के समान बलवान् श्रीरामचन्द्र जी ने जब इस प्रकार कहा ॥ ३४ ॥

शरभङ्गो महाप्राज्ञः पुनरेवाब्रवीद्वचः ।
इह राम महातेजाः सुतीक्ष्णो नाम धार्मिकः ॥ ३५ ॥
वसत्यरण्ये धर्मात्मा स ते श्रेयो विधास्यति ।
सुतीक्ष्णमभिगच्छ त्वं शुचौ देशे तपस्विनम् ॥ ३६ ॥

तब महाप्राज्ञ शरभङ्ग जी फिर बोले। हे राम ! इस वन में महातेजस्वी और धर्मात्मा सुतीक्ष्ण नामक एक ऋषि रहते हैं। वे धर्मात्मा ही आपका कल्याण करेंगे। आप उनके पवित्र आश्रम में जाइये ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

रमणीये वनोद्देशे स ते वासं विधास्यति ।
इमां मन्दाकिनीं राम प्रतिस्तोतामनुव्रज ॥ ३७ ॥

वे आपको रहने के लिये कोई रम्य स्थान इस वनप्रान्त में बतला देंगे। उनके आश्रम में पहुँचने के लिये हे राम! आप इस मन्दाकिनी के बहाव को धर उसके किनारे किनारे चले जाय ॥ ३७ ॥

नदीं पुष्पोद्गुपवहां तत्र तत्र गमिष्यसि ।

एष पन्था नरव्याघ्र मुहूर्तं पश्य तात माम् ॥ ३८ ॥

हे तात ! देखो, इस नदी में अनेक बड़े बड़े फूल छोटो छोटी नावों की तरह बहते देख पड़ते हैं। इनको देखते हुए आप चलें जाय। मैंने आपको रास्ता बता दिया, किन्तु दो घड़ी मेरी ओर आप देखते रहें या दर्शन दें ॥ ३८ ॥

यावज्जहामि गात्राणि जीर्णा त्वचमिवोरगः ।

ततोऽग्निं सुसमाधाय हुत्वा चाज्येन मन्त्रवित् ॥ ३९ ॥

शरथङ्गो महातेजाः प्रविवेश हुताशनम् ।

तस्य रोपाणि केशांश्च ददाहाग्निर्महात्मनः ॥ ४० ॥

जीर्णा त्वचं तथास्थीनि यज्ञ मांसं सशोणितम् ।

रामस्तु विस्मितो भ्रात्रा भार्यया च सहात्मवान् ॥ ४१ ॥

हे तात ! सर्प जिस, प्रकार पुरानी कैचली छोड़ता है, उसी प्रकार मैं भी इस समय यह पुरानी देह छोड़ना चाहता हूँ। ऐसा कह मंत्रवेत्ता शरभङ्ग मुनि अग्नि को स्थापन कर और उसमें धी की आहुति दे, अग्नि में कूद पड़े। उस समय अग्नि ने उन महात्मा के रोम, केश, जीर्णत्वचा, हड्डियाँ, और रुधिर सहित मांस को भस्म कर डाला। भाई लक्ष्मण और भार्या सीता सहित श्रीरामचन्द्र को यह देख विस्मय हुआ कि, ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥

स च पावकसङ्काशः कुमारः समपद्यत ।

उत्थायाग्निचयात्स्माच्छरभङ्गे व्यरोचत ॥ ४२ ॥

उस अग्नि में से शरभङ्ग जी अग्नि तुल्य कान्तिमान् एक कुमार का रूप धारण कर निकले और शोभायमान हुए ॥ ४२ ॥

स लोकानाहिताग्नीनामृषीणां च महात्मनाम् ।

देवानां च व्यतिक्रम्य ब्रह्मलोकं व्यरोहत ॥ ४३ ॥

तदनन्तर शरभङ्ग जी अग्निहोत्रियों, ऋषियों, महात्माओं और देवताओं के लोकों को छोड़ते हुए, ब्रह्मलोक में जा पहुँचे ॥ ४३ ॥

स पुण्यकर्मा भवने द्विजर्षभः

पितामहं सानुचरं दर्दर्श ह ।

पितामहश्चापि समीक्ष्य तं द्विजं

ननन्द सुस्वागतमित्युवाच ह ॥ ४४ ॥

इति पञ्चमः सर्गः ॥

पुण्यात्मा, ब्राह्मणश्रेष्ठ शरभङ्ग जी ने ब्रह्मलोक में जा, अनुचरों से घिरे हुए पितामह ब्रह्मा जी के दर्शन किये । ब्रह्मा जी भी शरभङ्ग को देख आनन्दित हुए और उनसे स्वागतवचन बोले ॥ ४४ ॥

अरण्यकारड का पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

षष्ठः सर्गः

—*—

शरंभङ्गे दिवं याते मुनिसङ्घाः समागताः ।

अभ्यगच्छन्त काकुत्स्थं रामं ज्वलिततेजसम् ॥ १ ॥

शरभङ्ग जी जब ब्रह्मलोक को चले गये, तब दण्डकवन में रहने वाले मुनिगण एकत्र हो तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी के पास आये ॥ १ ॥

[नोट — इन मुनियों का विवरण आगे के चार श्लोकों में दिया है। जो मुनि उस समय श्रीरामचन्द्र जी के पास आये, वे कैसे कैसे साधक थे यह बात इस विवरण के देखने से अवगत होती है ।]

वैखानसा वालखिल्याः सम्प्रक्षाला परीचिपाः ।

अश्मकुट्टाश्च बहवः पत्राहाराश्च धार्मिकाः ॥ २ ॥

दन्तोलूखलिनश्चैव तथैवोन्मज्जकाः परे ।

गात्रशय्या अशय्याश्च तथैवाभ्रावकाशकाः ॥ ३ ॥

मुनयः सलिलाहारा वायुभक्षास्तथापरे ।

आकाशनिलयाश्चैव तथा स्थण्डिलशायिनः ॥ ४ ॥

ब्रतोपवासिनो दान्तास्तथार्द्धपंटवाससः ।

सजपाश्च तपोनित्यास्तथा पञ्चतपोन्विताः ॥ ५ ॥

आये हुए मुनियों में वैखानस (ब्रह्म के नख से उत्पन्न) वालखिल्य (ब्रह्म के रोम से उत्पन्न), सम्प्रक्षाल (ब्रह्म के पैर के धोवन के

^१ अभ्रवकाशकाः — वर्षवातातपादिष्वप्यनावृतदेश एव वर्तमानाः । (गो०)

जल से उत्पन्न), मरीचिष (सूर्य व चन्द्र की किरणों को पी कर रहने वाले), अश्मकूट (कच्चे अन्न को पथर से कूट कर खाने वाले), पत्राहार (वृद्धों के पत्तों को खाने वाले), दन्तोल्लुखली (कच्चे अन्न को दांतों से कुचल कर खाने वाले), उन्मज्जका (करण भरं जल में खड़े हो तपस्या करने वाले), गात्रशश्या (विक्रौना विक्राये विना ही ज़मीन पर सोने वाले), अशश्य (जो कभी सोते ही न थे), अभ्रावकाशक (वर्षा गर्मी जाड़े की झूतुओं में खुले मैदान में रहने वाले), सलिलाहारी (पानी पी कर रहने वाले), वायुभन्नी (केवल हवा पी कर रहने वाले), आकाशनिलय (जो विना छाये स्थानों में रहते थे), स्थगडलशायी (लोपी हुई पवित्र भूमि पर सोने वाले), ब्रतोपवासी, इन्द्रियों को जीतने वाले, गीले वस्त्र सदा धारण करने वाले, सदा जप करने वाले, सदा तप करने वाले तथा पञ्चाणि तापने वाले ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

सर्वे ब्राह्मणाः श्रिया जुष्टा दृढयोगाः समाहिताः ।

शरभङ्गाश्रमे राममभिजग्मुश्च तापसाः ॥ ६ ॥

ये सब के सब ऋषि मुनि ब्रह्मवर्चस से युक्त थे, और योगाभ्यास में दृढ़ और सावधान रहने वाले थे । ये सब तंपसी शरभङ्ग के आश्रम में श्रीरामचन्द्र जी के पास आये ॥ ६ ॥

अभिगम्य च धर्मज्ञा रामं धर्मभृतां वरम् ।

ऊचुः परमधर्मज्ञमृषिसंज्ञाः समाहिताः ॥ ७ ॥

इस प्रकार कि परम धर्मात्मा ऋषि मुनि सब वहाँ जा कर धार्मिकश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी से सावधानता पूर्वक बोले ॥ ७ ॥

त्वमिक्ष्वाकुकुलस्यास्य पृथिव्याश्च महारथ ।

प्रधानश्चासि नाथश्च देवानां मघवानिव ॥ ८ ॥

^१ ब्राह्मणश्रिया—ब्रह्मविद्यानुष्ठानजनित ब्रह्मवर्चसेन । (गो०)

. हे राम ! आप इद्वाकु-वंश में प्रधान, पृथिवीनाथ, और महारथी हैं। यही नहीं किन्तु जिस प्रकार देवताओं के राजा इन्द्र हैं, उसी प्रकार आप भी मुख्य लोगों के नाथ हैं। अर्थात् आप राजाओं के राजा अर्थात् स्वामी होने के कारण महाराज हैं ॥ ८ ॥

विश्रुतस्त्रिषु लोकेषु यशसा विक्रमेण च ।

पितृभक्तिश्च सत्यं च त्वयि धर्मश्च पुष्कलः ॥ ९ ॥

आपका यश और पराक्रम तीनों लोकों में (भू भुवः स्वः लोकों में) प्रसिद्ध है। आप पूर्ण पितृभक्त, सत्यवादी और साङ्घोपाङ्ग धर्म का पालन करने वाले हैं ॥ ९ ॥

त्वामासाद्य महात्मानं धर्मज्ञं धर्मवत्सलम् ।

अर्थित्वान्नाथ वक्ष्यामस्तच्च नः क्षन्तुमर्हसि ॥ १० ॥

आप जैसे महात्मा, धर्मज्ञ और धर्मवत्सल को पा कर, हम लोग याचक बन कर, जो कुछ आपसे कहना चाहते हैं, उसके लिये आप हमें त्तमा करें ॥ १० ॥

अधर्मस्तु महांस्तात भवेत्स्य महीपतेः ।

यो हरेद्वलिष्टद्भागं न च रक्षति पुत्रवत् ॥ ११ ॥

हे तात ! वह राजा बड़ा अधर्मी है, जो प्रजा से पैदवारी का क्षणवाँ हिस्सा राजकर में उगाह कर भी, प्रजा का पुत्रवत् पालन नहीं करता ॥ ११ ॥

युज्ञानः स्वानिव प्राणान्प्राणौरिष्टान्सुतानिव ।

नित्ययुक्तः^१ सदा रक्षन्सर्वान्विषयवासिनः ॥ १२ ॥

^१ नित्ययुक्तः—सदासावधानः । (१०)

और जो राजा सदा यत्नवान् और सावधान रह कर, अपने राज्य की प्रजा की अपने प्राणों के समान रक्षा करता है ॥ १२ ॥

प्राप्नोति शाश्वर्तीं राम कीर्तिं स बहुवर्षिकीम् ।

ब्रह्मणः स्थानमासाच्य तत्र चापि महीयते ॥ १३ ॥

वह राजा, इस लोक में बहुवर्षच्यापिनी स्थायी कीर्ति प्राप्त कर, अन्त में ब्रह्मलोक में जा, विशेष सन्मान का पात्र होता है ॥ १३ ॥

यत्करोति परं धर्मं मुनिर्मूलफलाशनः ।

तत्र राङ्गश्चतुर्भागः प्रजा धर्मेण रक्षतः ॥ १४ ॥

धर्मपूर्वक प्रजा की रक्षा करने वाले राजा को, कन्दमूल फल खा कर, तप द्वारा ऋषि 'जो पुण्यफल सञ्चय करते हैं, उसका चौथा भाग मिलता है ॥ १४ ॥

सोऽयं ब्राह्मणभूयिष्ठो वानुप्रस्थगणो महान् ।

त्वन्नाथोऽनाथवद्राम राक्षसैर्वर्द्ध्यते भृशम् ॥ १५ ॥

हे रामचन्द्र ! यह वानप्रस्थ लोग, जिनमें ब्राह्मण अधिक हैं, तुम जैसे रक्षक के रहते भी अनाथ की तरह राक्षसों द्वारा मारे जाते हैं ॥ १५ ॥

एहि पश्य शरीराणि मुनीनां भावितात्मनाम् ।

हतानां राक्षसैर्वर्द्धूनां बहुधा^१ वने ॥ १६ ॥

हे राम ! आप इधर आइये और उन बहुत से आत्मदर्शी मुनियों के मृत शरोरों को देखिये । जिनको घोर राक्षसों ने भालों की नोकों से क्षेदकर, तलवारों से काट कर मार डाला हैं ॥ १६ ॥

^१ बहुधा—छेदनभेदनभक्षणादिभिः । (गो०)

पम्पानदीनिवासानामनुमन्दाकिनीमपि ।

चित्रकूटालयानां च क्रियते कदनं^१ महत् ॥ १७ ॥

पम्पानदी के तटवर्ती तथा मन्दाकिनी के तट पर रहने वाले और चित्रकूटवासी ऋषि ही बहुत मारं जाते हैं ॥ १७ ॥

एवं वयं न मृष्यामो^२ विप्रकारं^३ तपस्विनाम् ।

क्रियमाणं वने घोरं रक्षोभिर्भीमकर्मणिः ॥ १८ ॥

हमसे, इन तपस्वियों के ये कष्ट, जो उन्हें इस वन में, भयङ्कर राज्ञसों द्वारा मिला करते हैं, सहन नहीं होते। अथवा इस वन में भयङ्कर राज्ञस तपस्वियों को जो दुःख दिया करते हैं, वे हमसे सहे नहीं जाते ॥ १८ ॥

ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः ।

परिपालय नो राम वध्यमानान्निशाचरैः ॥ १९ ॥

हे राम ! आप शरणागतवत्सल हैं, अतः हम सब आपके शरण आये हैं। आप हमको इन राज्ञसों से जो हम लोगों को मारा करते हैं, बचाइये ॥ १९ ॥

परा त्वतो गतिर्वारं पृथिव्यां नोपपद्यते ।

परिपालय नः सर्वान्नाक्षसेभ्यो नृपात्मज २० ॥

हे वीर ! इस पृथिवी पर आपको छोड़, दूसरा कोई हमारी रक्षा करने वाला, हमें नहीं देख पड़ता । अतः हे राजकुमार ! आप हमारो इन राज्ञसों से रक्षा करें ॥ २० ॥

^१ कदन - हिंसा । (गो०) ^२ नमृष्यामः - सोऽुमशक्ताः । (रा०)

^३ विप्रकारं - दुखं । (रा०)

एतच्छ्रुत्वा तु काकुत्स्थस्तापसानां^१ तपस्विनाम्^२ ।
इदं प्रोवाच धर्मात्मा सर्वानेव तपस्विनः ॥ २१ ॥

इस प्रकार उन महातपा तपस्वियों के वचन सुन, धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रजी ने उन सब तपस्वियों से उत्तर में यह कहा ॥ २१ ॥

नैवर्महथ मां वक्तुमाङ्गप्तोऽहं तपस्विनाम् ।

केवलेनात्मकार्येण प्रवेष्टव्यं मया वनम् ॥ २२ ॥

आप लोगों का मुझसे प्रार्थना करना ठीक नहीं। क्योंकि मैं तो तपस्वियों का आङ्गाकारी हूँ। मुझको केवल अपने कार्य के लिये इस वन में आया हुआ जानिये, अथवा आप मुझे अपना कार्य कराने को; जिस वन में चाहिये भेज दीजिये ॥ २२ ॥

विप्रकारमपाकष्टुं राक्षसैर्भवतामिमम् ।

पितुस्तु निर्देशकरः प्रविष्टोऽहमिदं वनम् ॥ २३ ॥

मैं तो आप लोगों के कष्ट को, जो आप लोगों को राक्षसों से मिलता है, दूर करने, तथा पिता की आङ्गा का पालन करने ही को इस वन में आया हूँ ॥ २३ ॥

[नोट—“प्रविष्टोऽहमिदं वनम्” का तात्पर्य यही है कि, यदि मुझे केवल पिता की आङ्गनुसार वनवास ही करना होता तो मैं यहाँ न आ कर दूसरे किसी वन में जा सकता था; किन्तु मुझे तो पिता को आङ्गा का पालन और आपके कष्टों को दूर करना था। इसी लिये मैं इस वन में आया हूँ।]

भवतामर्थसिद्ध्यर्थमागतोऽहं यदच्छ्यया ।

तस्य मेऽयं वने वासो भविष्यति महाफलः ॥ २४ ॥

१ तापसानां—मुनीनां । (गो०) २ तपस्विनां—प्रशस्ततपसां । (गो०)

आप लोगों के काम के लिये ही मैं इच्छापूर्वक यहाँ आया हूँ।
अतः मेरा इस बन में रहना बड़ा लाभदायक होगा ॥ २४ ॥

तपस्त्विनां रणे शत्रुन्हन्तुमिन्द्धामि राक्षसान् ।

पश्यन्तु वीर्यमृषयः सभ्रातुर्मे तपोधनाः ॥ २५ ॥

मैं तपस्त्वियों के शत्रु राक्षसों का युद्धक्षेत्र में वध करना चाहता हूँ। तपोधन ऋषिगण मेरे और मेरे भाई के पराक्रम को देखें ॥ २५ ॥

दत्त्वाऽभयं चापि तपोधनानां

धर्मे धृतात्मा सह लक्ष्मणेन ।

तपोधनैश्चापि सभाज्यवृत्तः

सुतीक्ष्णमेवाभिजगाम वीरः ॥ २६ ॥

इति षष्ठः सर्गः ॥

धर्मधुरन्धर वीर श्रीरामचन्द्र तपस्त्वियों को अभय कर, और उनसे पूजित हुए। तदनन्तर लक्ष्मण, सीता, तथा उन ऋषियों को अपने साथ ले, वे सुतीक्ष्ण जी के आश्रम की ओर चले ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का छठवाँ सर्ग पूरा हुआ।

—*—

सप्तमः सर्गः

—*—

रामस्तु सहितो भ्रात्रा सीतया च परन्तपः ।

सुतीक्ष्णस्याश्रमपदं जगाम सह तैर्द्विजैः ॥ १ ॥

परन्तप श्रीरामचन्द्र जी, उन मुनियों को अपने साथ लिये हुए,
सीता और लक्ष्मण सहित सुतीक्ष्ण के आश्रम की ओर गये ॥ १ ॥

स गत्वाऽदूरमध्वानं नदीस्तीर्त्वा बहूदकाः ।
ददर्श विपुलं शैलं^१ महामेघमिर्बोन्नतम् ॥ २ ॥

शरभङ्ग ऋषि के आश्रम से बहुत दूर आगे जा, और मार्ग में
अनेक गहरी नदियों को पार कर, बड़े चौड़े और एक बड़े बादल
की तरह श्यामरंग के, पार्वत्यवन प्रदेश में, वे जा पहुँचे ॥ २ ॥

ततस्तदिक्ष्वाकुवरां सन्ततं विविधैर्द्रुमैः ।
काननं तौ विविशतुः सीतया सह राघवौ ॥ ३ ॥

तदनन्तर इक्ष्वाकुवंश सम्भूत श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण, सीता
जी सहित, उस वन में पहुँचे, जिसमें अनेक प्रकार के वृक्ष लगे
हुए थे ॥ ३ ॥

प्रविष्टस्तु वनं घोरं बहुपुष्पफलद्रुमम् ।
ददर्शश्रीमेकान्ते चीरमालापरिष्कृतम्^२ ॥ ४ ॥

उस वन में पहुँच कर, श्रीरामचन्द्र जी ने, अनेक फलफूल वाले
वृक्षों के बीच बना हुआ, एकान्त स्थल में एक आश्रम देखा, जो
चारों ओर पुष्पमालाओं से भूषित था ॥ ४ ॥

तत्र तापसमासीनं मलपङ्कजटाधरम् ।
रामः सुतीक्ष्णं विधिवैत्तपोवृद्धमभाषत ॥ ५ ॥

१ शैल — शैल मम्बन्धिवनं । (गो०) २ महामेघमिवेति — श्यामकाया-
मुपमा । (गो०) ३ परिष्कृतं — अलंकृतं । (गो०) ४ विधिवत् — क्रमवत् । (गो०)

वहाँ पर धूलधूसरित शरीर और जटाधारी अथवा धूल-
धूसरित जटाधारी और तपस्या में लीन, तपोबृद्ध सुतीक्ष्ण को
देख, श्रीरामचन्द्र जी उनसे क्रमशः यह बोले ॥ ५ ॥

रामोऽहमस्मि भगवन्भवन्तं द्रष्टुमागतः ।

त्वं माऽभिवद् धर्मज्ञ महर्षे सत्यविक्रमः ॥ ६ ॥

हे भगवन् ! मेरा नाम श्रीरामचन्द्र है । मैं यहाँ आपके दर्शन करने
आया हूँ । अतएव हे धर्मज्ञ ! हे अमोघ-तपः-प्रभाव-शालिन महर्षे !
आप मुझसे बोलिये ॥ ६ ॥

स निरीक्ष्य ततो वीरं रामं धर्मभृतां वरम् ।

समाश्लिष्य च वाहुभ्यामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

तब सुतीक्ष्ण जो ने धार्मिकश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी की ओर देखा
और दोनों भुजाओं से श्रीरामचन्द्र जी को अपने हृदय से लगा
लिया । तत्पश्चात् उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी से यह कहा ॥ ७ ॥

स्वागतं खलु ते वीर राम धर्मभृतां वर ।

आश्रमोऽयं त्वयाऽऽक्रान्तः सनाथ इव साम्प्रतम् ॥ ८ ॥

हे धार्मिकश्रेष्ठ ! हे वीर श्रीराम ! आप भले आये । आपके यहाँ
पधारने से यह आश्रम इस समय सनाथ की तरह दिखलाई पड़ता
है ॥ ८ ॥

प्रतीक्षमाणस्त्वामेव नारोहेऽहं महायशः ।

देवलोकमितो वीर देहं त्यक्त्वा महीतले ॥ ९ ॥

हे महायशस्त्रिन् ! मैं आपही के दर्शन की प्रतीक्षा में, इतने
दिनों तक इस लोक में रहा और इस शरीर को त्याग देवलोक

को नहीं गया। अथवा आपही के दर्शन की अभिलाषा से मैं इस संसार में अभी तक हूँ और परलोक जाने के लिये मैंने शरीर नहीं त्यागा ॥ ६ ॥

चित्रकूटमुपादाय राज्यभ्रष्टेऽसि मे श्रुतः ।

इहोपयातः काकुत्स्थ देवराजः शतक्रतुः ॥ १० ॥

मैंने यह सुना था कि; आप राज्य त्याग कर चित्रकूट में वास करते हैं। हे काकुत्स्थ ! यहाँ देवराज इन्द्र आये थे ॥ १० ॥

[क्यों आये थे सो बतलाते हैं कि,]

उपागम्य च मां देवो महादेवः सुरेश्वरः ।

सर्वाल्लोकाञ्जितानाह मम पुण्येन कर्मणा ॥ ११ ॥

महादेव सुरेश्वर इन्द्र ने आ कर मुझसे कहा कि, तुम अपने पुण्यफल के प्रभाव से समस्त लोकों को जीत चुके, (अर्थात् समस्त लोकों में जाने के अधिकारी हो चुके) ॥ ११ ॥

तेषु देवर्षिजुष्टेषु जितेषु तपसा मया ।

मत्प्रसादात्सभार्यस्त्वं विहरस्य सलक्ष्मणः ॥ १२ ॥

सो हे राम ! मेरे तपोबल से जीते हुए उन लोकों में, जहाँ देवर्षियों का वास है, मेरे अनुग्रह से आप सीता और लक्ष्मण सहित, विहार कीजिये ॥ १२ ॥

[नोट—सुतीक्ष्णजी, अपने तप का फल, जैसा कि अनन्य भगवद्भक्त किया करते हैं, भगवान् को समर्पण करते हैं ।]

तमुग्रतपसा युक्तं महर्षिं सत्यवादिनम् ॥

प्रत्युवाचात्मवानरामो ब्रह्माणमिव काश्यपः ॥ १३ ॥

यह सुन आत्मवान् श्रीरामचन्द्र जी, सत्यवादी और उग्र तपस्या करने वाले महर्षि सुतीदण्ड से उसी प्रकार बोले, जिस प्रकार इन्द्र ब्रह्मा जी से बोलते हैं ॥ १३ ॥

अहमेवाहरिष्यामि स्वयं लोकान्महामुने ।

आवासं त्वहमिच्छामि प्रदिष्टमिह कानने ॥ १४ ॥

हे महामुने ! मैं स्वयं ही इन लोकों का सम्पादन कर लूँगा । मैं इस वन में रहना चाहता हूँ, सो आप मुझे कोई स्थान बतला दें ॥ १४ ॥

भवान्सर्वत्र कुशलः सर्वभूतहिते रतः ।

आख्यातः शरभङ्गेण गौतमेन महात्मना ॥ १५ ॥

क्योंकि गौतम कुलोद्धव महात्मा शरभङ्ग ने मुझसे यह कहा है कि, आप इस वन के सब स्थानों के जानकार और परोपकारी हैं ॥ १५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण महर्षिर्लोकविश्रुतः ।

अब्रवीन्मधुरं वाक्यं हर्षेण महताऽप्स्तुतः ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन। सुन लोकविश्रुत महर्षि सुतीदण्ड अत्यन्त प्रसन्न हो, यह मधुर वचन बोले ॥ १६ ॥

अयमेवाश्रमो राम गुणवानरम्यतामिह ।

ऋषिसङ्घानुचरितः सदा मूलफलान्वितः ॥ १७ ॥

हे राम ! आप इसी आश्रम में रहिये । क्योंकि इस आश्रम में सब प्रकार की सुविधाएँ हैं । यहाँ ऋषि लोग रहते हैं, और फल और कन्दमूल फल भी सदा मिला करते हैं ॥ १७ ॥

इममाश्रममागम्य मृगसङ्घा महायशः ।

अटित्वा प्रतिगच्छन्ति लोभयित्वा^१ कुतोभयाः ॥ १८ ॥

किन्तु इस आश्रम में बन्यपशुओं के झुरड के झुरड आया करते हैं और धूमधाम कर तथा अपने शरीर की सुन्दरता से आश्रमवासियों का मन लुभा कर लौट जाते हैं और किसी से नहीं डरते ॥ १८ ॥

नान्यो दोषो भवेदत्र मृगेभ्योऽन्यत्र विद्धि वै ।

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य महर्षेर्लक्ष्मणाग्रजः ॥ १९ ॥

उवाच वचनं धीरो विकृष्य सशरं धनुः ।

तानहं सुमहाभाग मृगसङ्घान्समागतान् ॥ २० ॥

हन्यां निशितधारेण शरेणाशनिवर्चसा ॥

भवांस्तत्राभिषज्येत किं स्यात्कुच्छ्रुतरं ततः ॥ २१ ॥

अतः आप जान लें कि, यहाँ पर जंगली जानवरों के उपद्रव को छोड़ और किसी बात का खटका नहीं है । महर्षि के ऐसे वचन सुन, धीर श्रीरामचन्द्र जी ने तीर कमान हाथ में ले, यह वचन कहे— हे महाभाग ! मैं यहाँ आने वाले बन्यपशुओं को पैने धारवाले बाणों से मारूँगा । परन्तु इससे आपका मन दुःखी होगा, और आपका मन दुःखी होने से मुझे बड़ा कष्ट होगा ॥ १६ ॥ २० ॥ २१ ॥

एतस्मिन्नाश्रमे वासं चिरं तु न समर्थये ।

तमेवमुक्त्वा वरदं रामः सन्ध्यामुपागमत् ॥ २२ ॥

अतः मैं इस आश्रम में बहुत दिनों तक रहना उचित नहीं समझता । यह कह श्रीरामचन्द्र जी सन्ध्या करने चले गये ॥ २२ ॥

^१ लोभयित्वा—समाधिभङ्गं जनयित्वा विचित्रतरवेषैरितिशेषः । (गो०)

अन्वास्य पश्चिमां सन्ध्यां तत्र वासमकल्पयत् ।

सुतीक्ष्णस्याश्रमे रम्ये सीतया लक्ष्मणेन च ॥ २३ ॥

तदनन्तर सायंसन्ध्योपासन कर, श्रीरामचन्द्र जी सुतीक्ष्ण के रमणीक आश्रम में सीता लक्ष्मण सहित बसे ॥ २३ ॥

ततः शुभं^१ तापसभोज्यरमन्नं
स्वयं सुतीक्ष्णः पुरुषर्षभाभ्याम् ।

ताभ्यां सुसत्कृत्य^२ ददौ महात्मा
सन्ध्यानिवृत्तौ रजनीमवेक्ष्य^३ ॥ २४ ॥

इति सप्तमः सर्गः ॥

जब श्रीरामचन्द्र सायंसन्ध्योपासन कर चुके तब महात्मा सुतीक्ष्ण जी ने दोनों राजकुमारों का अर्ध्यपाद्यादि से अच्छी तरह पूजन कर उनको रात में खाने योग्य पवित्र फल मूल तथा अन्नादि स्वयं ला कर दिये ॥ २४ ॥

[नोट—भूषणटीकाकार का मत है कि, सीता जी ने (“रामभुक्त शेष”) राम जी की पतल में बचा हुआ अन्न खाया था । अतः इस श्लोक में सीता जी का नाम नहीं है ।]

अरण्यकाण्ड का सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

१ शुभं—भत्तयुपनीतत्वेन पावनं । (गो०) २ तापसभोज्यं—फलमूलादि । (गो०) ३ सुसत्कृत्य—अर्ध्यपाद्यादिना सम्पूज्य । (गो०) ४ रजनीमवेक्ष्य—रजनीभक्ष्यानुसारं । (गो०)

अष्टमः सर्गः

—*—

रामस्तु सहस्रौमित्रिः सुतीक्ष्णेनाभिपूजितः ।

परिणाम्य^१ निशां तत्र प्रभाते प्रत्यवृथ्यत ॥ १ ॥

सुतीक्ष्ण द्वारा भली प्रकार सत्कारित हो, सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी ने वह रात उसी आश्रम में वितायी और सबेरा होते ही जागे ॥ १ ॥

उत्थाय तु यथाकालं राघवः सह सीतया ।

उपास्पृशत्सुशीतेन जलेनोत्पलगन्धिना ॥ २ ॥

तदनन्तर सीता सहित यथा समय विस्तरे से उठ, श्रीरामचन्द्र जी ने कमलों की सुवास से युक्त शीतल जल से स्नान किये ॥ २ ॥

[नोट — कमल पुष्प की गन्ध से युक्त जल, तालाब ही का हो सकता है, अतः इससे जान पड़ता है कि, श्रीराम जी ने तालाब में स्नान किये थे ।]

अथ तेऽग्निं सुरांश्वैव^२ वैदेही रामलक्ष्मणौ ।

काल्यं विधिवदभ्यर्च्य तपस्विंशरणे वने ॥ ३ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र, लक्ष्मण और वैदेही ने उस तपोवन में विधिवत् और यथासमय हवन कर परिवार सहित नारायण का पूजन किया ॥ ३ ॥

[नोट — नारायण के परिवार में लक्ष्मी, विश्वकर्मा, गरुडादि हैं ।]

१ परिणाम्य—अतिवाह्य । (गो०) २ उपास्पृशत्—स्नातवान् । (गो०)
३ सुरान्—नारायणं । सहपत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत् इत्ययोध्या-
काष्ठोक्तेः । परिवारापेक्षया बहुवचनं । (गो०)

उदयन्तं दिनकरं दृष्टा विगतकल्पाः ।

सुतीक्ष्णमभिगम्येदं श्लक्षणं वचनमब्रुवन् ॥ ४ ॥

जब सूर्योदय हुआ, तब वे पुण्यात्मा दोनों राजकुमार, सुतीक्ष्ण के पास जा, विनीत मनोहर वचन बोले ॥ ४ ॥

[नोट—इससे यह जान पड़ता है कि, सूर्योदय होने के पूर्व ही श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण, हवन इत्यादि धर्मानुष्ठान कर चुके थे । कायायन सूत्रानुसार इससे अनुदित होम करने का पक्ष समर्थन होता है । “अनुदित होम” से अभिप्राय है सूर्य उदय न हो तभी होम करना ।]

सुखोषिताः स्म भगवंस्त्वया पूज्येन पूजिताः ।

आपृच्छामः प्रयास्यामो मुनयस्त्वरयन्ति नः ॥ ५ ॥

हे भगवन् ! आपने पूज्य हो कर भी हमारा भली भाँति सकार किया । हम आपके आश्रम में बड़े सुख से रहे । अब हम आपसे जाने के लिये अनुमति माँगते हैं, क्योंकि हमारे साथी मुनि चलने के लिये जल्दी मचा रहे हैं ॥ ५ ॥

त्वरामहे वयं द्रष्टुं सर्वमाश्रमण्डलम् ।

ऋषीणां पुण्यशीलानां दण्डकारण्यवासिनाम् ॥ ६ ॥

दण्डकवनवासी समस्त पुण्यशील ऋषियों के आश्रमों को हम शीघ्र देखना चाहते हैं ॥ ६ ॥

अभ्यनुज्ञातुमिच्छामः सहैभिर्मुनिपुङ्गवैः ।

धर्मनित्यैस्तपेदान्तैर्विशिखैरिव पावकैः ॥ ७ ॥

अब हमारी यह इच्छा है कि, यदि आप आज्ञा दें तो प्रज्ज्वलित अग्निशिखा की तरह तेजस्वी सदा धर्म में तत्पर और तपोनिष्ठ तथा जितेन्द्रिय इन मुनिपुङ्गवों के साथ हम चले जाय ॥ ७ ॥

अविष्वदातपो यावत्सूर्यो नातिविराजते ।

अमारेणागतां लक्ष्मीं प्राप्येवान्वयवर्जितः ॥ ८ ॥

तावदिच्छामहे गन्तुमित्युक्त्वा चरणौ मुनेः ।

ववन्दे सह सौमित्रिः सीतया सह राघवः ॥ ९ ॥

जिस प्रकार साधु-समागम-बजित एवं अन्याय से उपाजित
ऐश्वर्य वाले लोगों का ऐश्वर्यवान् होना असहा हो जाता है उसी
प्रकार, जब तक सूर्य की धाम असहा न हो, (अर्थात् धूप में तेजी
न आवे) तब तक ही हम रास्ता चलना चाहते हैं । (अर्थात् ठंडे
ठंडे में हम मंजिल तै करना चाहते हैं) यह कह तीनों ने मुनि को
प्रणाम किया ॥ ८ ॥ ९ ॥

तौ संस्पृशन्तौ चरणावुत्थाप्य मुनिपुङ्गवः ।

गाढमालिङ्गं सस्नेहमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

मुनिश्रेष्ठ सुतीक्ष्ण जी ने प्रणाम करते हुए उन दोनों राज-
कुमारों को उठा कर अपने हृदय से लगाया और उनसे स्नेहपूरित
ये वचन कहे ॥ १० ॥

अरिष्टं गच्छ पन्थानं राम सौमित्रिणा सह ।

सीतया चानया सार्धं छाययेवानुवृत्तया ॥ ११ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! आप लक्ष्मण, और द्राया की तरह पीछे
पीछे चलने वाली सीता जी सहित, मङ्गल पूर्वक यात्रा
कीजिये ॥ ११ ॥

पश्याश्रमपदं रम्यं दण्डकारण्यवासिनाम् ।

एषां तपस्विनां वीरं तपसा भावितात्मनाम् ॥ १२ ॥

१ अन्वयवर्जितः—साधुसमागमवर्जितोदुष्प्रभुरिव । (गो०)

हे वोर ! योग में जिनके मन संलग्न हैं, ऐसे दण्डकवनवासी
इन सब ऋषि मुनियों के रमणीय आश्रमों को आप देख कर कृतार्थ
कर आइये ॥ १२ ॥

सुप्राज्यफलमूलानि पुष्पितानि वनानि च ।

प्रशस्तमृगयूथानि शान्तपक्षिगणानि च ॥ १३ ॥

फुलपङ्कजषण्डानि प्रसन्नसलिलानि च ।

कारण्डवविकीर्णानि तटाकानि सरांसि च ॥ १४ ॥

विविध प्रकार के बहुत कन्दमूल फलों से युक्त फूले हुए वृक्षों
से परिपूर्ण उन बनों में जिनमें श्रेष्ठ वन्य पशु और शान्त पक्षी रहते
हैं, और जहाँ स्वच्छ जल वाले ऐसे ताल हैं कि, जिनमें कमल फूल
रहे हैं और जिनमें कारण्डवादि जलपक्षी किलोले किया करते हैं
आप देख आइये ॥ १३ ॥ १४ ॥

द्रक्ष्यसे दृष्टिरम्याणि गिरिप्रस्त्रवणानि च ।

रमणीयान्यरण्यानि मयूराभिरुतानि च ॥ १५ ॥

इनके अतिरिक्त जो देखने में अत्यन्त सुन्दर हैं ऐसे पहाड़ी झरने
तथा बोलते हुए मोरों से भरे हुए वन भी आप देख आइये ॥ १५ ॥

गम्यतां वत्स सामित्रे भवानपि च गच्छतु ।

आगन्तव्यं त्वया तात पुनरेवाश्रमं मम ॥ १६ ॥

हे वत्स राम ! जाइये । हे लह्मण ! आप भी जाइये । किन्तु हे
तात ! इन सब आश्रमों को देख, फिर भी आप मेरे इस आश्रम में
आइये ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा काकुत्स्थः सहलक्ष्मणः ।

प्रदक्षिणं मुनिं कृत्वा प्रस्थातुमुपचक्रमे ॥ १७ ॥

जब सुतीद्वाण ने यह कहा तथा उत्तर में श्रीरामचन्द्र जी “बहुत अच्छा” कह कर, लक्ष्मण सहित मुनि की परिक्रमा कर जाने के लिये उद्यत हुए ॥ १७ ॥

ततः शुभतरे तूणी धनुषी चायतेक्षणा ।

ददौ सीता तयोर्भ्रात्रोः खड्गौ च विमलौ ततः ॥ १८ ॥

तदन्तर विशाल नेत्रवाली जानकी जी ने दोनों भाइयों को श्रेष्ठ तरकस और दो तेज़ धार वालीं और चमकती हुईं (अर्थात् साफ-विमल) तलवारें दीं ॥ १९ ॥

[नोट—जान पढ़ता है, राजकुमारां ने सेते समय ये आयुध खोल कर रख दिये थे । चलते समय सीता ने ये उनको फिर दिये ।]

आवध्य च शुभे तूणी चापौ चादाय सस्वनौ ।

निष्क्रान्तावाश्रमादगन्तुमुभौ तौ रामलक्ष्मणौ ॥ १९ ॥

तब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने वे दोनों सुन्दर तरकस बाँध लिये और दोनों ने टंकार का शब्द करने वाले दो धनुष लिये और आगे जाने के लिये वे दोनों श्रीराम और लक्ष्मण उस आश्रम से बाहर निकले ॥ १९ ॥

श्रीमन्तौ रूपसम्पन्नौ दीप्यमानौ स्वतेजसा ।

प्रस्थितौ धृतचापौ तौ सीतया सह राघवौ ॥ २० ॥

॥ इति अष्टमः सर्गः ॥

कान्तिवान्, सौन्दर्य युक्त और अपने तेज से प्रकाशित, धनुषों को लिये हुए दोनों दशरथनन्दन, सीता सहित सुतीद्वाण के आश्रम से प्रस्थानित हुए ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का आठवां सर्ग पूरा हुआ ।

नवमः सर्गः

—*—

सुतीक्ष्णेनाभ्यनुज्ञातं प्रस्थितं रघुनन्दनम् ।

हृदया^१ स्निग्धयार वाचा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी, सुतीक्ष्ण से विदा माँग प्रस्थानित हुए, तब सीता जी ने अपने पति श्रीरामचन्द्र से ये युक्तियुक्त और स्नेह पूर्ण वचन कहे ॥ १ ॥

अधर्मंतु सुसूक्ष्मेण विधिना प्राप्यते महान् ।

निवृत्तेन तु शक्योऽयं व्यसनात्कामजादिह ॥ २ ॥

हे श्रीराम ! आप तो बड़े हैं, किन्तु सूक्ष्म रीत्या विचार करने से जान पड़ेगा कि, आप अधर्म को सञ्चय कर रहे हैं । इस समय आप जिस कामज व्यसन में प्रवृत्त हो रहे हैं, उससे निवृत्त होने ही से आप अधर्म के सञ्चय से बच सकते हैं । अर्थात् आप तपस्वी हैं, तपस्वी होकर भी आप यदि कामज-व्यसन-मृगादि-वध करने में प्रवृत्त होंगे तो आपको ऐसा करना नहीं सोहेगा । क्योंकि तपस्वी को हिंसा आदि करना उचित नहीं । अतः अधर्म को सञ्चित न करने के लिये, जब तक आप तपस्वी के वेष में हैं, शिकार आदि व्यसनों को त्याग दीजिये ॥ २ ॥

त्रीण्येव व्यसनान्यत्र कामजानि भवन्त्युत ।

मिथ्या वाक्यं परमकं तस्माद्गुरुतरावुभौ ॥ ३ ॥

१ हृदया—युक्तियुक्तवेन, हृदयंगमया । (गो०) २ स्निग्धया—स्नेह-प्रवृत्तया । (गो०)

कामज व्यसन तीन प्रकार के होते हैं अर्थात् एक तो भूठ बोलना । किन्तु भूठ बोलने से बढ़ कर दो कामज व्यसन और हैं ॥३॥

[नोट—कामज-हच्छा से अथवा जान बूझ कर व्यसन, पाप, दोष ।]

परदाराभिगमनं विना वैरं च रौद्रता^१ ।

मिथ्या वाक्यं न ते भूतं न भविष्यति राघव ॥ ४ ॥

दूसरा परख्लीगमन और तीसरा विना वैर जीवों की हिंसा । हे राघव ! भूठ तो आप न कभी बोले न आगे हो कभी बोलेंगे ॥४॥

कुतोऽभिलाषणं स्त्रीणां परेषां धर्मनाशनम् ।

तब नास्ति मनुष्येन्द्र न चाभूते कदाचन ॥ ५ ॥

मनस्यपि तथा राम न चैतद्विद्यते क्वचित् ।

स्वदारनिरतस्त्वं च नित्यमेव नपात्मज ॥ ६ ॥

परख्लीगमन अथवा परख्ली की अभिलाषा जो धर्म की नाश करने वाली है, न तो कभी आपको हुई और न आगे हो कभी होने की सम्भावना है । क्योंकि हे राजकुमार ! आप तो स्वदारनिरत अर्थात् अपनी ही स्त्री में अनुराग रखने वाले हैं, अतः इसकी कल्पना भी आपके मन में नहीं उठ सकती ॥ ५ ॥ ६ ॥

धर्मिष्ठः सत्यसन्धश्च पितुर्निर्देशकारकः ।

सत्यसन्ध महाभाग श्रीमल्लक्ष्मणपूर्वज^२ ॥ ७ ॥

फिर आप धर्मात्मा हैं, सत्यसन्ध हैं, पिता की आङ्गा का पालन करने वाले हैं, निरवधिक ऐश्वर्य सम्पन्न हैं और त्याग में लक्ष्मण से भी बढ़ कर हैं ॥ ७ ॥

१ रौद्रता—हिंसकता । (गो०) २ श्रीमीन्—निरवधिकैश्वर्य । (गा)

३ लक्ष्मणपूर्वज—वैराग्ये लक्ष्मणादप्यधिक । (गो०)

त्वयि सत्यं च धर्मश्च त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

तच्च सर्वं महावाहो शक्यं धर्तुं जितेन्द्रियैः ॥ ८ ॥

हे महावाहो ! आप में सत्य और धर्म आदि सब शुभ गुण विद्यमान हैं । और ये गुण उसीमें ठहर सकते हैं, जो जितेन्द्रिय होता है । अर्थात् अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखता है ॥ ८ ॥

तव वश्येन्द्रियत्वं च जानामि शुभदर्शन ।

तृतीयं यदिदं रौद्रं परप्राणाभिहिंसनम् ॥ ९ ॥

निवैरं क्रियते मोहत्तच्च ते समुपस्थितम् ।

प्रतिज्ञातस्त्वया वीर दण्डकारण्यवासिनाम् ॥ १० ॥

ऋषीणां रक्षणार्थाय वधः संयति रक्षसाम् ।

एतन्निमित्तं च वनं दण्डका इति विश्रुतम् ॥ ११ ॥

प्रस्थितस्त्वं सह भ्रात्रा धृतवाणशरासनः ।

ततस्त्वां प्रस्थितं दृष्टा मम चिन्ताकुलं मनः ॥ १२ ॥

हे शुभदर्शन ! मैं यह भी भली भाँति जानतो हूँ कि, आप अपनी इन्द्रियों को अपने वश में रखने वाले हैं । परन्तु तीसरा भयानक दोष अर्थात् मोहवश विना वैर दूसरों का वध करना, आपमें उपस्थित होने वाला है । क्योंकि हे वीर ! तुम दण्डकारण्य वासी ऋषियों की रक्षा के लिये, संग्राम में राक्षसों के मारने की प्रतिज्ञा कर चुके हो और इसको पूरा करने के लिये ही आप इस प्रसिद्ध दण्डक नामक वन में धनुष बाण ले, लक्ष्मण सहित जा रहे हैं । आपको इस प्रकार जाते देख कर, मेरा जी घबड़ाता है ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

त्वद्वृत्तं^१ चिन्तयन्त्या वै भवेन्निःश्रेयसं हितम् ।

न हि मे रोचते वीर गमनं दण्डकान्प्रति ॥ १३ ॥

जब मैं आपके सत्य प्रतिज्ञापालन, स्वदारनिरतत्व आदि गुणों को, जो आपके सौख्य और हित के साधन रूप हैं, सोचती विचारती हूँ, तब मुझे है वीर ! आपका दण्डकवन में जाना अच्छा नहीं लगता अर्थात् आप सत्यप्रतिज्ञ हैं और राज्ञसों को मारने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं, अतः आप अपनो प्रतिज्ञा पूरी करेंगे और ऐसा करने से आपके सुख और हित की हानि होगी । इन बातों पर विचार कर के मुझे आपका दण्डकवन में प्रवेश करना नहीं रुचता—प्रसंद नहीं आता ॥ १३ ॥

कारणं तत्र वक्ष्यामि वदन्त्याः श्रूयतां मम ।

त्वं हि वाणधुष्पाणिभ्रात्रा सह वनं गतः ॥ १४ ॥

इसका कारण मैं बतलाती हूँ । आप सुनें । आप तीर कमान ले भाई सहित वन में जा रहे हैं ॥ १४ ॥

दृष्टा वनचरान्सर्वान्कच्चित्कुर्याः शरव्ययम् ।

क्षत्रियाणां च हि धनुर्हृताशस्येन्धनानि च ॥ १५ ॥

सपीपतः स्थितं तेजो^२ वलमुच्छ्रूयते^३ भृशम् ।

पुरा किल महावाहो तपस्वी सत्यवाकशुचिः ॥ १६ ॥

वहाँ जब आप राज्ञसों को देखेंगे, तब उनमें से किसी न किसी पर आप बाण भी अवश्य ही चलायेंगे । क्योंकि जिस प्रकार समीप रखा हुआ ईंधन अग्नि के तेज को बढ़ाता है, उसी प्रकार त्तियों

१ त्वद्वृत्तं—सत्यप्रतिज्ञत्वरूपचरित्रं सत्यप्रतिज्ञत्वस्वदारनिरतत्वादिकं । (गो०)

२ तेजोवलं—तेजोरूपंवलं । (गो०) ३ उच्छ्रूयते—वर्धयति । (गो०)

का समीपवर्ती धनुष उनके तेज रूपी बल को बहुत बढ़ाता है ।
पुराने ज़माने में, हे महावाहो ! सत्यवादी और ईमानदार ॥१५॥१६॥

कस्मिंश्चिदभवत्पुण्ये वने रत्नमृगद्विजे ।

तस्यैव तपसो विघ्नं कर्तुमिन्दः शचीपतिः ॥ १७ ॥

कोई ऋषि, मृगों और पक्षियों से परिपूर्ण किसी पवित्र वन में रहा करते थे । उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिये, शचीनाथ इन्द्र ॥ १७ ॥

खड्गपाणिरथागच्छदाश्रमं भटख्लपधृत् ।

तस्मिंस्तदाश्रमपदे निशितः खड्ग उत्तमः ॥ १८ ॥

स न्यासविधिना दक्षः पुण्ये तपसि तिष्ठतः ।

स तच्छस्त्रमनुप्राप्य न्यासरक्षणतत्परः ॥ १९ ॥

हाथ में तलवार ले और रथ में बैठ योद्धा के वेष में (उन तपस्वी) ऋषि के आश्रम में आये । और अपनी वह उत्तम तलवार उस आश्रम में उस तपोनिष्ठ, पवित्राचरणसम्पन्न ऋषि के पास धरोहर की भाँति रख कर चले गये । ऋषि उस तलवार की या उसकी रक्षा करने लगे ॥ १८ ॥ १९ ॥

[न्यास-विधिना—धरोहर के रूप में । धरोहर की परिभाषा धर्मशास्त्र में यह दी हुई है ।]

राजचोरादिकभयाद्यादानां च वज्रनात् ।

स्थाप्यतेऽन्य गृहे द्रव्यं न्यासः स परिकीर्तिः ।]

वने तं विचरत्येव रक्षन्प्रत्ययमात्मनः^१ ।

यत्र गच्छत्युपादातुं मूलानि च फलानि च ॥ २० ॥

^१ आत्मनः प्रत्ययं—विश्वासस्थापितं वस्तुं । (गो०)

अपने ऊपर विश्वास कर के अपने पास रखी हुई धरोहर की वस्तु—तलवार को वे जहाँ जाते वहाँ लिये रहते थे। यदि उन्हें फलमूल लाने के लिये जाना पड़ता, तो वे, उस तलवार को भी अपने साथ ही लेते जाते थे ॥ २० ॥

न विना याति तं खद्गं न्यासरक्षणतत्परः ।
नित्यं शश्वं परिवहन्कर्मेण स तपोधनः ॥ २१ ॥

उस धरोहर की रखवाली में तत्पर वे ऋषि विना उस तलवार को लिये कहीं न जाते। उस तलवार को सदा पास रखने से धीरे धीरे उन तपस्वी की ॥ २१ ॥

चकार रौद्रीं^१ त्वां बुद्धिं त्यक्त्वा तपसि निश्चयम् ।
ततः स रौद्रेऽभिरतः प्रमत्तो धर्मकर्शितः^२ ॥ २२ ॥
तस्य शश्वस्य संवासाज्जगाम नरकं मुनिः ।
एवमेतत्पुरा वृत्तं शश्वसंयोगकारणम् ॥ २३ ॥

बुद्धि हिंसापरायण हो गयी और उनका विश्वास तप से हट गया। उस तलवार से वे प्राणियों का वध करने लगे, और मतवाले से हो गये। वे अधर्म से पीड़ित हो, उस शश्व को पास रखने के कारण अन्त में नरकगामी हुए। हे राम! शश्व को पास रखने से प्राचीन काल में ऐसा हो चुका है ॥ २२ ॥ २३ ॥

अग्निसंयोगवद्देतुः शश्वसंयोग उच्यते ।
स्नेहाच्च बहुमानाच्च स्मारये त्वां न शिक्षये ॥ २४ ॥

१ रौद्रीं—हिंसापरां । (गो०) २ रौद्रे—हिंसारूपकर्मणि । (गो०)

३ अधर्मकर्शितः—पीड़ितः । (गो०)

अतः समझदार लोग, अग्नि संयोग की तरह शख्स संयोग को भी विकार का कारण बतलाया करते हैं। (अर्थात् जिस प्रकार अग्नि को साथ रखने से उपद्रव खड़े हो जाते हैं, उसी प्रकार शख्स पास रखने से भी उपद्रव खड़े होते हैं, मैं आपको सीख नहीं देती, प्रत्युत स्नेह और सम्मान पुरस्तर आपको इस बात का स्मरण कराती हूँ ॥ २४ ॥

न कथश्चन सा कार्या गृहीतधनुषा त्वया ।

बुद्धिवैरं विना हन्तुं राक्षसान्दण्डकाश्रितान् ॥ २५ ॥

आप भी सदा धनुष लिये रहते हैं, अतः आप उस ऋषि जैसी बुद्धि अपनी कभी मत करना कि, विना वैर दण्डकारण्यवासी राक्षसों का वध करने लगें ॥ २५ ॥

अपराधं विदा हन्तुं लोकान्वीर न कामये ।

क्षत्रियाणां तु वीराणां वनेषु निरतात्मनाम् ॥ २६ ॥

धनुषा कार्यमेतावदार्तनामाभरक्षणम् ।

क च शख्सं क च वनं क च क्षात्रं तपः क च ॥ २७ ॥

हे वीर ! विना अपराध किसी का वध करना लोग पसंद नहीं करते। वन में विचरते हुए ज्ञात्रियों का धनुष धारण करना (निरपराध जीवों की हिंसा करने के लिये नहीं प्रत्युत) दुःखी लोगों की रक्षा करने के लिये है। देखिये तो, कहाँ शख्स और कहाँ वन ? कहाँ ज्ञात्रिय धर्म (अर्थात् नृशंस कर्महिंसा) और कहाँ तपस्या अर्थात् (शान्तकर्म) अर्थात् ये दोनों ही परस्पर विरोधिनी बाते हैं ॥ २६ ॥ २७ ॥

व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम् ।

तदार्य कलुषा बुद्धिर्जायते शख्सेवनात् ॥ २८ ॥

अतः हम लोगों के लिये देश धर्म, अर्थात् तपोवन का धर्म पूज्य है (अर्थात् तपोवन में रह कर हमें तपोवनोचित धर्म का पालन कर, उसका सन्मान करना चाहिये । क्योंकि शख्सों के सेवन से, क्रूर लोगों की तरह बुद्धि विगड़ जाती है ॥ २८ ॥

पुनर्गत्वा त्वयोध्यायां क्षत्रधर्मं चरिष्यसि ।

अक्षया तु भवेत्प्रीतिः श्वशूश्वशुरयोर्मम् ॥ २९ ॥

यदि राज्यं परित्यज्य भवेत्स्त्वं निरतो मुनिः ।

धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम् ॥ ३० ॥

आप जब लौट कर अयोध्या जाइयेगा, तब पुनः क्षत्रिय धर्म का पालन कर लीजियेगा । यदि आप इस समय राज्य त्यागी होकर ऋषियों के आचरण से रहेंगे, तो मेरे सास और ससुर की प्रीति भी आप में बढ़ेगी । देखिये धर्म से अर्थ का और धर्म ही से सुख की प्राप्ति होती है ॥ २६ ॥ ३० ॥

धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ।

आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्शयित्वा प्रयन्तः ।

प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभ्यते सुखम् ॥ ३१ ॥

कहाँ तक कहा जाय, धर्म द्वारा सभी कुछ मिल सकता है । अतः इस जगत में धर्म ही सार है । चतुर लोग अनेक प्रकार के नियमों (चन्द्रायणव्रतादि) से यत्नपूर्वक, शरीर को कष्ट दे धर्म का साधन करते हैं, क्योंकि शारीरिक सुखदायी साधनों से धर्म का लाभ नहीं होता ॥ ३१ ॥

नित्यं शुचिमतिः सौम्य चर धर्मं तपोवने ।

सर्वं हि विदितं तुभ्यं त्रैलोक्यमपि तत्त्वतः ॥ ३२ ॥

अतः हे सौम्य ! आप इस तपोवन में जब तक रहें, तब तक सदा विशुद्ध मन से तपस्त्रियों के योग्य धर्मानुष्ठान करें। आपको तो तीनों लोकों का सब यथार्थ हाल मालूम ही है। (मैं आपको क्या बतला सकती हूँ) ॥ ३२ ॥

खीचापलादेतदुदाहृतं मे
धर्मं च वक्तुं तव कः समर्थः ।
विचार्य बुद्ध्या तु सहानुजेन
यद्रोचते तत्कुरु मा चिरेण ॥ ॥ ३३ ॥
इति नवमः सर्गः ॥

खी-स्वभाव-सुलभ चपलता वश मैंने आपसे ये बातें कहीं हैं। भला आपको धर्मोपदेश कौन दे सकता है। अतः लक्ष्मण जी के साथ इन बातों पर विचार कर, जो उचित समझिये, उसे अविलंब कीजिये ॥ ३३ ॥

अरण्यकाण्ड का नवां सर्ग पूरा हुआ ।

—:*:—

दशमः सर्गः

—:*:—

वाक्यमेतत्तु वैदेह्या व्याहृतं भर्तृभक्त्या^१ ।

श्रुत्वा धर्मे स्थितो रामः प्रत्युवाचाथ मैथिलीम् ॥ १ ॥

सीताजी ने पति के प्रेमवश हो जो बातें कहीं, उन्हें सुन, प्रतिज्ञा-पालन रूपी धर्म में रत और निष्ठावान् श्रीरामचन्द्र जी ने सुन, उत्तर में सीता जी से कहा ॥ १ ॥

^१ भर्तृभक्त्या—भर्तृप्रेमपारवश्येन । (गो०)

हितमुक्तं त्वया देवि स्निग्धया^१ सदृशं वचः ।
कुलं व्यपदिशन्त्या^२ च धर्मज्ञे जनकात्मजे ॥ २ ॥

हे धर्मज्ञे ! हे जनकनन्दिनो ! तू ने स्नेहपूर्वक अपने उच्च कुलोद्धवा होने की सूचक जैसी हित की बातें मुझसे कही हैं, वे तुम्हारे कहने के योग्य ही हैं ॥ २ ॥

[अच्छा जब हित की बात है और ठीक है, तो फिर उसके अनुसार श्रीराम-चन्द्र क्यों नहीं चले, तब न चलने का कारण दिखलाते हुए श्रीरामचन्द्र जी कहते हैं ।]

किंतु वक्ष्याम्यहं देवि त्वयैवोक्तमिदं वचः ।
क्षत्रियैर्धर्यते चापो नार्त शब्दो भवेदिति ॥ ३ ॥

किन्तु अभी तुम कह चुकी हो कि, क्षत्रिय लोग धनुष धारण इस लिये करते हैं कि, (देखो सर्ग ६ का २७ वाँ श्लोक) जिससे किसी दुःखिया का आर्त शब्द न सुन पड़े । अर्थात् कोई बली किसी निर्वल को सताने न पावे ॥ ३ ॥

मां सीते स्वयमागम्य शरण्याः शरणं गताः ।

ते चार्ता दण्डकारण्ये मुनयः संशितव्रताः ॥ ४ ॥

फिर हे सीते ! दण्डकवनवासी वे दुःखी तपस्वी, मुझको सब का रक्षक समझ स्वयं ही मेरे शरण में आये ॥ ४ ॥

वसन्तो धर्मनिरता वने मूलफलाशनाः ।

न लभन्ते सुखं भीता राक्षसैः क्रूरकर्मभिः ॥ ५ ॥

हे भीरु ! देखो ये बेचारे सदैव फल फूल खाते और धर्मानुष्ठान करते हुए, वन में (सब से अलग) रहते हैं । तिस पर भी क्रूर कर्म

१ स्निग्धया—अनुरक्तता । (गो०) २ कुलं व्यपदिशन्त्या—स्वमहाकुलीनत्वं प्रस्त्यापमन्त्या । (गो०)

करने वाले राक्षसों के अत्याचारों के कारण, वे बैचारे सुख से नहीं रहने पाते ॥ ५ ॥

काले काले^१ च निरता नियर्मविविधैर्वने ।

भक्ष्यन्ते राक्षसैर्भीमैररमांसोपजीविभिः ॥ ६ ॥

सदैव विविध (धर्म) नियमों के पालन में निरत, वनवासी इन तपस्वियों को नरमांस भोजी घेर राक्षस खा डाला करते हैं ॥ ६ ॥

ते भक्ष्यमाणा मुनयो दण्डकारण्यवासिनः ।

अस्मानभ्यवपद्येति^२ मामूचुर्द्विजसत्तमाः ॥ ७ ॥

राक्षसों द्वारा खाये जाने वाले दण्डकवनवासी वे ब्राह्मणोत्तम मेरे अनुग्रह के प्रार्थी हुए हैं ॥ ७ ॥

मया तु वचनं श्रुत्वा तेषामेवं मुखाच्छ्युतम् ।

कृत्वा चरणशुश्रूषां^३ वाक्यमेतदुदाहृतम् ॥ ८ ॥

प्रसीदन्तु^४ भवन्तो मे ही^५ रेषा हि ममातुलाद्य ।

यदीदृशैरहं विप्रैरूपस्थेयैरूपस्थितः^६ ॥ ९ ॥

मैंने उनको कही हुई वातें सुन और उनकी पादबन्दना कर उनसे यह बात कही कि, मेरे अपचार को आप लोग ज्ञान करें। मुझे स्वयं इस बात से बड़ी लज्जा है कि, जिन ब्राह्मणों के पास मुझे स्वयं जाना चाहिये था वे मेरे पास उपस्थित हुए हैं ॥ ८ ॥ ९ ॥

१ काले काले—सर्वकाले । (गो०) २ अभ्यवर्येति:—अनुग्रहः । (गो०)

३ चरणशुश्रूषां—पादबन्दनं । (गो०) ४ प्रसीदन्तु—ममपचारक्षमन्तां । (गो०)

५ ही—लज्जा । (गो०) ६ अतुलाः—अधिका । (गो०) ७ उपस्थेयै—अभि-

गन्तव्यैः । (गो०) ८ उपस्थितः—अभिगतः । (गो०)

किं करोमीति च मया व्याहृतं द्विजसन्निधौ ।

सर्वैरेतैः समागम्य वागियं समुदाहृता ॥ १० ॥

अब बतलाइये—मैं अब आपकी क्या सेवा करूँ ? हे सीते !
मैंने जब उनसे यह कहा, तब वे सब ब्राह्मण एक साथ यह
बोले ॥ १० ॥

राक्षसैर्दण्डकारण्ये बहुभिः कामरूपिभिः ।

अर्दिताः स्म दृढं राम भवान्नस्तत्र रक्षतु ॥ ११ ॥

हे श्रीराम ! इस दण्डकवन में बहुत से कामरूपी राक्षस हमें
सताया करते हैं, इस समय उनसे हमारी रक्षा कीजिये ॥ ११ ॥

होमकालेषु सम्प्राप्ताः पर्वकालेषु चानघ ।

धर्षयन्ति सुदुर्धर्षा राक्षसाः पिशिताशनाः ॥ १२ ॥

(क्योंकि वे केवल हमें सताते ही नहीं हैं, बल्कि) अग्निहोत्र
करते समय और दर्शपौर्णमासादि यज्ञों के समय, वे मांसभक्षी
दुर्धर्ष राक्षस आ कर यज्ञकार्यों में वाधा डालते हैं । या विघ्न करते
हैं ॥ १२ ॥

राक्षसैर्धर्षितानां च तापसानां तपस्विनाम् ।

गतिं मृगयमाणानां^१ भवान्नः परमा गतिः^२ ॥ १३ ॥

राक्षसों से सताये हुए तपस्या में निरत तपस्वीगण इस आपत्ति
से बचने के लिये, रक्षक खोज रहे हैं । सो आप ही हमारे रक्षक
हैं ॥ १३ ॥

कामं तपःप्रभावेण शक्ता हन्तुं निशाचरान् ।

चिरार्जितं तु नेच्छामस्तपः स्वण्डयितुं वयम् ॥ १४ ॥

^१ मृगयमाणानां—अन्वेषवतां । (गो०) ^२ गतिः—त्रतारं । (रा०)

यद्यपि हम लोग अपने तपोबल से शाप द्वारा उनको नष्ट कर सकते हैं, तथापि बहुत दिनों के इकट्ठे किये हुए तप को हम खण्डित करना नहीं चाहते ॥ १४ ॥

बहुविन्द्रं तपो नित्यं दुश्चरं चैव राघव ।

तेन शापं न मुञ्चामो भक्ष्यमाणाश्च राक्षसैः ॥ १५ ॥

क्योंकि हम लोगों का तप नित्य अनेक विघ्नों को बचा कर सञ्चित किया हुआ है और दुश्चर है । इस लिये भले ही वे राक्षस हमें मार कर खा जायँ, परन्तु हम उनको शाप नहीं देते ॥ १५ ॥

तदर्थमानानरक्षोभिर्दण्डकारण्यवासिभिः

रक्ष नस्त्वं सह भ्रात्रा त्वन्नाथा हि वयं वने ॥ १६ ॥

अतएव राक्षसों से पीड़ित हम दण्डकवनवासियों की, अपने भाई सहित आप रक्ता कीजिये । क्योंकि इस वन में आप ही हमारे रक्तक हैं ॥ १६ ॥

मया चैतद्वचः श्रुत्वा कात्स्नर्येन परिपालनम् ।

ऋषीणां दण्डकारण्ये संश्रुतं जनकात्मजे ॥ १७ ॥

हे जनकनन्दिनी ! दण्डकवनवासी ऋषियों के येसे वचन सुन, मैंने सब प्रकार से रक्ता करने की उनसे प्रतिज्ञा की है ॥ १७ ॥

संश्रुत्य च न शक्ष्यामि जीवमानः प्रतिश्रवम् ।

मुनीनामन्यथा कर्तुं सत्यमिष्टं हि मे सदा ॥ १८ ॥

अब मैं अपनी इस प्रतिज्ञा को जो मैंने मुनियों से की है जीते जी अन्यथा नहीं कर सकता । क्योंकि सत्य ही सदा से मेरा इष्ट है ॥ १८ ॥

अप्यहं जीवितं जहां त्वां वा सीते सलक्ष्मणाम् ।

न तु प्रतिज्ञां संश्रुत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ॥ १९ ॥

मुझे भले ही अपने प्राण गँवाने पड़ें अथवा लक्ष्मण सहित तुम्हें ही क्यों न त्याग देना पड़े ; किन्तु मैं अपनी प्रतिज्ञा नहीं त्याग सकता । विशेष कर उस प्रतिज्ञा को जो ब्राह्मणों से कर चुका हूँ ॥ १९ ॥

तदवश्यं मया कार्यमृषीणां परिपालनम् ।

अनुक्तेनापि वैदेहि प्रतिज्ञाय तु किं पुनः ॥ २० ॥

हे वैदेही ! ऋषियों का पालन तो मुझे अवश्य ही करना चाहिये, चाहें वे कहैं या न कहैं । फिर मैं तो उनकी रक्षा करने की प्रतिज्ञा किये हुए हूँ ॥ २० ॥

मम स्नेहाच्च सौहार्दादिमुक्तं त्वयाऽनघे ।

परितुष्टोऽस्म्यहं सीते न हनिष्ठोऽनुशिष्यते ॥ २१ ॥

हे अनघे सीते ! तुमने स्नेह और सौहार्द से जो ये बातें कही हैं, उनसे मैं तुमसे अत्यन्त सन्तुष्ट हूँ । क्योंकि अप्रिय पुरुष को उपदेश कोई नहीं करता ॥ २१ ॥

सदृशं चानुरूपं च कुलस्य तव चात्मनः ।

सधर्मचारिणी मे त्वं प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ २२ ॥

हे सीते ! तुमने मुझसे अपने वंश के योग्य और उचित वचन ही कहे हैं । तुमको ऐसा ही करना उचित भी था क्योंकि तुम मेरी सहधर्मिणी हो और मुझे तुम प्राणों से भी अधिक प्यारी हो ॥ २२ ॥

इत्येवमुक्त्वा वचनं महात्मा
 सीतां प्रियां मैथिलराजपुत्रीम् ।
 रामो धनुष्पान्सह लक्ष्मणेन ।
 जगाम रम्याणि तपोवनानि ॥ २३ ॥

इति दशमः सर्गः ॥

धनुष धारण किये हुए महात्मा श्रीरामचन्द्र जी, जनकनन्दिनी आरी सीता से इस प्रकार के वचन कह कर, लक्ष्मण सहित उस रमणीय तपोवन में चले गये ॥ २३ ॥

अररण्यकाण्ड का दसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकादशः सर्गः

—*—

अग्रतः प्रययौ रामः सीता मध्ये सुमध्यमा ।
 पृष्ठतस्तु धनुष्पाणिर्लक्ष्मणोऽनुजगाम ह ॥ १ ॥

आगे आगे श्रीरामचन्द्र, बीच में पतली कटि वाली सीता जी और सीता जी के पीछे हाथ में धनुष लिये लक्ष्मण चले जाते थे ॥ १ ॥

तौ पश्यमानौ विविधाज्ञैलप्रस्थान्वनानि च ।
 नदीश्च विविधा रम्या जग्मतुः सीतया सह ॥ २ ॥

उन दोनों ने जानकी सहित जाते समय तरह तरह के पर्वत-शृङ्खों को, बनों को तथा अनेक रम्य नदियों को देखा ॥ २ ॥

सारसांश्चक्रवाकांश्च नदीपुलिनचारिणः ।

सरांसि च सप्तानि युक्तानि जलजैः खगैः ॥ ३ ॥

उन नदियों के तटों पर सारस, चकई और चकवा विचर रहे थे । तालाबों में कमल फूले हुए थे और उनमें जलपक्षी तैर रहे थे ॥ ३ ॥

यूथबद्रांश्च पृष्ठतान्मदोन्मत्तान्विषाणिनः ।

महिषांश्च वराहांश्च नागांश्च द्रुमवैरिणः । ॥ ४ ॥

चित्तल हिरन, सोंगदार बनैले भैसे, तथा पेड़ों के शत्रु शूकर और हाथियों के झुण्ड के झुण्ड बन में घूम रहे थे ॥ ४ ॥

ते गत्वा दूरमध्वानं लम्बमाने दिवाकरे ।

दद्युः सहिता रम्यं तटाकं योजनायतम् ॥ ५ ॥

बहुत दूर चल कर, सूर्य इबने के समय, इन्होंने एक रमणीक झील देखी जो एक योजन लंबी थी ॥ ५ ॥

पद्मपुष्करसंवाधं गजयूथैरलङ्कृतम् ।

सारसैर्हसकादम्बैः सङ्कुलं जलचारिभिः ॥ ६ ॥

उस झील में कमल के फूल फूले हुए थे, उसके आस पास हाथियों के झुण्ड के झुण्ड घूम फिर रहे थे और सारस राजहंस कलहंस आदि जलपक्षिगण उसमें कलोलें कर रहे थे ॥ ६ ॥

प्रसन्नसलिले रम्ये तस्मिन्सरसि शुश्रुवे ।

गीतवादित्रनिघोषो न तु कश्चन दृश्यते ॥ ७ ॥

उस निर्मल और रमणीय जलवालो झील में गाने बजाने का शब्द तो सुनाई पड़ता था ; परन्तु वहाँ गाने बजाने वाला कोई नहीं देख पड़ता था ॥ ७ ॥

ततः कौतूहलाद्रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ।

मुनिं धर्मभृतं नाम प्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ ८ ॥

तब महाबलवान् श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने कौतूहलवश, धर्मभृत नामक ऋषि से पूछा ॥ ८ ॥

इदमत्यद्धुतं श्रुत्वा सर्वेषां नो महामुने ।

कौतूहलं महजातं किमिदं साधु कथ्यताम् ॥ ९ ॥

हे महर्षे ! यहाँ गाने वजाने का यह अद्धुत शब्द सुन, हम लोगों को बड़ा कौतुक हुआ है, यह है क्या ? सो आप ठीक ठीक बतलाइये ॥ ९ ॥

वक्तव्यं यदि चेद्दिप्र नातिगुह्यमपि प्रभो ।

तेनैवमुक्तो धर्मात्मा राघवेण मुनिस्तदा ॥ १० ॥

प्रभावं सरसः कृत्स्नमाख्यातुमुपचक्रमे ।

इदं पञ्चाप्सरो नाम तटाकं सार्वकालिकम् ॥ ११ ॥

हे प्रभो ! यदि कोई रहस्य की भी बात हो, तो भी कहिये । जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा, तब धर्मात्मा मुनि तत्त्वाण उस सरोवर के प्रभाव का समस्त वर्णन करने लगे । वे बोले— हे रामचन्द्र ! इसका नाम पञ्चाप्सर है और इसमें सदा जल बना रहता है ॥ १० ॥ ११ ॥

निर्मितं तपसा राम मुनिना माण्डकर्णिना ।

स हि तेषे तपस्तीव्रं माण्डकर्णिर्महामुनिः ॥ १२ ॥

इसको माण्डकर्णि नामक मुनि ने अपने तपस्या के प्रभाव से निर्मित किया है । माण्डकर्णि ने बड़ा घोर तप किया था ॥ १२ ॥

दश वर्षसहस्राणि वायुभक्षो जलाश्रयः ।

ततः प्रव्यथिताः सर्वे देवाः साग्रिपुरोगमाः ॥ १३ ॥

जब उन्होंने दस हजार वर्ष तक वायु पी कर और इस सरोवर में रह कर तपस्या की, तब अग्नि आदि समस्त देवता बहुत घबड़ाये ॥ १३ ॥

अब्रुवन्वचनं सर्वे परस्परसमागतः ।

अस्माकं कस्यचित्स्थानमेष प्रार्थयते मुनिः ॥ १४ ॥

वे लोग एकत्र हो, आपस में कहने लगे कि, जान पड़ता है ये ऋषि हममें से किसी देवता का पद प्राप्त करने के लिये ही तप कर रहे हैं ॥ १४ ॥

इति संविग्रहमनसः सर्वे ते त्रिदिवौकसः ।

तत्र कर्तुं तपोविद्वं देवैः सर्वैर्नियोजिताः ॥ १५ ॥

प्रधानाप्सरसः पञ्च विद्युत्सदृशवर्चसः ।

अप्सरोभिस्तस्ताभिर्मुनिर्दृष्टपरावरः^१ ॥ १६ ॥

ऐसा मन में विचार और घबड़ा कर, उन सब देवताओंने ऋषि के तप में विद्धि डालने के लिये विजली के समान तेजवाली पाँच प्रधान अप्सराओं को, इस काम के लिये नियुक्त किया । उन अप्सराओं ने, इहलोक और परलोक सम्बन्धी धर्म अधर्म को जानने वाले मुनि को ॥ १५ ॥ १६ ॥

नीतो मदनवश्यत्वं सुराणां कार्यसिद्धये ।

ताश्रेवाप्सरसः पञ्च मुनेः पवित्रमागताः ॥ १७ ॥

^१ दृष्टपरावरः — दृष्टेहिकपारलौकिकधर्माधर्मः । (८०)

देवताओं का काम पूरा करने के लिये काम के वश में कर लिया। ऋषि ने उन पाँचों अप्सराओं को अपनी खियां बना लिया ॥ १७ ॥

तटाके निर्मितं तासामस्मिन्नन्तर्हितं गृहम् ।

तथैवाप्सरसः पञ्च निवसन्त्यो यथासुखम् ॥ १८ ॥

तब ऋषि ने अपनी तपस्या के प्रभाव से इस भोल में उनके रहने के लिये एक अदृश्य घर बनाया, जिसमें वे सब पाँचों अप्सराएँ सुख पूर्वक रहने लगीं ॥ १८ ॥

रमयन्ति तपोयोगान्मुनिं यौवनमास्थितम् ।

तासां संक्रीडमानानामेष वादित्रनिःस्वनः ॥ १९ ॥

और तप के प्रभाव से युवा अवस्था को प्राप्त उन ऋषि के साथ वे विहार करने लगीं। ऋषि के साथ विहार करती हुई उन अप्सराओं ही के गाने बजाने का यह शब्द है ॥ १९ ॥

श्रूयते भूषणोन्मिश्रो गीतशब्दो मनोहरः ।

आश्र्वयमिति तस्यैतद्वचनं भावितात्मनः ॥ २० ॥

राघवः प्रतिजग्राह सह भ्रात्रा महायशाः ।

एवं कथयमानस्य ददर्शश्रिमण्डलम् ॥ २१ ॥

उन्होंके गहनों की भनकार से मिल कर यह मनोहर गाने का शब्द सुन पड़ता है। विशुद्धचित्त धर्मभृत से यह वृत्तान्त सुन, महायशस्वी श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को बड़ा आश्र्वय हुआ और यही वातचीत करते करते उन्होंने एक आश्रममण्डल देखा ॥ २० ॥ २१ ॥

कुशचीरपरिक्षिपं ब्राह्म्या लक्ष्म्या समावृतम् ।

प्रविश्य सह वैदेह्या लक्ष्मणेन च राघवः ॥ २२ ॥

वे आश्रम कुश और चीर से बैष्ठित थे और उनमें तपस्वी ब्राह्मण रहते थे। उस आश्रममण्डल में, सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी गये ॥ २२ ॥

उवास मुनिभिः सर्वैः पूज्यमानो महायशाः ।

तथा तस्मिन्स काकुतस्थः श्रीमत्याश्रममण्डले ॥ २३ ॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण का वहाँ रहने वाले महर्षियों ने अतिथि-सत्कार किया और श्रीरामचन्द्र जी उसी आश्रम-मण्डल में टिक रहे ॥ २३ ॥

उषित्वा तु सुखं तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।

जगाम चाश्रमांस्तेषां पर्यायेण तपस्विनाम् ॥ २४ ॥

येषामुषितवान्पूर्वं सकाशे स महास्ववित् ।

कचित्परिदशान्मासानेकं संवत्सरं कचित् ॥ २५ ॥

कचिच्च चतुरो मासान्पञ्चषट् चापरान्वचित् ।

अपरत्राधिकं मासादप्यर्धमधिकं कवचित् ॥ २६ ॥

त्रीन्मासानष्टमासांश्च राघवौ न्यवसत्सुखम् ।

एवं संवसतस्तस्य मुनीनामाश्रमेषु वै ॥ २७ ॥

रात भर सुखपूर्वक वस तथा ऋषियों द्वारा सत्कारित हो, श्रीरामचन्द्र जी बारी बारी से उन सब ऋषियों के आश्रमों में, जिनमें वे पहले हो आये थे, कहीं १४ मास, कहीं एक वर्ष,

१ ब्राह्म्या लक्ष्म्या—ब्राह्मण समूर्ण । (गो०) २ परिदशान्—चतुर्दशमा सानि ।

कहीं चार माँस, कहीं पाँच माँस, कहीं एक वर्ष से भी अधिक,
कहीं पखवारे से अधिक, कहीं तीन महोने और कहीं साढ़े तीन
महीने, कहीं तीन माँस, कहीं आठ माँस श्रीरामचन्द्र जी
सुखपूर्वक ठहरे ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥

रमतश्चानुकूल्येन ययुः संवत्सरा दश ।

परिवृत्य च धर्मज्ञो राघवः सह सीतया ॥ २८ ॥

इस प्रकार वन में, धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्र जी ने सीता सहित बस
कर, दस वर्ष बिता दिये ॥ २८ ॥

सुतीक्ष्णस्याश्रमं श्रीमान्पुनरेवाजगाम ह ।

स तपाश्रममासाद्य मुनिभिः प्रतिपूजितः ॥ २९ ॥

तदनन्तरं श्रीमान् श्रीरामचन्द्र जी फिर सुतीक्ष्ण के आश्रम में आये
और आश्रम में आने पर आश्रमवासी मुनियों द्वारा उनका सत्कार
किया गया ॥ २९ ॥

तत्रापि न्यवसद्रामः किञ्चित्कालमरिन्दमः ।

अथाश्रमस्थो विनयात्कदाचित्तं महामुनिम् ॥ ३० ॥

उपासीनः स काकुत्स्थ सुतीक्ष्णमिदमब्रवीत् ।

अस्मिन्ब्ररण्ये भगवन्नगस्त्यो मुनिसत्तमः ॥ ३१ ॥

वसतीति मया नित्यं कथाः कथयतां श्रुतम् ।

न तु जानामि तं देशं वनस्यास्य महत्तया ॥ ३२ ॥

शत्रुओं को मारने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ कुछ दिन रह कर,
एक दिन विनय पूर्वक महर्षि सुतीक्ष्ण से यह पूँछा कि, हे भगवन् !
इसी वन में कहीं मुनियों में श्रेष्ठ अगस्त्य जी भी रहते हैं; यह बात

मैं नित्य ही मुनियों के मुख से सुना करता हूँ, किन्तु यह वन इतना
लंबा चौड़ा है कि, मुझे उनके रहने के स्थान का पता आज तक
नहीं चला ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

कुत्राश्रममिदं पुण्यं महर्षेस्तस्य धीमतः ।

प्रसादात्तत्रभवतः सानुजः सह सीतया ॥ ३३ ॥

अगस्त्यमभिगच्छेयमभिवादयितुं मुनिम् ।

मनोरथो महानेष हृदि मे परिवर्तते ॥ ३४ ॥

यदहं तं मुनिवरं शुश्रुषेयमपि स्वयम् ।

इति रामस्य स मुनिः श्रुत्वा धर्मात्मनो वचः ॥ ३५ ॥

फिर मुझे यह भी नहीं मालूम हुआ कि, उन धीमान् महर्षि
का इस रमणीक वन में आश्रम किस ठौर है, मैं सीता और लक्ष्मण
सहित उनको प्रसन्न करने तथा प्रणाम करने के लिये वहाँ जाना
चाहता हूँ । मेरे मन में यह एक बड़ा मनोरथ है कि, मैं स्वयं उनकी
सेवा शुश्रूषा करूँ । इस प्रकार मुनि जी ने, धर्मात्मा श्रोरामचन्द्र जी
का वचन सुना ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

सुतीक्ष्णः प्रत्युवाचेदं प्रीतो दशरथात्मजम् ।

अहमप्येतदेव त्वां वक्तुकामः सलक्ष्मणम् ॥ ३६ ॥

और उत्तर में सुतीक्ष्ण जी ने प्रसन्न हो कर दशरथनन्दन से कहा ।
मैं आपसे और लक्ष्मण से यह बात कहने ही को था ॥ ३६ ॥

अगस्त्यमभिगच्छेति सीतया सह राघव ।

दिष्ट्या त्विदानीमर्थेऽस्मिन्स्वयमेव ब्रवीषि माम् ॥ ३७ ॥

बड़े आनन्द की बात है कि, आपने वही बात स्वयं मुझसे
कही । आप लक्ष्मण व सीता जी को साथ ले अगस्त्याश्रम में
जाइये ॥ ३७ ॥

अहमाख्यामि ते वत्स यत्रगस्त्यो महामुनिः ।

योजनान्याश्रमादस्मात्था चत्वारि वै ततः ॥ ३८ ॥

दक्षिणेन महाअङ्गीमानगस्त्यभ्रातुराश्रमः ।

स्थलीप्राये वनोद्देशे पिप्पलीवनशोभिते ॥ ३९ ॥

हे वत्स ! अब मैं आपको उस स्थान का पता बतलाता हूँ, जहाँ अगस्त्य जी रहते हैं। सुनिये, यहाँ से चार जोजन (१६ कोस) पर, दक्षिण दिशा में अत्यन्त रमणीक अगस्त्य जी के भाई का आश्रम है। इस वन प्रदेश में उस आश्रम की भूमि औरस है और वहाँ अनेक पीपल के पेड़ों का वन शोभित हो रहा है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

बहुपुष्पफले रम्ये नानाशकुनिनादिते ।

पद्मिन्यो विविधास्तत्र प्रसन्नसलिलाः शिवाः ॥ ४० ॥

वहाँ बहुत से पुष्पों एवं फलों के वृक्ष हैं, और तरह तरह के पक्षी बोला करते हैं। वहाँ स्वच्छ एवं शुद्ध जल से भरे अनेक जलाशय हैं जिनमें अनेक प्रकार के कमलों के फूल फूले हुए हैं ॥ ४० ॥

हंसकारण्डवाकीर्णश्चक्रवाकोपशोभिताः ।

तत्रैकां रजनीं व्युष्य प्रभाते राम गम्यताम् ॥ ४१ ॥

वे सरोवर हंस, जल कुकुट और चक्रवाक पक्षियों से सुशोभित हैं। वहाँ एक रात ठहर कर, प्रातः काल होते ही आप वहाँ से यात्रा कीजियेगा ॥ ४१ ॥

दक्षिणां दिशमास्थाय वनष्टंस्य^१ पाश्वर्तः ।

तत्रागस्त्याश्रमपदं गत्वा योजनमन्तरम् ॥ ४२ ॥

१ वनष्टंस्य—वनसमूहस्य । (गो०) २ आस्थाय—वद्विश्य । (गो०)

वहाँ से वन समूह की बगल से, दक्षिण दिशा की ओर एक योजन (४ कोस) चलने पर आपको अगस्त्य जी का आश्रम मिलेगा ॥ ४२ ॥

रमणीये वनोद्देशे बहुपादपसंवृते ।

रंस्यते तत्र वैदेही लक्ष्मणश्च सह त्वया ॥ ४३ ॥

वहाँ रमणीय और अनेक वृक्षों से युक्त आश्रम में आप सीता और लक्ष्मण के सहित सुख से वास कीजियेगा ॥ ४३ ॥

स हि रम्यो वनोद्देशो बहुपादपसङ्कुलः ।

यदि बुद्धिः कृता द्रष्टुमगस्त्यं तं महामुनिम् ॥ ४४ ॥

वह वनस्थली अनेक वृक्षों से सुशोभित होने के कारण अत्यन्त रमणीय है । यदि आप उन महर्षि अगस्त्य जी के दर्शन करना चाहते हैं ॥ ४४ ॥

अद्यैव गमने बुद्धिं रोचयस्व महायशः ।

इति रामो मुनेः श्रुत्वा सह भ्रात्राऽभिवाद्य च ॥ ४५ ॥

तो हे महायशस्विन् ! आज ही जाने का निश्चय कर लीजिये । सुतीक्ष्ण जी के ये वचन सुन, और भ्राता सहित मुनि को प्रणाम कर, ॥ ४५ ॥

प्रतस्थेऽगस्त्यमुद्दिश्य सानुजः सीतया सह ।

पश्यन्वनानि रम्याणि पर्वतांश्चाभ्रसन्निभान् ॥ ४६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी, अपने भाई लक्ष्मण और सीता जी को साथ ले, अगस्त्य जी के आश्रम की ओर प्रस्थानित हुए और रास्ते में उन्होंने अनेक रमणीक वन और मेघ के तुल्य पर्वत देखे ॥ ४६ ॥

सरांसि सरितश्चैव पथि मार्गवशानुगान्^१ ।

सुतीक्ष्णेनोपदिष्टेन गत्वा तेन पथा सुखम् ॥ ४७ ॥

सुतीक्ष्ण जी के बतलाये मार्ग को धर, श्रीरामचन्द्र जी अनेक नदियों और सरोवरों को, जो रास्ते में पड़ते थे, देखते हुए, सुखपूर्वक चले जाते थे ॥ ४७ ॥

इदं परमसंहृष्टो वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ।

एतदेवाश्रमपदं नूनं तस्य महात्मनः ॥ ४८ ॥

अगस्त्यस्य मुनेर्भ्रातुर्दृश्यते पुण्यकर्मणः ।

यथा हि मे वनस्यास्य ज्ञाताः पथि सहस्रशः ॥ ४९ ॥

सन्नताः फलभारेण पुष्पभारेण च द्रुमाः ।

पिप्पलीनां च पक्कानां वनादस्पादुपागतः ॥ ५० ॥

गन्धोऽयं पवनोत्क्षिप्तः सहसा कटुकोदयः ।

तत्र तत्र च दृश्यन्ते संक्षिप्ताः काष्ठसंचयाः ॥ ५१ ॥

चलते चलते श्रीरामचन्द्र जी ने परमहाषित हो, लक्ष्मण जी^२ से यह बात कही कि, निश्चय ही महात्मा अगस्त्य के पुण्यात्मा भ्राता का यह आश्रम दिखलाई पड़ता है । क्योंकि, जैसा सुना था, वैसा ही मार्ग से इस वन में आते आते, फल और फूलों के बोझ से झुके हुए, हजारों बृक्ष देख पड़ते हैं । यह देखो पक्की हुई पीपलों की कड़वी बू, वन के पवन से उड़ायी हुई, आ रही है । जगह जगह इकट्ठे किये हुए काठ के ढेर देख पड़ते हैं ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥

लूनाश्च पथि दृश्यन्ते दर्भा वैद्वर्यवर्चसः ।

एतच्च वनमध्यस्थं कृष्णाभ्रशिखरोपमम् ॥ ५२ ॥

१ मार्गवशानुगान्—मार्गवशात्प्राप्तान् । (१०)

पावकस्याश्रमस्थस्य धूमाग्रं संप्रदशयते ।

विविक्तेषु^१ च तीर्थेषु कृतस्नाता द्विजातयः ॥ ५३ ॥

पुष्पोपहार कुर्वन्ति कुसुमैः स्वयमार्जितैः ।

तत्सुतीक्ष्णस्य वचनं यथा सौम्य मया श्रुतम् ॥ ५४ ॥

और हरी मणि अर्थात् पञ्चे की तरह ये कर्णे हुए हरे हरे रंग के कुश रास्ते में देख पड़ते हैं । देखो, वन में यह काले मेघ के शृङ्ग की तरह आश्रम के अग्नि का धूम देख पड़ता है । इन पवित्र तीर्थों में ब्राह्मण लोग स्नान कर और स्वयं तोड़े हुए फूलों से पुष्पाचार्चा (पुष्पाञ्जलि) कर रहे हैं । हे सौम्य ! सुतीक्ष्ण ने जो पहचानें बतलायी थीं, वे सब यहाँ देख पड़ती हैं ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

[नोट—श्लोक में “कुसुमैः स्वयमार्जितैः” को देख — पूजाविधान का यह प्रमाण स्मरण हो आता है — “ समित्पुष्पकृशादीनि श्रोत्रियः स्वयमाहरेत । ” अर्थात् हवन के लिये समिधा, कुश और पूजन के लिये पुष्प श्रोत्रिय ब्राह्मण को स्वयं लाने चाहिये ।]

अगस्त्यस्याश्रमो भ्रातुर्नूनमेष भविष्यति ।

निगृह्य तरसा मृत्युं^२ लोकानां हितकाम्यया ॥ ५५ ॥

यस्य भ्रात्रा कृतेयं दिक्छुरण्याः पुण्यकर्मणा ।

इहैकदा किल क्रूरो वातापिरपि चेलवलः ॥ ५६ ॥

अतः अगस्त्य जी के भाई का आश्रम अवश्य यही होगा । इनके भाई अगस्त्य जी ने सब लोगों के हितार्थ, बलपूर्वक मृत्यु के समान दैत्यों को मार कर, इस दक्षिण दिशा को पुण्यात्माओं (ऋषि मुनियों)

१ विविक्तेषु—पूतेषु । (गो०) २ मृत्युं ततुत्यं दैत्यं । (रा०)

३ शुरण्या—वासयोग्या । (रा०)

के रहने योग्य बना दिया है। किसी समय इस वन में बड़े क्रूर वातापि और इल्वल नाम के ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

भ्रातरौ सहितावास्तां ब्राह्मणं ग्रौ महासुरौ ।

धारयन्ब्राह्मणं रूपमिल्वलः संस्कृतं वदन् ॥ ५७ ॥

दो महाअसुर भाई, जो ब्राह्मणों को मार कर खा जाया करते थे, रहते थे। इनमें से इल्वल नाम का राक्षस, ब्राह्मण का रूप धर और ब्राह्मण की तरह संस्कृत भाषा बोलता हुआ ॥ ५७ ॥

[नोट—इससे जान पड़ता है कि, उस समय के ब्राह्मणों की बोलचाल की भाषा संस्कृत थी ।]

आमन्त्रयति विप्रान्स्म श्राद्धमुहिश्य निर्वृणः ।

भ्रातरं संस्कृतं कृत्वा ततस्तं मेषरूपिणम् ॥ ५८ ॥

श्राद्ध के बहाने, ब्राह्मणों को न्योता देता था। फिर मेढ़ा का रूप धौरण किये हुए अपने भाई वातापि को मार कर और उसका मांस पका कर ॥ ५८ ॥

तान्द्रिजान्भोजयामास श्राद्धदृष्टेन२ कर्मणा ।

ततो भुक्तवता तेषां विप्राणामिल्वलोऽब्रवीत् ॥ ५९ ॥

वातापे निष्क्रमस्वेति स्वरेण महता वदन् ।

ततो भ्रातुर्वचः श्रुत्वा वातापिर्मेषवन्नदन् ॥ ६० ॥

श्राद्ध की विधि से उनको भोजन करा दिया करता था। जब ब्राह्मण भोजन कर चुकते, तब इल्वल बड़े ज़ोर से चिल्ला कर कहता था कि, हे भाई वातापे! तुम निकल आओ। तब वातापि भी भाई का वचन सुन, मेड़े के समान बोलता हुआ ॥ ५९ ॥ ६० ॥

१ संस्कृतं वदन्—ब्राह्मणवदितिशेषः । (रा०) २ श्राद्धदृष्टेन—श्राद्धकल्पाव-
गतेन । (गो०)

भित्त्वा भित्त्वा शरीराणि ब्राह्मणानां विनिष्पत्तु ।

ब्राह्मणानां सहस्राणि तैरेवं कामरूपिभिः ॥ ६१ ॥

विनाशितानि संहत्य नित्यशः पिशिताशनैः ।

अगस्त्येन तदा देवैः प्रार्थितेन महर्षिणा ॥ ६२ ॥

ब्राह्मणों के शरीरों को चीरता फाढ़ता निकल आता था । हे लक्ष्मण ! इस प्रकार ये कामरूपी और नरमासभोजी राज्ञस मिल कर, सहस्रों ब्राह्मण नित्य मारने लगे । तब देवताओं ने आ कर, महर्षि अगस्त्य की स्तुति की ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

अनुकूलः किल श्राद्धे भक्षितः स महासुरः ।

ततः सम्पन्नमित्युक्त्वा दत्त्वा हस्तोदकं ततः ॥ ६३ ॥

और अगस्त्य जी ने अन्य ब्राह्मणों की तरह श्राद्धभोजन में वातापि का भक्षण किया । तब इल्लल ने “ सम्पन्न ” (अर्थात् श्राद्ध पूरा हुआ) कह कर, मुनि के हाथ पर “ अवनेजन ” (भोजनानन्तर का आचमन) के लिये जल दे कर, ॥ ६३ ॥

भ्रातरं निष्क्रमस्वेति चेल्वलः सोऽभ्यभाषत ।

स तं तथा भाषमाणं भ्रातरं विप्रघातिनम् ॥ ६४ ॥

सदा की भाँति (पेट फाढ़ कर) निकलने के लिये भाई को पुकारा । तब ब्राह्मणों का घात करने वाले और भाई को बार बार पुकारने वाले इल्लल से ॥ ६४ ॥

अब्रवीत्पहसन्धीमानगस्त्यो मुनिसत्तमः ।

कुतो निष्क्रमितुं शक्तिर्मया जीर्णस्य रक्षसः ॥ ६५ ॥

मुनियों में श्रेष्ठ और बुद्धिमान् अगस्त्य जी ने हँस कर कहा कि, भला अब वह कैसे निकल सकता है, क्योंकि मैंने तो उस राज्ञस को पचा डाला ॥ ६५ ॥

भ्रातुस्ते मेषरूपस्य गतस्य यमसादनम् ।

अथ तस्य वचः श्रुत्वा भ्रातुर्निधनसंश्रयम्^१ ॥ ६६ ॥

मेहा रूपधारी तेरा भाई तो यमालय में पहुँच गया । अगस्त्य जी के मुख से भाई के मरने की बात सुन, ॥ ६६ ॥

प्रधर्षयितुर्मारेभे मुनिं क्रोधान्निशाचरः ।

सोऽभिद्रवन्मुनिश्रेष्ठं मुनिना दीप्तेजसा ॥ ६७ ॥

क्रोध में भर वह रात्स अगस्त्य जी की मार डालने के लिये उन पर झपटा । तब तपस्या के तेज से दीप्तमान अगस्त्य जी ने ॥ ६७ ॥

चक्षुषाऽनलकल्पेन^२ निर्दग्धो निधनं गतः ।

तस्यायमाश्रमो भ्रातुस्तटाकवनशोभितः ॥ ६८ ॥

प्रज्वलित अश्वि के समान नेत्रों से उसकी ओर देख, उसे भस्म कर, मार डाला । हे लक्षण ! उन्हीं अगस्त्य जी के भाई का यह तड़ाग और वन से शोभित आश्रम है ॥ ६८ ॥

विप्रानुकम्पया येन कर्मदं दुष्करं कृतम् ।

एवं कथयमानस्य तस्य साँमित्रिणा सह ॥ ६९ ॥

जिन्होंने ब्राह्मणों के ऊपर अनुग्रह कर, दूसरों से न होने योग्य, यह काम किया था । इस प्रकार, लक्षण जी से बांतचीत करते करते ॥ ६९ ॥

रामस्यास्तं गतः सूर्यः सन्ध्याकालोऽभ्यवर्तत ।

उपास्य पश्चिमां सन्ध्यां सह भ्रात्रा यथाविधि ॥ ७० ॥

^१ निधनसंश्रयं—नाशविषयं । (गो०) ^२ प्रधर्षयितुं—हिंसितुं । (गो०)
^३ अनंलकल्पेन—अग्निसद्शेन । (गो०)

सूर्य अस्त हो गये और सन्ध्याकाल हो गया । तब श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने यथाविधि सायं सन्ध्योपासन किया ॥ ७० ॥

[नोट—अगस्त्य तथा इलवल-बातापि के आख्यान को पढ़ कर यह बात भी जानी जाती है कि, रामायणकाल में ब्राह्मण, ब्राह्मणों को, श्राद्धभोजन में माँस का भी भोजन करवाया करते थे ।]

प्रविवेशाश्रमपदं तमृषिं सोऽभ्यवादयत् ।

सम्यक्प्रतिगृहीतश्च मुनिना तेन राघवः ॥ ७१ ॥

सन्ध्योपासन करने के उपरान्त वे अगस्त्य जी के भाई के आश्रम में गये और उनको प्रणाम किया । अगस्त्य जी के भाई ने भी भली भाँति स्वागत कर उनका आतिथ्य किया ॥ ७१ ॥

न्यवसत्तां निशामेकां प्राश्य मूलफलानि च ।

तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां विमले सूर्यमण्डले ॥ ७२ ॥

कन्दमूल और फल खा कर, श्रीरामचन्द्र जी एक रात्रि वहाँ ठहरे । फिर रात बीतने और सबेरा होने पर ॥ ७२ ॥

भ्रातरं तमगस्त्यस्य हच्यामन्त्रयत राघवः ।

अभिवादये त्वां भगवन्सुखमध्युषितो निशाम् ॥ ७३ ॥

आमन्त्रये त्वां गच्छामि गुरुं ते द्रष्टुमग्रजम् ।

गम्यतामिति तेनोक्तो जगाम रघुनन्दनः ॥ ७४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने अगस्त्य जी के भाई से विदा माँगते समय कहा—हे भगवन् ! मैं आपको प्रणाम करता हूँ । हम लोगों की रात बड़े सुख से यहाँ कटी । अब आप हम लोगों को जाने की अनुमति दीजिये । क्योंकि हम लोग आपके पूज्य बड़े भाई के दर्शन करना चाहते हैं । इस पर जब अगस्त्य के भ्राता ने कहा—“बहुत अच्छा पधारिये”, तब श्रीरामचन्द्र जी वहाँ से प्रस्थानित हुए ॥ ७४ ॥

यथोहिष्टेन मार्गेण वनं तच्चावलोकयन् ।

नीवारान्पनसांस्तालांस्तिमिशान्वञ्जुलान्धवान् ॥ ७५ ॥

चिरिविल्वान्मधूकांश्च विल्वानपि च तिन्दुकान् ।

पुष्पितान्पुष्पिताग्राभिर्लताभिरनुवेष्टितान् ॥ ७६ ॥

ददर्श रामः शतशस्तत्र कान्तारपादपान् ।

हस्तिहस्तैर्विमृदितान्वानरैरूपशोभितान् ॥ ७७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी बतलाये हुए मार्ग से चलते हुए उस वन की शोभा निरखते जाते थे। उस वन में नीवार, कटहल, शाल, बज्जुल, तिनिश, ढांक, तथा पुराने पुराने बेल, महुआ, तेंदुआ आदि वृक्ष, जो स्वयं फूले हुए थे तथा जिनमें फूली हुई लताएँ लिपटी हुई थीं, ऐसे सैकड़ों वृक्ष श्रीरामचन्द्र जी ने उस वन में देखे। उन वृक्षों में से कितने ही हाथियों की सूँड़ों से दुर्दे हुए थे और कितनों ही पर बंदर बैठे हुए उनकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

मत्तैः शकुनिसङ्घैश्च शतशश्च प्रणादितान् ।

ततोऽब्रवीत्समीपस्थं रामो राजीवलोचनः ॥ ७८ ॥

उन वृक्षों पर सैकड़ों पक्षी मतवाले हो, बोल रहे थे। वहाँ की ऐसी शोभा देख, राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र जी ने निकटस्थ ॥७८॥

पृष्ठोऽनुगतं वीरं लक्ष्मणं लक्ष्मिवर्धनम् ।

स्निग्धपत्रा यथा वृक्षा यथा शान्तमृगद्विजाः ॥ ७९ ॥

और पीछे आते हुए तथा शोभा बढ़ाने वाले वीर लक्ष्मण जी से कहा—इन सब वृक्षों के पत्ते जैसे चिकने दिखलाई देते हैं और मृगगण तथा पक्षी जैसे शान्त स्वभाव दृष्टिगत हो रहे हैं, इससे तो यही जान पड़ता है कि, ॥ ७९ ॥

आश्रमो नातिदूरस्थो महर्षेभावितात्मनः ।

अगस्त्य इति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा^१ ॥ ८० ॥

उन विशुद्ध चित्त महर्षि का आश्रम अब अधिक दूर नहीं है, जो अपने ही कर्म से अगस्त्य के नाम से लोक में विख्यात है ॥८०॥

[नोट—अगस्त्य का अगस्त्य नाम क्यों पड़ा यह इसी सर्ग के ८६—८७ इलोकों में सङ्केत से बतलाया गया है ।]

आश्रमो दृश्यते तस्य परिश्रान्तश्रमापहः ।

आज्यधूमाकुलवनश्चीरमालापरिष्कृतः ॥ ८१ ॥

थके बटोहियों की थकावट दूर करने वाला उनका आश्रम यही देख पड़ता है । देखो न, अग्निहोत्र का धुआं वन में छाया हुआ है । जहाँ तहाँ वृक्षों की डालियों पर चीर वस्त्र सुखाने को फैलाये हुए हैं और पुष्पमालाएँ लटका कर आश्रम की सजावट की गयी है ॥८१॥

प्रशान्तमृगयूथश्च नानाशकुनिनादितः ।

निगृहय तरसा मृत्युं लोकानां हितकाम्यया ॥ ८२ ॥

देखो, स्वाभाविक वैर विराव को छोड़ बन्यजन्तु कैसे शान्त बैठे हुए हैं और तंरह तरह के पक्षी शब्द कर रहे हैं । इन्हींने मृत्यु रूपी उन राज्ञसों को बलपूर्वक, लोकों के हितार्थ मार कर, ॥ ८२ ॥

दक्षिणा दिक्कृता येन शरण्या पुण्यकर्मणा ।

तस्येदमाश्रमपदं प्रभावद्यस्य राक्षसैः ॥ ८३ ॥

दिगियं दक्षिणा त्रासाददृश्यते^२ नोपभुज्यते ।

यदाप्रभृतिर्चाक्रान्ता दिगियं पुण्यकर्मणा ॥ ८४ ॥

१ स्वेनैव कर्मणा—विन्ध्यस्तम्भन रूपेण । अग्नितम्भयतीत्यगस्त्य इति व्युत्पत्तेः ।
 (गो०) २ त्रासात् दृश्यते—ततुप्राचीनकाल इवोपभुज्यते । (गा०) यदाप्रभृति—
 अगस्त्यागमनावृभृति । (गो०)

दक्षिण दिशा को पुण्यकर्मा ऋषि मुनियों के रहने योग्य बना दिया है। इन्हींके प्रभाव से रात्रेसगण भयभीत हो, दक्षिण दिशा की ओर कैवल देखते तो हैं, किन्तु पूर्वकाल की तरह ब्राह्मणों को मार कर, खा जाने का उनको साहस नहीं होता। जब से महर्षि अगस्त्य इस आश्रम में आ कर रहने लगे हैं ॥ ८३ ॥ ८४ ॥

तदाप्रभृतिनिवैराः प्रशान्ता रजनीचराः ।

नाम्ना^१ चेयं भगवतो दक्षिणा दिक्प्रदक्षिणा ॥ ८५ ॥

तब से यहाँ के रात्रेसों ने ब्राह्मणों के साथ वैर विरोध करना छोड़ दिया है और वे अब शान्त हो कर रहा करते हैं। इसीसे यह दक्षिण दिशा अब अगस्त्य जी की दिशा के नाम से प्रसिद्ध हो गयी है ॥ ८५ ॥

प्रथिता त्रिषु लोकेषु दुर्धषा क्रूरकर्मभिः ।

मार्गं निरोद्धु निरतो भास्करस्याचलोत्तमः ॥ ८६ ॥

और क्रूरकर्मा दुर्धष रात्रेसों को नीचा दिखाने के कारण, दक्षिण दिशा तीनों लोकों में विख्यात हुई है। अर्थां जो दक्षिण दिशा किसी समय क्रूरकर्मा रात्रेसों के कारण तीनों लोकों में दुर्धष कह कर प्रसिद्ध थी, वह अब अगस्त्य जी की कृपा से सब लोगों के रहने योग्य हो गयी। पर्वतों में श्रेष्ठ विन्ध्य पर्वत जो सूर्य का रास्ता रोकना चाहता था ॥ ८६ ॥

निदेशं पालयन्यस्य विन्ध्यः शैलो न वर्धते ।

अयं दीर्घायुषस्तस्य लोके विश्रुतकर्मणः ॥ ८७ ॥

अगस्त्यस्याश्रमः श्रीमान्विनीतजनसेवितः ।

एष लोकार्चितः साधुर्हिते नित्यरतः सताम् ॥ ८८ ॥

१ अतएवेयं दक्षिणादिक् नाम्ना भगवताऽगस्त्यस्य दिग्गिति प्रसिद्धेत्युच्यते । (गो०)

किन्तु यह विन्ध्य शैल अगस्त्य जी की आङ्गा पालन कर, सूर्य का रास्ता रोकने को अब ऊँचा नहीं होता। तोनें लोकों में अपने कर्म से प्रसिद्ध उन दीर्घजीवी महर्षि अगस्त्य का यहीं विनीत जनों से सेवित आश्रम है। यह मुनि, लोगों से सन्मानित हैं और साधुओं की भलाई करने में सदा तत्पर रहते हैं॥ ८७ ॥ ८८ ॥

अस्मानभिगतानेष श्रेयसा योजयिष्यति ।

आराधयिष्याम्यत्राहमगस्त्यं तं महामुनिम् ॥ ८९ ॥

जब हम उनके आश्रम में जाँयगे तब वे हमारा कल्याण करेंगे। मैं उन महर्षि अगस्त्य का आराधन करूँगा॥ ८९ ॥

शेषं च वनवासस्य सोम्य वत्स्याम्यहं प्रभो ।

अत्र देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्र परमर्षयः ॥ ९० ॥

हे सौम्य ! मैं वनवास का शेष काल अगस्त्य जी के आश्रम में रह कर ही विताऊँगा। हे प्रभो ! इस आश्रम में देवता, गन्धर्व, सिद्ध और देवर्षि ॥ ९० ॥

अगस्त्यं नियताहारं सततं पर्युपासते ।

नात्र जीवेन्मृषावादी क्रूरो^१ वा यदि वा शठः^२ ॥ ९१ ॥

नृशंसः^३ कामवृत्तो वा मुनिरेष तथाविधः ।

अत्र देवाश्र यक्षाश्र नागाश्र पतगैः^४ सह ॥ ९२ ॥

नियताहारी अगस्त्य जी को सदा उपासना किया करते हैं। ये मुनि ऐसे प्रभावशाली हैं कि, इनके आश्रम में झूठा, निर्दयी और

१ क्रूरः—निर्दयः । (गो०) २ शठः—गूढविप्रियकृत् । (गो०) ३ नृशंस-

वातुकः । (गो०) ४ पतगैः—गहडजातिभिः । (गो०)

कपटी, घातक, कामी, किसी भाँति जीवित नहीं रह सकता । यहाँ
देव, यज्ञ, नाग और गरुड़ ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

वसन्ति नियताहारा धर्ममाराधयिष्णवः ।

अत्र सिद्धा महात्मानो विमानैः सूर्यसन्निभै ॥ ९३ ॥

त्यक्तदेहा नवैर्देहैः^१ स्वर्याताः परमर्षयः ।

यक्षत्वमरत्वं च राज्यानि विविधानि च ।

अत्र देवाः प्रयच्छन्ति भूतैरराराधिताः शुभैः ॥ ९४ ॥

नियताहार हो धर्म की आराधना करने के लिये वास करते हैं । यहाँ महात्मा सिद्ध तथा महर्षि, सूर्य की तरह चमचमाते विमानों में बैठ कर, यह शरीर छोड़ कर और दिव्य शरीर धारण कर, स्वर्ग को चले जाते हैं । जो पुण्य कर्म करने वाले हैं, वे इस आश्रम में रह कर, देवताओं के अनुग्रह से देवत्व, यज्ञत्व, राज्य तथा विविध प्रकार के ईस्ति पदार्थों को पाते हैं ॥ ६३ ॥ ६४ ॥

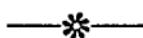
आगताः स्माश्रमपदं सौमित्रे प्रविशाग्रतः ।

निवेदयेह मां प्राप्तमृषये सीतया सह ॥ ९५ ॥

इति एकादशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण ! अब हम आश्रम में आ पहुँचे हैं । अब तुम आगे जा कर, उनको सीता सहित हमारे आगमन की सूचना दो ॥ ६५ ॥

अररण्यकारण का ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।



१ नवैः — दिव्यैः । (गो०) २ भूतैः — प्राणिभिः । (गो०)

द्वादशः सर्गः

—*—

स प्रविश्याश्रमपदं लक्ष्मणो राघवानुजः ।

अगस्त्यशिष्यमासाद्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के छोटे भाई लक्ष्मण आश्रम में गये और अगस्त्य जी के शिष्य के पास जा उससे यह बचन बोले ॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम ज्येष्ठस्तस्य सुतो बली ।

रामः प्राप्तो मुनिं द्रष्टुं भार्यया सह सीतया ॥ २ ॥

महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र, बलबान् श्रीरामचन्द्र जी, अपनी स्त्री सीता जी के साथ, मुनि के दर्शन करने को आये हैं ॥ २ ॥

लक्ष्मणो नाम तस्याहं भ्राता त्ववरजो हितः^१ ।

अनुकूलश्च भक्तश्च यदि ते श्रोत्रमागतः ॥ ३ ॥

मेरा नाम लक्ष्मण है और मैं उनका हितकारी, प्रिय और प्रीतिमान् छोटा भाई हूँ । कदाचित् श्रीरामचन्द्र जी के प्रसङ्ग में आपने मेरा नाम भी सुना हो ॥ ३ ॥

ते वयं वनयत्युग्रं प्रविष्टाः पितृशासनात् ।

द्रष्टुमिच्छामहे सर्वे भगवन्तं निवेद्यताम् ॥ ४ ॥

हम लोग पिता की आङ्गा से इस भयङ्कर वन में आये हैं । आप जा कर, भगवान् अगस्त्य जी से निवेदन करें कि, हम लोग उनके दर्शन करना चाहते हैं ॥ ४ ॥

१ हितः — हितकारी । (गो०) २ अनुकूलः — प्रियकरः । ३ भक्तः — प्रीतिमान् । (गो०)

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य तपोधनः ।

तथेत्युक्त्वाऽग्निशरणं^१ प्रविवेश निवेदितुम् ॥ ५ ॥

लक्ष्मण के ये वचन सुन वह शिष्य बहुत अच्छा कह कर, अग्निशाला में, अगस्त्य जी से निवेदन करने के लिये गया ॥ ५ ॥

स प्रविश्य मुनिश्रेष्ठं तपसा दुष्प्रधर्षणम्^२ ।

कृताञ्जलिरुवाचेदं रामागमनमञ्जसा ॥ ६ ॥

उस शिष्य ने अग्निशाला में जा और हाथ जोड़ कर, तपोबल से युक्त मुनिश्रेष्ठ अगस्त्य जी से श्रीराम जी के आगमन का वृत्तान्त कहा ॥ ६ ॥

यथोक्तं लक्ष्मणेनैव शिष्योऽगस्त्यस्य सम्मतः ।

पुत्रौ दशरथस्येमौ रामो लक्ष्मण एव च ॥ ७ ॥

प्रविष्टावाश्रमपदं सीतया सह भार्यया ।

द्रष्टुं भवन्तमायातौ शुश्रूषार्थमरिन्दमौ ॥ ८ ॥

अगस्त्य जी के कृपापात्र शिष्य ने लक्ष्मण जी के कथनानुसार कहा कि, महाराज दशरथ के राजकुमार श्रीराम और लक्ष्मण, आप के आश्रम में अपनी भार्या सहित आये हैं और वे शत्रुतापन आपके दर्शन और आपकी सेवा शुश्रूषा करना चाहते हैं ॥ ७ ॥ ८ ॥

यदत्रानन्तरं तत्त्वमाज्ञापयितुमर्हसि ।

ततः शिष्यादुपश्रुत्य प्राप्तं रामं सलक्ष्मणम् ॥ ९ ॥

वैदेहीं च महाभागामिदं वचनमब्रवीत् ।

दिष्ट्याः^३ रामश्चिरस्याद्य द्रष्टुं मां समुपागतः ॥ १० ॥

^१ अग्निशरण—अग्निगृहं । (गो०) ^२ दुष्प्रधर्षण—मुनिश्रेष्ठम् । (गो०)

^३ दिष्ट्या—भाग्यमेतत् । (रा०)

अब जो कुछ मुझे कर्तव्य हो सो आज्ञा कीजिये । शिष्य के मुख से श्रीरामचन्द्र वा लक्ष्मण वा महाभागा सीता जी का आगमन सुन, अगस्त्य जी बोले—यह बड़े भाष्य की बात है कि, बहुत दिनों पर श्रीरामचन्द्र जी मुझसे मिलने आये हैं ॥ ६ ॥ १० ॥

मनसा काङ्क्षितं हथस्य मयाप्यागमनं प्रति ।

गम्यतां सत्कृतो रामः सभार्यः सहलक्ष्मणः ॥ ११ ॥

प्रवेश्यतां समीपं मे किं चासौ न प्रवेशितः ।

एवमुक्तस्तु मुनिना धर्मज्ञेन महात्मना ॥ १२ ॥

मेरे मन में भी उनसे मिलने की अभिलाषा थी । सो तुम जा कर लक्ष्मण और सीता सहित श्रीरामचन्द्र जी को बड़े आदर के साथ लिवा लाओ । तुम शीघ्र उनको मेरे पास लिवा क्यों नहीं लाये । जब धर्मज्ञ महात्मा अगस्त्य जी ने इस प्रकार कहा ॥ ११ ॥ १२ ॥

अभिवाद्याब्रवीच्छिष्यस्तथेति नियताङ्गलिः ।

ततो निष्क्रम्य सम्भ्रान्तः शिष्यो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ १३ ॥

तब शिष्य, प्रणाम कर और हाथ जोड़ कर, यह कहता हुआ कि बहुत अच्छा अभी लिनाये लाता हूँ, बाहर गया और आदर पूर्वक लक्ष्मण जी से बोला ॥ १३ ॥

क्वासौ रामो मुनिं द्रष्टुमेतु प्रविशतु स्वयम् ।

ततो गत्वाऽश्रमद्वारं शिष्येण सह लक्ष्मणः ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र कौन से हैं वे आवें और मुनि जी का दर्शन करें । लक्ष्मण जी उस शिष्य को अपने साथ ले आश्रम के द्वार पर गये ॥ १४ ॥

दर्शयामास काकुत्स्थं सीतां च जनकात्मजाम् ।

तं शिष्यः प्रश्रितो^१ वाक्यमगस्त्यवचनं ब्रुवन् ॥ १५ ॥

और उस शिष्य को जनकनन्दिनी सीता और श्रीरामचन्द्र को दिखलाया । उस शिष्य ने प्रीति सहित अगस्त्य जी का संदेशा श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ १५ ॥

प्रावेशयद्यथान्यायं सत्काराहं सुसत्कृतम् ।

प्रविवेश ततो रामः सीतया सह लक्ष्मणः ॥ १६ ॥

फिर उन सत्कार करने योग्यों का यथाविधि सत्कार कर, वह शिष्य श्रीरामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण को आश्रम के भीतर ले गया ॥ १६ ॥

प्रशान्तहरिणाकीर्णमाश्रमं हृच्यवलोकयन् ।

स तत्र ब्रह्मणः स्थानमय्येः स्थानं तथैव च ॥ १७ ॥

विष्णोः स्थानं महेन्द्रस्य स्थानं चैव विवस्वतः ।

सोमस्थानं भगस्थानं स्थानं कौबेरमेव च ॥ १८ ॥

धातुर्विधातुः स्थाने च वायोः स्थानं तथैव च ।

नागराजस्य च स्थानमनन्तस्य महात्मनः ॥ १९ ॥

स्थानं तथैव गायत्र्या वसूनां स्थानमेव च ।

स्थानं च पाशहस्तस्य वरुणस्य महात्मनः ॥ २० ॥

कार्त्तिकेयस्य च स्थानं धर्मस्थानं च पश्यति ।

ततः शिष्यैः परिवृतो मुनिरप्यभिनिष्पत्त ॥ २१ ॥

^१ प्रश्रितं — प्रीतियुक्तं । (२०)

उस आश्रम के भीतर जा श्रीरामचन्द्रादि ने देखा कि, आश्रम में शान्त स्वभाव हिरन चारों ओर बैठे हैं। इन तीनों ने देखा कि, अगस्त्य जी के आश्रम में ब्रह्मा, अग्नि, विष्णु, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, भग, कुवेर, धाता, विधाता, वायु, नागराज शेष जी, गायत्री, वसु, वरुण, कार्तिकेय, धर्मराज के स्थान वा मन्दिर बने हुए हैं। इतने में शिष्यों को साथ लिये हुए अगस्त्य जी भी अग्निशाला से निकले ॥ १७ ॥ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥

तं ददर्श्यितो रामो मुनीनां दीप्तेजसाम् ।

अब्रवीद्वचनं वीरो लक्ष्मण लक्ष्मिवर्धनम् ॥ २२ ॥

तब वीर श्रीरामचन्द्र जी ने मुनियों में सब से बढ़ कर तेजस्वी अगस्त्य जी की सामने से आता हुआ देख, शोभा बढ़ाने वाले लक्ष्मण जी से कहा ॥ २२ ॥

एष लक्ष्मण निष्क्रामत्यगस्त्यो भगवानृषिः ।

औदार्येण^१ वगच्छामि२ निधानं तपसामिमम् ॥ २३ ॥

हे लक्ष्मण ! भगवान् अगस्त्य ऋषि अग्निशाला से निकल कर, आरहे हैं। इनके तेज विशेष को देखने से जान पड़ता है कि, यह तप की खान है ॥ २३ ॥

एवमुक्त्वा महावाहुरगस्त्यं सूर्यवर्चसम् ।

जग्राह परमप्रीतस्तस्य पादौ परन्तपः ॥ २४ ॥

यह कह, महावाहु श्रीरामचन्द्र जी ने सूर्य के समान तेजस्वी महर्षि अगस्त्य के चरण छुए ॥ २४ ॥

१ औदार्येण—तपोजनिततेजोविशेषधौत्कर्षेण । (शि०) २ अवगच्छामि—जानामि । (शि०)

अभिवाद्य तु धर्मात्मा तस्थौ रामः कृताञ्जलिः ।

सीतया सह वैदेहया तदा रामः सलक्ष्मणः ॥ २५ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण जी सहित प्रणाम कर के हाथ जोड़े हुए खड़े रहे ॥ २५ ॥

प्रतिजग्राह^१ काकुत्स्थमर्चयित्वाऽसनोदकैः ।

कुशलप्रश्नमुक्त्वा च हयास्यतामिति चाब्रवीत् ॥ २६ ॥

तब महर्षि अगस्त्य जी ने श्रीरामचन्द्र जी को अतिथि मान, आसन और पैर धोने को जल दिया । तदनन्तर कुशल पूँछ कर, कहा कि बैठिये ॥ २६ ॥

अग्निं हुत्वा^२ प्रदायाध्यमतिथीन्प्रतिपूज्य^३ च ।

वानप्रस्थेन धर्मेण^४ स तेषां भोजनं ददौ ॥ २७ ॥

तदनन्तर वैश्वदेव कर और अध्य, पाद, आचमन, पुष्पादि से उन अतिथियों का पूजन कर, सिद्ध किये हुए कन्द मूल भोजन करने के लिये दिये ॥ २७ ॥

प्रथमं चोपविश्याथ धर्मज्ञो मुनिपुज्जवः ।

उवाच राममासीनं प्राञ्जलिं धर्मकोविदम् ॥ २८ ॥

तदनन्तर धर्मज्ञ महर्षि अगस्त्य प्रथम आसन पर बैठ, पीछे कर जोड़ कर बैठे हुए धर्मकोविद श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ २८ ॥

१ प्रतिजग्राह—अतिथित्वेनेति शेषः । (गो०) २ अग्निंहुत्वा—वैश्वदेवं कृत्वा । (गो०) ३ प्रतिपूज्य—आचमनीयपुष्पादिभिः पूजयित्वा । (गो०) ४ वानप्रस्थेन धर्मेण—सिद्धभोजनं कन्दमूलादिकं ददौ । (गो०)

अग्नि हुत्वा प्रदायार्घ्यमतिथि प्रतिपूजयेत् ।

अन्यथा खलु काकुत्स्थ तपस्वी समुदाचरन् ॥ २९ ॥

दुःसाक्षीव^१ परे लोके स्वानि मांसानि भक्षयेत् ।

राजा सर्वस्य लोकस्य धर्मचारी महारथः ॥ ३० ॥

पूजनीयश्च मान्यश्च भवान्प्राप्तः प्रियातिथिः ।

एवमुक्त्वा फलमूलैः पुष्टैरन्यैश्च राघवम् ॥ ३१ ॥

हे काकुत्स्थ, वैश्वदेव कर तथा अध्यादि से अतिथि का पूजन करना चाहिये । जो तपस्वी ऐसा नहीं करता, वह परलोक में मिथ्यावादी गवाह की तरह अपना माँस आप खाता है । आप तो सब लोकों के स्वामी धर्मचारी और महारथी हैं । सो आप जैसे विशिष्ट एवं प्रिय अतिथि आज हमारे पाहुने हुए हैं । अतः आपका पूजन और सत्कार करना हमारा कर्तव्य है । यह कह कर फल, मूल, पुष्ट तथा अन्य पदार्थों को ला कर महर्षि, श्रीरामचन्द्र जी का ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥

पूजयित्वा यथाकामं पुनरेव ततोऽब्रवीत् ।

इदं दिव्यं महच्चापं हेमरत्नविभूषितम् ॥ ३२ ॥

वैष्णवं पुरुषव्याघ्रं निर्मितं विश्वकर्मणा ।

अमोघः सूर्यसङ्काशो ब्रह्मदत्तः शरोत्तमः ॥ ३३ ॥

दत्तौ मम महेन्द्रेण तूणी चाक्षयसायकौ ।

सम्पूर्णौ निशितैर्बाणैर्ज्वलद्विरिव पावकैः ॥ ३४ ॥

यथेष्ट पूजन कर कहा—हे पुरुषसिंह ! इस दिव्य बड़े धनुष को, जो सुवर्ण और हीरों से भूषित है और जिसको विश्व

^१ दुःसाक्षी—कृदसाक्षी । (गो०) ।

कर्मा ने भगवान् विष्णु के लिये बनाया था ; आप ग्रहण करें । ब्रह्मा के दिये हुए अमोध (जो कभी खाली न जाँय) और सूर्य के समान चमचमाते (जिसमें जंग नहीं लगी) इस उत्तम बाण की, और इन्द्र के दिये हुए इन तरकसों को, जिनमें बाण कभी नहीं निघटते, और जिनमें अग्नि के समान चमचमाते शत्रुको दग्ध करने वाले बाण भरे हैं, आप ग्रहण कीजिये ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

महारजत^१कोशोऽयमसिहेमविभूषितः ।

अनेन धनुषा राम हत्वा संख्ये महाऽसुरान् ॥ ३५ ॥

आजहार श्रियं दीप्तां पुरा विष्णुर्दिवौकसाम् ।

तद्दनुस्तौ च तूणीरौ शरं खड्गं च मानद ॥

जयाय प्रतिगृहीष्व वज्र वज्रधरो यथा ॥ ३६ ॥

सोने की म्यान सहित इस सोने की मूँठ वाली तलवार को भी आप लें । हे राम ! इसी धनुष से विष्णु ने युद्ध में असंख्य असुरों को मार कर, देवताओं के लिये विजयलहमी प्राप्त की थी । हे मानद ! सो, इन्द्र जिस प्रकार वज्र धारण करते हैं, उसी प्रकार आप भी, शत्रुओं को जीतने के लिये, यह धनुष, तरकस, तीर और खड्ग ले कर, धारण कीजिये ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

एवमुक्त्वा महातेजाः समस्तं तद्वायुधम् ।

दत्त्वा रामाय भगवानगस्त्यः पुनरब्रवीत् ॥ ३७ ॥

॥ इति द्वादशः सर्गः ॥

^१ महारजतं—सुवर्ण । (गो०) ।

महातेजस्वी भगवान् महर्षि अगस्त्य, श्रीरामचन्द्र जी से यह कह कर और उन सर्वश्रेष्ठ आयुधों उनको दे कर, उनसे फिर कहने लगे ॥३७॥

[नोट — किसी किसी संस्करण के इस सर्ग में लगभग २६ श्लोक और पाये जाते हैं, किन्तु प्रक्षिप्त होने के कारण वे यहाँ छोड़ दिये गये हैं ।]

अरण्यकाण्ड का बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—;*;—

त्रयोदशः सर्गः

—;*;—

राम प्रीतोऽस्मि भद्रं ते परितुष्टोऽस्मि लक्ष्मण ।

अभिवादयितुं यन्मां प्राप्तां स्थः सह सीतया ॥ १ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! और हे लक्ष्मण ! तुम्हारा मङ्गल हो, तुम दोनों सीता सहित हमें प्रणाम करने आये, इससे हम तुम्हारे ऊपर बड़े प्रसन्न हैं ॥ १ ॥

अध्वश्रमेण वां खेदो वाधते प्रचुरश्रमः ।

व्यक्तमुत्कण्ठते चापि मैथिली जनकात्मजा ॥ २ ॥

यह स्पष्ट विदित होता है कि, मार्ग चलने की थकावट से तुमको महाकष्ट हुआ है । जनकनन्दिनी मैथिली भी विश्राम करने को उत्सुक जान पड़ती हैं ॥ २ ॥

एषा हि सुकुमारी च दुःखैश्च न विमानिता ।

प्राज्यदोषं^१ वनं प्राप्ता भर्तुस्नेहप्रचोदिता ॥ ३ ॥

यह बड़ी ही सुकुमार हैं, इन्होंने काहे को ऐसे कष्ट कभी सहे होंगे । किन्तु पतिस्नेह से प्रेरित हो, अनेक कष्ट देने वाले इस वन में आयी हैं ॥ ३ ॥

^१ प्राज्यदोषं—बहुदोषं । (गो०)

यथैषा रमते राम इह सीता तथा कुरु ।

दुष्करं कृतवत्येषा वने त्वामनुगच्छती ॥ ४ ॥

इस आश्रम में, जिस प्रकार इनको सुख मिले, तुम वैसा ही करो। इन्होंने यह बड़ा ही दुष्कर कार्य किया जो ये तुम्हारे साथ वन में आयी हैं ॥ ४ ॥

एषा हि प्रकृतिः स्त्रीणामासृष्टे रघुनन्दन ।

समस्थमनुरज्यन्ति विषमस्थं त्यजन्ति च ॥ ५ ॥

क्योंकि सृष्टि के प्रारम्भ ही से स्त्रियों का स्वभाव यही चला आता है कि, स्त्रियाँ सुख में तो अपने पतियों का साथ देती हैं और विपर्ति में उनका साथ छोड़ देती हैं ॥ ५ ॥

शतहदानां लोलत्वं शस्त्राणां तीक्ष्णतां तथा ।

गरुडानिलयोः शैव्रचमनुगच्छन्ति योषितः ॥ ६ ॥

स्त्रियों का मन विजली की तरह चश्चल होता है। ये शस्त्रों की धार की तरह तेज स्वभाव वाली, (अर्थात् ऐसे कटु बचन बोलने वाली जो शस्त्र की तरह हृदय के आर पार हो जाय) और गरुड़ तथा वायु की तरह शीत्रता की अनुगामिनी होती हैं, अर्थात् इनके विचार बड़ी जल्दी जल्दी बदला करते हैं ॥ ६ ॥

इयं तु भवतो भार्या दोषैरेतैर्विवाजता ।

श्लाघ्या च व्यपदेश्या^१ च यथा देवी ह्रस्न्धती ॥ ७ ॥

किन्तु हे रामचन्द्र ! आपकी भार्या इन सीता जी में, इन दोषों में से एक भी दोष नहीं है। इसलिये ये तो प्रशंसनीय और अरुन्धती की तरह पतिव्रता स्त्रियों की सिरमौर हैं ॥ ७ ॥

१ व्यपदेश्या — पतिव्रतास्वप्रगत्या । (गो०)

अलङ्कुतोऽयं देशश्च यत्र सौमित्रिणा सह ।

वैदेह्या चानया राम वत्स्यसि त्वमरिन्दम् ॥ ८ ॥

हे शत्रुघ्नों को दमन करने वाले ! तुमने सीता और लक्ष्मण सहित यहाँ वास कर, इस स्थान की शोभा बढ़ा दी । अथवा तुम, लक्ष्मण और सीता सहित जहाँ रहोगे, वही स्थान शोभायुक्त हो जायगा ॥ ८ ॥

एवमुक्तः स मुनिना राघवः संयताञ्जलिः ।

उवाच प्रश्रितं वाक्यमृषिं दीप्तिमिवानलम् ॥ ९ ॥

ऋषि के ऐसा कहने पर, श्रीरामचन्द्र जी ने हाथ जोड़ कर और विनम्र हो, अग्नि के समान तेजस्वी अगस्त्य मुनि से कहा ॥ ९ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे सुनिपुञ्जवः ।

गुणैः सभ्रातृभार्यस्य वरदः परितुष्यति ॥ १० ॥

मैं अपने को धन्य और अनुगृहीत समझाता हूँ कि, आप जैसे वरदाता मेरे, मेरे भाई और भार्या के गुणों से परम सन्तुष्ट हैं ॥ १० ॥

किंतु व्यादिश मे देशं सोदकं बहुकाननम् ।

यत्राश्रमपदं कृत्वा वसेयं निरतः^१ सुखम् ॥ ११ ॥

किन्तु हे मुनिवर ! मुझे कोई ऐसा स्थान बतलाइये, जहाँ जल का कष्ट न हो, जो मनोहर वनों से युक्त हो और जहाँ मैं आश्रम बना कर और एकाग्र हो, सुखपूर्वक वास करूँ ॥ ११ ॥

ततोऽब्रवीन्मुनिश्रेष्ठः श्रुत्वा रामस्य तद्वचः ।

ध्यात्वा मुहूर्तं धर्मात्मा धीरो^२ धीरतरं^३ वचः ॥ १२ ॥

^१ निरतः—एकाग्रः । (गो०) ^२ धीर—धीमान् । (गो०) ^३ धीरतरं—अतिनिश्चितं । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी के कथन को सुन, धर्मात्मा श्रीमान् एवं मुनि-
श्रेष्ठ अगस्त्य जी मुहूर्त भर ध्यानमग्न हो (सोच कर), यह अति
निश्चित (भली भाँति सोचा विचारा हुआ) वचन बोले ॥ १२ ॥

इतो द्वियोजने तात बहुमूलफलोदकः ।

देशो बहुमृगः श्रीमान्पञ्चवट्यभिविश्रुतः ॥ १३ ॥

हे तात ! यहाँ से एक योजन (चारकोस) के अन्तर पर बहुत
से फूलों और फलों से युक्त और जल तथा मृगों से भरा पूरा, पञ्च-
वटी नाम का एक प्रसिद्ध स्थान है ॥ १३ ॥

तत्र गत्वाऽश्रयपदं कृत्वा सौमित्रिणा सह ।

रंस्यसे त्वं पितुर्वाक्यं यथोक्तमनुपालयन् ॥ १४ ॥

तुम लक्ष्मण जी सहित वहाँ जाओ और आश्रम बना कर,
अपने पिता के वचन का यथाविधि पालन करते हुए, सुखपूर्वक
रहो ॥ १४ ॥

विदितो हेयष वृत्तान्तो मम सर्वस्तवानघ ।

तपसश्च प्रभावेन स्नेहादशरथस्य च ॥ १५ ॥

हृदयस्थश्च ते छन्दो^१ विज्ञातस्तपसा मया ।

इह वासं प्रतिज्ञाय मया सह तपोवने ॥ १६ ॥

हे अनघ (पाप रहित) ! महाराज दशरथ मेरे स्नेही थे, सो
हमें तपःप्रभाव से तुम्हारा समस्त वृत्तान्त मालूम है । इतना ही
नहीं, बल्कि तप के प्रभाव से हमें यह भी मालूम है कि, तुम्हारे
मन में क्या है । तभी तो तुम इस तपोवन में वास करने की हमसे
प्रतिज्ञा कर के भी, रहने के लिये मुझसे अन्य स्थान पूँछते
हो ॥ १५ ॥ १६ ॥

^१ छन्दोभिप्रायः । (गो०)

अतश्च त्वामहं ब्रपि गच्छ पञ्चवटीमिति ।

स हि रम्यो वनादेशो मैथिली तत्र रंस्यते ॥ १७ ॥

अतएव हे राम ! मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम पञ्चवटी में जा कर रहो । उस रमणीक वनस्थली में सीता का मन भी लग जायगा ॥ १७ ॥

स देशः श्लाघनीयश्च नातिदूरे च राघव ।

गोदावर्याः समीपे च मैथिली तत्र रंस्यते ॥ १८ ॥

हे राघव ! वह स्थान सराहनीय है और यहाँ से दूर भी नहीं है, तथा गोदावरी के समीप है । वहाँ सीता जी का मन लग जायगा ॥ १८ ॥

प्राज्यमूलफलश्चैव नानाद्विजगणायुतः ।

विविक्तश्च महावाहो पुण्यो रम्यस्तथैव च ॥ १९ ॥

वहाँ कन्दमूल और फलों की बहुतायत है और तरह तरह के पक्षियों से वह स्थान भरा हुआ है । हे महावाहो ! वह एकान्त, पवित्र और रम्य स्थान है ॥ १९ ॥

भवानपि सदारश्च शक्तश्च परिरक्षणे^१ ।

अपि चात्र वसन्नराम तापसान्पालयिष्यसि ॥ २० ॥

हे श्रीराम ! आप सीता जी सहित तपस्वियों की रक्षा कर सकते हैं । सो वहाँ रह कर आप तपस्वियों का पालन भी कर सकेंगे ॥ २० ॥

एतदालक्ष्यते वीर मधुकानां महद्वनम् ।

उत्तरेणास्य गन्तव्यं न्यग्रोधमभिगच्छता ॥ २१ ॥

^१ परिरक्षणे—तापसानामितिशेषः । (गो०)

हे श्रीराम ! यह जो महुओं का महावन दिखाई पड़ता है, उसके उत्तर की ओर से जा कर एक बट वृक्ष के पास तुम पहुँचोगे ॥२१॥

ततः स्थलमुपारुह्य पर्वतस्याविदूरतः ।

ख्यातः पञ्चवटीत्येव नित्यपुष्पितकाननः ॥ २२ ॥

बट वृक्ष के आगे पर्वत के समीप समतल भूमि में पहुँचने पर, पुष्पों से सदा झुशोभित पञ्चवटी नाम का विख्यात वन तुमको मिलेगा ॥ २२ ॥

अगस्त्येनैवमुक्तस्तु रामः सौमित्रिणा सह ।

सत्कृत्यामन्त्रयामास तमृषिं सत्यवादिनम् ॥ २३ ॥

अगस्त्य जी के इस प्रकार कहने पर, श्रीरामचन्द्र जी ने लह्मण सहित, उन सत्यवादी ऋषि का भली भाँति पूजन कर, उनसे विदा माँगी ॥ २३ ॥

तै तु तेनाभ्यनुज्ञातौ कृतपादाभिवन्दनौ ।

तदाश्रमात्पञ्चवटीं जग्मतुः सह सीतया ॥ २४ ॥

अगस्त्य जी की अनुमति प्राप्त कर, दोनों राजकुमारों ने ऋषि को प्रणाम किया और सीता को साथ ले, वे उनके आश्रम से पञ्चवटी के लिये रवाना हुए ॥ २४ ॥

गृहीतचापौ तु नराधिपात्मजौ

विषक्ततूणौ^१ समरेष्वकातरौ ॥

यथोपदिष्टेन पथा महर्षिणा

प्रजग्मतुः पञ्चवटीं समाहितौ ॥ २५ ॥

इति त्रयोदशः सर्गः ॥

^१ विषक्ततूणौ—वद्वतूणीरौ । (गो०)

समर में न डरने वाले दोनों राजकुमार, धनुष बाण धारण कर और पीठ पर तरकसों को बाँध, अगस्त्य जी के बतलाये मार्ग से, बड़ी सावधानी के साथ, पञ्चवटी की ओर चले ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

चतुर्दशः सर्गः

—*—

अथ पञ्चवटीं गच्छन्नन्तरा रघुनन्दनः ।

आससाद् महाकायं गृध्रं भीमपराक्रमम् ॥ १ ॥

पञ्चवटी की ओर जाते हुए श्रीरामचन्द्र जी ने मार्ग में एक बड़े भारी शरीर वाले और भयानक पराक्रमी गीध को देखा ॥ १ ॥

तं दृष्ट्वा तौ महाभागौ वटस्थं रामलक्ष्मणौ ।

मेनाते^१ राक्षसं पक्षिं ब्रुवाणौ को भवानिति ॥ २ ॥

महाभाग श्रीराम लक्ष्मण ने, अगस्त्य जी के बतलाये हुए वट वृक्ष पर उसे बैठा देख और उसे राक्षस समझ, उससे पूछा कि, तू कौन है ? ॥ २ ॥

स तौ मधुरया वाचा सौम्यया^२ प्रीणयन्निव ।

उवाच वत्स मां विद्धि वयस्यं पितुरात्मनः ॥ ३ ॥

गीध ने बड़े सौजन्य के साथ, और मधुर शब्दों में, श्रीरामचन्द्र जी को प्रसन्न करते हुए, उत्तर दिया—हे वत्स ! मुझे तुम अपने पिता का मित्र जानो ॥ ३ ॥

^१ मेनाते—मत्वा । (गो०) ^२ सौम्यया—सौजन्यपरया । (गो०) ।

स तं पितृसखं बुद्ध्वा पूजयामास राघवः ।

स तस्य कुलमब्यग्रमथ^१ पप्रच्छ नाम च ॥ ४ ॥

तब तो श्रीरामचन्द्र जी ने उसे अपने पिता का मित्र जान, उसका आदर सकार किया और उससे उसका ठीक कुल और नाम पूँछा ॥ ४ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा सर्वभूतसमुद्धवम् ।

आचचक्षे द्विजस्तस्मै कुलमात्मानमेव च ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के वचन सुन, गीध ने सब जीवों की उत्पत्ति के वर्णन का प्रसङ्ग क्रेड़, अपना कुल और नाम बतलाया ॥ ५ ॥

पूर्वकाले महावाहो ये प्रजापतयोऽभवन् ।

तान्मे निगदतः सर्वानादितः श्रृणु राघव ॥ ६ ॥

हे महावाहो ! पूर्वकाल में जो प्रजापति हो चुके हैं, उन सब का मैं आदि से वर्णन करता हूँ । आप सुनिये ॥ ६ ॥

कर्दमः प्रथमस्तेषां विश्रुतस्तदनन्तरः ।

शेषश्च संश्रयश्चैव बहुपुत्रश्च वीर्यवान् ॥ ७ ॥

स्थाणुर्मरीचिरत्रिश्च क्रतुश्चैव महाबलः ।

पुलस्त्यश्चाङ्गिराश्चैव प्रचेताः पुलहस्तथा ॥ ८ ॥

दक्षो विवस्वानपरोरिष्टनेमिश्च राघव ।

कश्यपश्च महातेजास्तेषामासीच पश्चिमः ॥ ९ ॥

१ कर्दम प्रजापति उन सब में बड़े थे । उनके बाद २ विकृत,
३ शेष, ४ संश्रय, ५ बहुपुत्र, ६ स्थाणु, ७ मरीचि ८ अत्रि, ९ कतु
१० पुलस्त्य ११ अंगिरा १२ प्रचेता १३ पुलह १४ दक्ष १५ विवस्वान
१६ अरिष्टनेभि १७ और सब से पीछे कश्यप हुए ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

प्रजापतेस्तु दक्षस्य बभूवुरिति विश्रुतम् ।

षष्ठिर्दुहितरो राम यशस्विन्यो महायशः ॥ १० ॥

हे महायशस्वी राम ! इनमें से दक्ष प्रजापति के यशस्विनी
और लोक में विख्यात साठ कन्याएँ उत्पन्न हुईं ॥ १० ॥

कश्यपः प्रतिजग्राह तासामष्टौ सुमध्यमाः ।

अदितिं च दितिं चैव दनुमप्यथ कालिकाम् ॥ ११ ॥

इनमें से आठ अति सुन्दरी कन्याओं का विवाह कश्यप जो ने
अपने साथ किया । उन आठ कन्याओं के नाम ये हैं—१ अदिति,
२ दिति, ३ दनु, ४ कालिका, ॥ ११ ॥

ताम्रां क्रोधवशां चैव मनुं चाप्यनलामपि ।

तास्तु कन्यास्ततः प्रीतः कश्यपः पुनरब्रवीत् ॥ १२ ॥

५ ताम्रा, ६ क्रोधवशा, ७ मनु और ८ अनला हैं । इन आठों से
कश्यप ने पुनः कहा ॥ १२ ॥

पुत्रांस्त्वैलोक्यभर्तृन्वै जनयिष्यथ मत्समान् ।

अदितिस्तन्मना राम दितिश्च मनुर्जर्जभ ॥ १३ ॥

कि, तुम मेरे समान और तीनों लोकों का भरण पोषण करने
वाले पुत्र उत्पन्न करो । यह सुन कर, दिति, अदिति, ॥ १३ ॥

कालिका च महावाहो शेषास्त्वमनसोऽभवन् ।

आदित्यां जग्निरे देवास्त्रयस्मिंशदरिन्दम् ॥ १४ ॥

और कालिका ने तो अंगीकार किया और शेष ने पति की बात पर ध्यान न दिया । आदिति से ३३ देवता उत्पन्न हुए ॥ १४ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा हयश्विनौ च परन्तप ।

दितिस्त्वंजनयत्पुत्रान्दैत्यांस्तात् यशस्विनः ॥ १५ ॥

अर्थात् १२ आदित्य, ८ वसु, ११ रुद्र, २ अश्विनी कुमार । हे अरिन्दम ! दिति के गर्भ से यशस्वी दैत्य उत्पन्न हुए ॥ १५ ॥

तेषामियं वसुमती पुरासीत्सवनार्णवा ।

दनुस्त्वजनयत्पुत्रमश्वग्रीवमरिन्दम् ॥ १६ ॥

पहले वन और समुद्र सहित यह पृथिवी उन्होंकी थी । हे अरिन्दम ! दनु ने अश्वग्रीव नामक एक पुत्र उत्पन्न किया ॥ १६ ॥

नरकं कालकं चैव कालिकापि व्यजायत ।

क्रौञ्चीभासीं तथा श्येनीं धृतराष्ट्रीं तथा शुकीम् ॥ १७ ॥

कालिका ने नरक और कालक दो पुत्र उत्पन्न किये ; कौञ्ची, भासी, श्येनी, धृतराष्ट्री और शुकी ॥ १७ ॥

ताम्रापि सुषुवे कन्याः पञ्चैता लोकविश्रुताः ।

उलूकाञ्जनयज्ञक्रौञ्ची भासी भासान्व्यजायत ॥ १८ ॥

ये लोकविख्यात पाँच कन्याएँ, ताम्रा के गर्भ से उत्पन्न हुईं । इनमें से क्रौञ्ची के गर्भ से उलूक, और भासी के गर्भ से भाषक नामक पक्षी उत्पन्न हुए ॥ १८ ॥

श्येनो श्येनांश्च गृध्रांश्च व्यजायत सुतेजसः ।

धृतराष्ट्री तु हंसांश्च कलहंसांश्च सर्वशः ॥ १९ ॥

श्येनी के गर्भ से अति तेजस्वी श्येन और गीध उत्पन्न हुए और धृतराष्ट्री से सब हंस और कलहंस उत्पन्न हुए ॥ १९ ॥

चक्रवाकांश्च भद्रं ते विजज्ञे साऽपि भामिनी ।

शुक्री नतां विजज्ञे तु नताया विनता सुता ॥ २० ॥

चक्रवाक भी उसीके गर्भ से उत्पन्न हुए । शुक्री से नता नास्त्री लड़की उत्पन्न हुई और नता से विनता की उत्पत्ति हुई ॥ २० ॥

दश क्रोधवशा राम विजज्ञे हयात्मसम्भवा ।

मृगीं च मृगमन्दां च हरिं भद्रमदामपि ॥ २१ ॥

हे राम ! क्रोधवशा के दस लड़कियाँ उत्पन्न हुईं, जिनके नाम ये हैं १ मृगी, २ मृगनन्दा ३ हरी, ४ भद्रमदा ॥ २१ ॥

मातङ्गीमपि शार्दूलीं श्वेतां च सुरभिं तथा ।

सर्वलक्षणसम्पन्नां सुरसां कदुकामपि ॥ २२ ॥

५ मातङ्गी, ६ शार्दूली, ७ श्वेता, ८ सुरभि, ९ सर्वलक्षण सम्पन्ना सुरसा और १० कदुकी ॥ २२ ॥

अपत्यं तु मृगाः सर्वे मृग्या नरवरोत्तम ।

ऋक्षाश्च मृगमन्दायाः सुमराश्चमरास्तथा ॥ २३ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! मृगी से समस्त मृग, उत्पन्न हुए और मृगमन्दा से रीढ़, सूमर और चमर (सुरागाय) उत्पन्न हुए ॥ २३ ॥

हर्याश्च हरयोऽपत्यं वानराश्च तरस्विनः ।

ततस्त्विरावतीं नाम जडे भद्रमदा सुताम् ॥ २४ ॥

हरी नाम खी से बलवान सिंह और वानर उत्पन्न हुए । तदनन्तर इरावती नाम की कन्या भद्रमदा से उत्पन्न हुई ॥ २४ ॥

तस्यास्त्वैरावतः पुत्रो लोकनाथो महागजः ।

मातङ्गास्त्वथ मातङ्गच्चा अपत्यं मनुजर्षभ ॥ २५ ॥

इरावती से ऐरावत नामक महागज, जो एक दिग्गज है, उत्पन्न हुआ । हे नरश्रेष्ठ ! मातङ्गी से सब हाथी उत्पन्न हुए ॥ २५ ॥

गोलाङ्गलांश्च शार्दूली व्याघ्रांश्चाजनयत्सुतान् ।

दिशागजांश्च काकुत्स्थ श्वेताऽप्यजनयत्सुतान् ॥ २६ ॥

शार्दूली से गोलाङ्गल और व्याघ्र उत्पन्न हुए । हे काकुत्स्थ ! श्वेता ने दिग्गजों को उत्पन्न किया ॥ २६ ॥

ततो दुहितरौ राम सुरभिर्द्वे व्यजायत ।

रोहिणीं नाम भद्रं ते गन्धर्वीं च यशस्विनीम् ॥ २७ ॥

हे राम ! सुरभी की दी यशस्विनी लड़कियां हुईं । एक का नाम था रोहिणी और दूसरी का गन्धर्वी ॥ २७ ॥

रोहिण्यजनयद्गा वै गन्धर्वी वाजिनः सुतान् ।

सुरसाजनयन्नागान्नराम कद्रस्तु पन्नगान् ॥ २८ ॥

रोहिणी के गर्भ से गौ, बैल और गन्धर्वी से घोड़े उत्पन्न हुए । हे राम ! सुरसाने नागों को उत्पन्न किया और कद्रु ने सर्पों को ॥ २८ ॥

मनुर्मनुष्याञ्जनयद्राम पुत्रान्यशस्तिनः ।

ब्राह्मणान्क्षत्रियान्वैश्याञ्चादांश्च मनुजर्षभ ॥ २९ ॥

हे राम ! मनु नाम की खी से यशस्वी मनुष्य, अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए ॥ २६ ॥

सर्वान्पुण्यफलान्वृक्षाननलापि व्यजायत ।

विनता च शुकीपौत्री कद्रूश्च सुरसास्वसा ॥ ३० ॥

अनला ने अच्छे अच्छे फल वाले वृक्ष उत्पन्न किये । विनता शुकी की नतिनी थी और कद्रू तथा सुरसा ये दोनों वहिने थीं ॥ ३० ॥

कद्रूर्नां यहस्यास्यं विजङ्गे धरणीधरम् ।

द्वौ पुत्रौ विनतायास्तु गरुडोऽरुण एव च ॥ ३१ ॥

कद्रू ने सहस्रों नागों को उत्पन्न किया । ये ही पुथिवी को धारण किये हुए हैं । विनता के दो पुत्र हुए, गरुड़ और अरुण ॥ ३१ ॥

तस्माऽज्जातोऽहमरुणात्सम्पातिस्तु ममाग्रजः ।

जटायुरिति मां विद्धि श्येनीपुत्रमरिन्दम् ॥ ३२ ॥

मैं अरुण का पुत्र हूँ और सम्पाति मेरा बड़ा भाई है । हे अरिन्दम ! मेरा नाम जटायु है और मुझे आप श्येनी का पुत्र जानिये ॥ ३२ ॥

सोऽहं वाससहायस्ते भविष्यामि यदीच्छसि ।

इदं दुर्गं हि कान्तारं मृगराक्षससेवितम् ।

सीतां च तात रक्षिष्ये त्वयि याते सलक्ष्मणे ॥ ३३ ॥

हे तात ! अगर तुम चाहोगे तो मैं वनवास में तुम्हारी सहायता करूँगा । क्योंकि यह वन बड़ा दुर्गम है और इसमें अनेक वन्यपशु

१ पुण्यफलान्—चारुफलान् । (गो०) २ तस्मात्—अरुणात् । (शि०)

और राक्षस रहते हैं। हे तात ! जब तुम और लक्ष्मण आश्रम छोड़, कहीं चले जाओगे, तब मैं सीता की रखवाली किया करूँगा ॥ ३३ ॥

जटायुषं तं प्रतिपूज्य राघवो ।
मुदा परिष्वज्य च सन्नतोऽभवत् ।

पितुर्हि शुश्राव सखित्वमात्मवा-
जटायुषा संकथितं पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने जटायु का यह वृत्तान्त सुन, आदर और हर्ष सहित उसे अपने हृदय से लगाया और उसे प्रणाम किया। क्योंकि उसने कई बार अपने को श्रीरामचन्द्र जी के पिता का मित्र कह कर परिचय दिया था ॥ ३४ ॥

स तत्र सीतां परिदाय^१ मैथिलीं
सहैव तेनातिवलेन पक्षिणा ।
जगाम तां पञ्चवटीं सलक्ष्मणो
रिपूनिंधक्षञ्चालभानिवानलः ॥ ३५ ॥

इति चतुर्दशः सर्गः ॥

फिर लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी, सीता जी की रक्षा के लिये जटायु को अपने साथ ले एवं शत्रुओं को भस्म करने को इच्छा से, तथा वन की रक्षा करने के लिये, सुप्रसिद्ध पञ्चवटी को चले ॥ ३५ ॥

अरण्यकारण का चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ

—;*;—

१ परिदाय—रक्षणार्थीय । (गो०)

पञ्चदशः सर्गः

—;*;—

ततः पञ्चवटीं गत्वा नानाव्याल॑मृगायुताम् ।

उवाच भ्रातरं रामः सौमित्रि दीप्ततेजसम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, उस पञ्चवटी में, जो नाना प्रकार के बनैले जीव जन्तुओं और दुष्ट सर्पों से भरी थी, पहुँच कर, तेजस्वी लक्ष्मण जी से कहने लगे ॥ १ ॥

आगताः स्म यथोदिष्टममुं देशं महर्षिणा ।

अयं पञ्चवटीदेशः सौम्य पुष्पितपादपः ॥ २ ॥

हे सौम्य ! हम लोग महर्षि अगस्त्य जी के बतलाये हुए स्थान पर आ पहुँचे । यही पञ्चवटी है, जहाँ पुष्पित वृक्षों से भरा हुआ बन देख पड़ता है ॥ २ ॥

सर्वतश्चार्यतां दृष्टिः कानने निपुणो हासि ।

आश्रमः कतरस्मिन्नो देशे भवति सम्मतः ॥ ३ ॥

आश्रम बनाने के लिये उपयुक्त स्थान चुनने में तुम निपुण हो, अतः इस बन में दृष्टि फैला कर देखो कि, हम लोगों के आश्रम के लिये कौन सी जगह ठीक होगी ॥ ३ ॥

रमते यत्र वैदेही त्वमहं चैव लक्ष्मण ।

तादशो दृश्यतां देशः सन्निकृष्टजलाशयः ॥ ४ ॥

हे लक्ष्मण ! स्थान ऐसा होना चाहिये, जहाँ सीता जी, तुम और हम सुखपूर्वक रहें और जल भी जहाँ से समीप हो ॥ ४ ॥

वनरामण्यकं यत्र जलरामण्यकं तथा ।

सन्निकृष्टं च यत्र स्यात्समितपुष्पकुशोदकम् ॥ ५ ॥

जहाँ रमणीक वन हो, जहाँ जल भी अच्छा और बहुत हो, जहाँ समिधा, पुष्प और कुश समीप मिल सकें, ऐसा कोई स्थान तुम खोजो ॥ ५ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः संयताङ्गलिः ।

सीतासप्तकं काकुत्स्थमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का ऐसा वचन सुन, लक्ष्मण जी ने हाथ जोड़ कर, सीता जी के सामने, श्रीरामचन्द्र जी से यह कहा ॥ ६ ॥

परवानस्मि^१ काकुत्स्थ त्वयि वर्षशतं^२ स्थिते ।

स्वयं तु सचिरे देशे क्रियतामिति मां वद ॥ ७ ॥

हे राम ! मैं तो सदा से आपके अधीन हूँ । आप स्वयं कोई रमणीक स्थान चुन कर, वहाँ मुझे आश्रम बनाने की आज्ञा दें ॥ ७ ॥

सुप्रीतस्तेन वाक्येन लक्ष्मणस्य महात्मनः ।

विमृशन्नरोचयामास देशं सर्वगुणान्वितम् ॥ ८ ॥

लक्ष्मण जी के ये वचन सुन, श्रीरामचन्द्र जी प्रसन्न हुए और उन्होंने विचार कर, एक ऐसा स्थान चुना, जहाँ सब प्रकार की सुविधाएँ थीं ॥ ८ ॥

स तं सचिरमाक्रम्य^३ देशमाश्रमकर्मणि^४ ।

हस्तौ गृहीत्वा हस्तेन रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ ९ ॥

१ परवानस्मि—ममास्मिता तवास्मितावज्ञ भवति पारतन्यैकवेषाममास्मितेतिभावः । (गो०) २ वर्षशतं—शतशब्दानन्त्यवचनः । सार्वकालिकं । मम पारतन्यमितिभावः । (गो०) ३ आक्रम्य—स्वीयत्वेनामिमन्य । (गो०) ४ आश्रमकर्मणि—आश्रमनिमित्तं । (गो०)

आश्रम बनाने के लिये उपयुक्त स्थान पसन्द कर और अपने हाथ से लद्मण जी के दोनों हाथ पकड़ कर, श्रीरामचन्द्र जी ने लद्मण जी से कहा ॥ ६ ॥

अयं देशः समः श्रीमान्पुष्पितैस्तरुभिर्वृत्तः ।

इहाश्रमपदं सौम्य यथावत्कर्तुमर्हसि ॥ १० ॥

हे सौम्य ! यह स्थान समतल है और परम शोभायुक्त भी है । क्योंकि देखो, यह पुष्पित वृक्षों से घिरा हुआ है; अतः इसी स्थान पर तुम यथायोग्य आश्रम की रचना करो ॥ १० ॥

इयमादित्यसङ्काशैः पद्मैः सुरभिगन्धिभिः ।

अदूरे दृश्यते रम्या पद्मिनी पद्मशोभिता ॥ ११ ॥

देखो, सूर्य के समान उज्ज्वल, मन को प्रसन्न करने वाली, कमल के फूलों की सुगन्धि से युक्त यह पुष्करिणी भी यहाँ से समीप ही है ॥ ११ ॥

[नोट - भगवान् श्रीरामचन्द्र ने कमलों से युक्त पुष्करिणी के समीप का स्थान क्यों पसन्द किया—इसका कारण है, जो नीचे के इलोक में स्पष्ट कर दिया गया है ।

“ तुलसीकाननं यत्र, यत्र पश्चवनानि च ।

वसन्तवैष्णवा यत्र, तत्र सञ्चिहतो हरिः ॥ ”]

यथा ख्यातऽमगस्त्येन मुनिना भावितात्मना ।

इयं गोदावरी रम्या पुष्पितैस्तरुभिर्वृत्ता ॥ १२ ॥

विशुद्धात्मा अगस्त्य मुनि ने जैसा बतलाया था, वैसा ही यहाँ गोदावरी का दृश्य है । देखो, रमणीय गोदावरी नदी, फूले हुए वृक्षों से घिरी हुई है ॥ १२ ॥

हंसकारण्डवाकीर्णा चक्रवाकोपशोभिता ।

नातिदूरेन* चासन्ने मृगयूथनिपीडिताः ॥ १३ ॥

हंस, जलकुक्कुट और चक्रवाकों से शोभित है और वह यहाँ से न तो अति निकट और न बहुत दूर ही है। इसके तट पर वन्यपशु जल पीने के लिये आया करते हैं ॥ १३ ॥

मयूरनादिता रम्याः प्रांशवो^१ बहुकन्दराः ।

दृश्यन्ते गिरयः सौम्य फुल्लैस्तरुभिरावृताः ॥ १४ ॥

यहाँ पर अनेक ऐसे पर्वत देख पड़ते हैं जिन पर मोर बोल रहे हैं, जो बड़े रमणीक, ऊँचे, अनेक गुफाओं से सुशोभित और फूले फूले वृक्षों से युक्त हैं ॥ १४ ॥

सौवर्णै राजतैस्ताम्रैदेशे देशे च धातुभिः ।

गवाक्षिता इवाभान्ति गजाः परमधक्तिभिः^२ ॥ १५ ॥

ये पहाड़ जगह जगह सोने, चांदी, तांवा आदि धातुओं से सुशोभित हैं। धातुओं के रंग की रेखाओं से युक्त हाथी ऐसे जान पड़ते हैं, मानों मकानों में खिड़कियाँ लगी हों ॥ १५ ॥

सालैस्तालैस्तमालैश्च खर्जूरपनसाम्रकैः^३ ।

नीवारैस्तिभिशैश्चैव पुनागैश्चेष्टोभिताः ॥ १६ ॥

ये पहाड़ साल, ताल, तमाल, खजूर, कटहर, तिन्ही, निवार, तिमिश और नागवृक्षों से सुशोभित हैं ॥ १६ ॥

१ प्रशवः—उन्नताः । (गो०) २ फुल्लैः विकसितपुष्टैः । (गो०)
३ परमधक्तिभिः—उत्कृष्टरेखालङ्कारैः । (गो०) ४ आम्रकैः—रसालभेदैः ।
(गो०)

* पाठान्तरे—“नातिदूरेण”

चूतैरशोकैस्तिलकैश्चम्पकैः केतकैरपि ।

पुष्पगुल्मलतोपेतैस्तैस्तैस्तरुभिरावृताः ॥ १७ ॥

और आम, अशोक, तिलक, चम्पा, केतकी आदि पुष्प, गुल्म और लता आदि से वेष्ठित हैं ॥ १७ ॥

चन्दनैः स्पन्दनैर्नीपैः पनसैर्लिङ्कुचैरपि ।

धवाश्वकर्णखदिरैः शमीकिंशुकपाटलैः ॥ १८ ॥

ये चन्दन, स्पन्दन, कदंब, बड़हर, लुचकुचा, धव, अश्वकर्ण, खैर, शमी, किंशुक और पटल नामक वृक्षों से शोभित हैं ॥ १८ ॥

इदं^१ पुण्यमिदं मेध्यमिदं बहुमृगद्विजम् ।

इह वत्स्यामि सौमित्रे सार्धमेतेन पक्षिणा ॥ १९ ॥

अतएव हे लक्ष्मण ! यह स्थान दर्शन मात्र से पुण्यप्रद है, पवित्र है और बहुत से मृगों और पक्षियों से परिपूर्ण है । अतः हे लक्ष्मण ! हम लोग जटायु के समीप इसी जगह रहेंगे ॥ १९ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः परवीरहा ।

अचिरेणाश्रमं भ्रातुश्चकार सुमहाबलः ॥ २० ॥

जब श्रीरामचन्द्र ने यह कहा, तब लक्ष्मण जी ने अति शीघ्र श्रीरामचन्द्र जी के रहने के लिये एक आश्रम बनाया ॥ २० ॥

पर्णशालां सुविपुलां तत्र संखात्मृत्तिकाम् ।

सुस्तम्भां मस्करैर्दीर्घैः कृतवंशां सुशोभनाम् ॥ २१ ॥

१ इदंपुण्यं—दर्शनमात्रेणपुण्यसम्पादकम् । (शि०) २ मेध्यं—पवित्रं । (गो०) ३ मस्करैः—वेणुभिः । (गो०) ४ संखात्मृत्तिकाम्—भित्तीकृतमृत्तिकाम् । (गो०)

उस प्रशस्त पर्णशाला में मट्टी की दीवालें खड़ी कीं और लंबे बासों की थूनियों पर, बांसो का ठाठ बांधा ॥ २१ ॥

शमीशाखाभिरास्तीर्य हृषपाशावपाशिताम् ।

कुशकाशशरैः पर्णैः सुपरिच्छादितां तथा ॥ २२ ॥

उस ठाठ पर शमी की डालियाँ बिछा कर, उनको ठाट में कस कर बांध दिया । फिर उन डालियों के ऊपर कुश, काँस और सरपत बिछा कर, अच्छी तरह ढूबनई कर दी ॥ २२ ॥

समीकृतबलां रम्यां चकार लघुविक्रमः ।

निवासं राघवस्यार्थं प्रेक्षणीयमनुत्तमम् ॥ २३ ॥

फिर लक्ष्मण जी ने उस पर्णशाला के फर्श को समतल समान (ऊँचा नीचापन मिटा) कर, उसे श्रीरामचन्द्र जी के रहने योग्य और देखने में सुन्दर बना कर तैयार कर दिया ॥ २३ ॥

स गत्वा लक्ष्मणः श्रीमान्नदीं गोदावरीं तदा ।

स्नात्वा पद्मानि चादाय सफलः पुनरागतः ॥ २४ ॥

तदनन्तर लक्ष्मण जी ने गोदावरी में स्नान किये और कमल पुष्पों तथा फलों को ले, वे पर्णशाला में लौट आये ॥ २४ ॥

ततः पुष्पबलि कृत्वा शान्तिं च स यथाविधि ।

दर्शयामास रामाय तदाश्रमपदं कृतम् ॥ २५ ॥

लौट कर लक्ष्मण जी ने पुष्पबलि दे तथा यथाविधान वास्तु शान्ति कर, उस (नवीन) बनाये हुए आश्रम को, श्रीरामचन्द्र को दिखलाया ॥ २५ ॥

स तं दृष्टा कृतं सौम्यमाश्रमं सह सीतया ।

राघवः पर्णशालायां हर्षमाहारयद्^१भृशम् ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी सोता जी के साथ, लक्ष्मण जी की बनाई हुई और देखने में सुन्दर उस कुटी को देख, परम सन्तुष्ट हुए ॥ २६ ॥

सुसंहृष्टः परिष्वज्य वाहुभ्यां लक्ष्मणं तदा ।

अतिस्तिनग्धं^२ च गाढं च वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २७ ॥

तब प्रसन्न हो, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण को अच्छी तरह क्वाती से लगा लिया और यह बोले ॥ २७ ॥

प्रीतोस्मि ते महत्कर्म त्वया कृतमिदं प्रभो ।

प्रदेयो यन्निमित्तं ते परिष्वज्ञो मया कृतः ॥ २८ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं तुम पर बहुत प्रसन्न हूँ । तुमने यह बड़ा भारी काम कर डाला । इसका तुम्हें पुरस्कार भी मिलना चाहिये—सो उस पुरस्कार के बदले, मैंने तुम्हें अपने हृदय से लगा लिया ॥ २८ ॥

भावज्ञेन^३ कृतज्ञेन धर्मज्ञेन च लक्ष्मण ।

त्वया पुत्रेण धर्मात्मा न संवृत्तः^४ पिता मम ॥ २९ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम जैसे, मन की बात जान लेने वाले, उपकार को मानने वाले और धर्मज्ञ पुत्र के विद्यमान होते हुए, मुझे यह नहीं जान पड़ता कि मेरे पिता मर गये ॥ २९ ॥

[नोट—इसका मतलब यह है कि, जिस प्रकार महाराज दशरथ हर प्रकार से मेरी आवश्यकताओं को पूरी करते थे और सदा इस बात का ध्यान

१ हर्षमाहारयत्—सन्तोषप्राप्तवान् । (गो०) २ अतिस्तिनग्धं च गाढं चेति-परिष्वज्ञक्रियाविशेषणं । (गो०) ३ भावज्ञेन मच्चित्तज्ञेन । (गो०) ४ न संवृ-तोनमृतः । (रा०)

रखते थे कि, मुझे किसी प्रकार का कष्ट न होने पावे—उसी प्रकार है लक्ष्मण !
तुम भी मेरी आवश्यकताओं को पूर्ति और असुविधाओं को दूर करने का सदा
ध्यान रखते हो ।]

एवं लक्ष्मणमुक्त्वा तु राघवो लक्ष्मिवर्धनः ।

तस्मिन्देशे बहुफले न्यवसत्सुखं वशी^१ ॥ ३० ॥

शोभा बढ़ाने वाले श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण से इस प्रकार कह
कर और जितेन्द्रिय हो, उस बहुफलयुक्त स्थान में बड़े सुख से वास
करने लगे ॥ ३० ॥

कञ्चित्कालं स धर्मात्मा सीतया लक्ष्मणेन च ।

अन्वास्यमानो न्यवसत्स्वर्गलोके यथाऽमरः ॥ ३१ ॥

इति पञ्चदशः सर्गः ॥

इस प्रकार वे धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी सीता और लक्ष्मण से
सेवित हो, वहाँ कुछ दिनों उसी प्रकार सुख से रहे, जिस प्रकार
देवता लोग स्वर्ग में सुखपूर्वक रहते हैं ॥ ३१ ॥

अरण्यकाण्ड का पन्द्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

षोडशः सर्गः

—;*;—

वसतस्तस्य तु सुखं राघवस्य महात्मनः ।

शरद्यपाये हेमन्त ऋतुरिष्टः प्रवर्तते ॥ १ ॥

^१ वशी—विषयचापलरहितः । (गो०)

महात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने वहाँ सुख से वास कर, शरदऋतु ऋतु आरम्भ हुई ॥ १ ॥

स कदाचित्प्रभातायां शर्वर्या रघुनन्दनः ।
प्रययावभिषेकार्थं रम्यां गोदावरीं नदीम् ॥ २ ॥

एक दिन जब रात बीती और प्रातःकाल हुआ, तब श्रीरामचन्द्र जी रमणीय गोदावरी में स्नान करने गये ॥ २ ॥

प्रहः कलशहस्तस्तं सीतया सह वीर्यवान् ।
पृष्ठतोऽनुवजन्म्राता सौमित्रिरिदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

बलवान् लक्ष्मण, सीता जी के साथ, हाथ में कलसा लिये हुए, श्रीरामचन्द्र जी के पीछे पीछे चले और उनसे यह बात बोले ॥ ३ ॥

अयं स कालः संप्राप्तः प्रियो यस्ते प्रियंवद् ।
अलंकृत इवाभाति येन^१ संवत्सरः शुभः ॥ ४ ॥

हे प्रियभाषी ! आपकी प्यारी हेमन्त ऋतु आ गयी है । इस ऋतु के आगमन से पके हुए अन्नादि से, यह शुभ संवत्सर सुशोभित सा जान पड़ता है ॥ ४ ॥

नीहारपरुषो लोकः^२ पृथिवी सस्यशालिनी ।
जलान्यनुपभोग्यानि सुभगो हव्यवाहनः ॥ ५ ॥

^१ येनहेमन्तेनशुभोऽयं संवत्सरः—सुपक्सस्यादि संपत्याअलंकृतहवाभाति ।

^२ परुषोलोकः—रक्षशरीरहति । (क्षि०)

सर्दीं पड़ने से लोगों के शरीर का चमड़ा रुखा हो गया है, खेत अनाज से हरे भरे देख पड़ते हैं, पानी छूने को मन नहीं चाहता और आग तापने को जी चाहता है ॥ ५ ॥

नवाग्रयणपूजाभिरभ्यच्यु पितुदेवताः ।

कृताग्रयणकाः काले सन्तो विगतकल्मषाः ॥ ६ ॥

इस समय सज्जनजन नवाज्ञ से देवता और पितरों का पूजन कर, नवशस्य निमित्त यज्ञ करते हुए, निष्पाप हुए हैं ॥ ६ ॥

[नोट — खेती आदि करने में अनेक जीवों की हिंसा करने से जो पाप लगता है, वह नवीन अज्ञ से देव-पितु-पूजन करने पर छूट जाता है । धर्मशास्त्र का वचन है —

नवयज्ञाधिकारस्थाः इयामाका ब्रीह्योयवाः ।

नाशनीयात्तात् हुत्वैव मन्येष्वनियमः स्मृतः ॥

इसी प्रमाण के आधार पर उत्तरभारत में हाली की प्रथा चली है ।]

प्राज्यकामा^१ जनपदाः सम्पन्नतरगोरसाः ।

विचरन्ति भवीपाला यात्रास्था विजिगीषवः ॥ ७ ॥

इस समय सब जनपदों में सब आवश्यक वस्तुएँ अधिकता से प्राप्त होती हैं । इस समय अन्य ऋतुओं की अपेक्षा गोरस, (दूध दही धी) भी अधिक होता है । राजा लोग, जो विजय की इच्छा रखने वाले हैं, वे भी इन्हीं दिनों यात्रा करते हैं ॥ ७ ॥

सेवमाने दृढं सूर्ये दिशमन्तकसेविताम् ।

विहीनतिलकेव स्त्री नोत्तरा दिक्प्रकाशते ॥ ८ ॥

दक्षिणायन सूर्य होने के कारण उत्तर दिशा, तिलक हीन स्त्री की तरह शोभारहित अर्थात् प्रकाशहीन हो गयी है ॥ ८ ॥

१ प्राज्यकामाः—प्राप्तसकलेष्विताः । (शि०)

प्रकृत्या हिमकोशादयो दूरसूर्यश्च साम्प्रतम् ।
यथार्थनामा सुव्यक्तं हिमवान्हिमवान्गिरिः ॥ ९ ॥

हिमालय वैसे ही सदा बर्फ़ से ढका रहता है, किन्तु इन दिनों सूर्य भगवान् से उसके बहुत दूर हो जाने के कारण, हिमालय का हिमवान् नाम पूरा पूरा चरितार्थ हो रहा है । अर्थात् हेमन्तऋतु में हिमालय के ऊपर अपार बर्फ़ जमा हो जाती है ॥ ६ ॥

अत्यन्तसुखसञ्चारा मध्याहे स्पर्शतः सुखाः ।

दिवसाः सुभगादित्याश्छायासलिलदुर्भेगाः ॥ १० ॥

इस ऋतु में दोपहर के समय घूमना फिरना अच्छा लगता है, क्योंकि धूप की तेज़ी से सर्दी न लग कर, धूप सुखदायिनी लगती है । इन दिनों सूर्य सब को सुख देने वाले होते हैं; और छाया तथा जल अच्छे नहीं लगते ॥ १० ॥

मृदुसूर्याः सनोहाराः पदुशीताः^१ समारुताः ।

शून्यारण्याः^२ हिमध्वस्ता दिवसा भान्ति साम्प्रतम् ॥ ११ ॥

इस ऋतु में सूर्य का पहले जैसा तेज नहीं रहता । कुहरा पड़ने तथा पवन चलने से शीत की अधिकता हो जाती है । अथवा शीत प्रवल हो जाता है । वन में वसने वाले लोग खुले मैदानों में रहने के कारण, शीत से पोड़ित हो, वन में इधर उधर नहीं घूमते, इससे वन सूने से जान पड़ते हैं ॥ ११ ॥

निवृत्ताकाशशयनाः पुष्यनीता हिमारुणाः ।

शीता वृद्धतरा यामाक्षियामाः^३ यान्ति साम्प्रतम् ॥ १२ ॥

१ पदुशीताः—प्रवलशीताः । (गो०) २ शून्यारण्याः—अरण्यावनचराः तैः शून्याः आवरणरहितवेन शीतपीडिताः न वहिः संचरन्तीर्थः । (गो०) ।
३ क्षियामः—रात्रयः । (रा०) ।

पुष्य नक्षत्र युक्त इस पुष्य मास में, और पाला पड़ती हुई धूसर रंग की रात में, कोई खुले मैदान में नहीं सो सकता। दिन की अपेक्षा रात में सर्दी अधिक पड़ती है और दिन की अपेक्षा रात बड़ी भी अधिक होती है ॥ १२ ॥

रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषारास्त्रणमण्डलः ।

निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥ १३ ॥

जैसे मुँह की भाप से दर्पण धुंधला पड़ जाता है, वैसे ही चंद्रमा भी, जिसका सम्पूर्ण सौन्दर्य और मनोहरता सूर्य-मण्डल में चली गयी है, धुंधला जान पड़ता है ॥ १३ ॥

ज्योत्स्नी तुषारमलिना पौर्णमास्यां न राजते ।

सीतेव चातपश्यामा लक्ष्यते न तु शोभते ॥ १४ ॥

कुहरा के कारण चंद्रमा की चांदनी अब पूर्णिमा की रात में भी नहीं चटकती (खिलती) उसका केवल कुछ कुछ धुंधला सा प्रकाश देख पड़ता है। जैसे धूप के मारे श्याम वर्ण हुई सीता जी, केवल पहचानी तो जाती हैं, किन्तु शोभित नहीं होतीं ॥ १४ ॥

प्रकृत्या शीतलस्पर्शो हिमविद्धश्च साम्प्रतम् ।

प्रवाति पश्चिमो वायुः काले द्विगुणशीतलः ॥ १५ ॥

देखो, इस ऋतु में पञ्चम का वायु, जो स्वभाव से ठंडा है, कुहरा के कारण, दुगना ठंडा हो कर, चल रहा है ॥ १५ ॥

बाष्पच्छन्नान्यरण्यानि यवगोधूमवन्ति च ।

शोभन्तेऽभ्युदिते सूर्ये नदद्विः क्रौञ्चसारसैः ॥ १६ ॥

ये जौ और गेहूँ के खेतों से भरे हुए और कुहरे से ढाये हुए बन, सूर्योदय के समय बोलते हुए क्रौञ्च एवं सारस पक्षियों से, कैसे शोभा युक्त जान पड़ते हैं ॥ १६ ॥

खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः ।

शोभन्ते किञ्चिदानन्म्राः शालयः कनकप्रभाः ॥ १७ ॥

ये सुनहले शालि समूह, खजूर के फूल की तरह, तण्डुलों की बालों के बोझ से, कुछ झुके हुए, कैसे सुशोभित हो रहे हैं ॥ १७ ॥

मयूरवैरूपसर्पद्विर्हिमनीहारसंवृतैः ।

दूरमध्युदितः सूर्यः शशाङ्क इव लक्ष्यते ॥ १८ ॥

यह सूर्य कितना ऊँचा चढ़ आया है, तो भी, पाले के मारे किरणों का प्रकाश न होने के कारण, चन्द्रमा की तरह देख पड़ता है ॥ १८ ॥

अग्राद्यवीर्यः पूर्वाह्ने मध्याह्ने स्पर्शतः सुखः ।

सरक्तः किञ्चिदापाण्डुरातपः शोभते क्षितौ ॥ १९ ॥

सबेरे तो सूर्य की धूप में तेजी जान ही नहीं पड़ती, परन्तु दोपहर को धूप तेज़ होने पर भी अच्छी लगती है। इस समय सूर्य का प्रकाश कुछ पीला सा हो, पृथिवी को शोभित कर रहा है ॥ १९ ॥

अवश्याय॑निपातेन किञ्चित्प्रक्लिन्नशाद्वलाः ।

वनानां शोभते भूमिर्निविष्टतरुणातपा ॥ २० ॥

ओस की बूदों के गिरने से हरी हरी धास तर हो गयी है, इस धास पर जब प्रातःकालीन सूर्य की किरणें पड़ती हैं, तब वन की भूमि की शोभा देखते ही बन आती है ॥ २० ॥

स्पृशंस्तु विपुलं शीतमुदकं द्विरदः सुखम् ।

अत्यन्ततृष्णितो वन्यः प्रतिसंहरते करम् ॥ २१ ॥

१ अवश्यायः—हिमं, द्विमविन्दुः । (गो०) २ शाद्वलः—शब्द्यप्रकुराभूमिः । (रा०)

देखिये, ये जंगली हाथी, जो बहुत प्यासा है, इस अत्यन्त शीतल
जल को (पीना तो एक और रहा) स्पर्श करते ही, अपनी सूँड
सकोड़ लेता है ॥ २१ ॥

एते हि समुपासीना विहगा जलचारिणः ।

न विगाहन्ति सलिलमप्रगल्भा इवाहवम्^१ ॥ २२ ॥

ये जल में विहार करने वाले पक्षी, जल में डुबकी नहीं मारते,
केवल चुपचाप तट पर बैठे हैं, जैसे कायर योद्धा, संग्राम से डर कर,
चुपचाप बैठ रहते हैं ॥ २२ ॥

अवश्यायैतमोनद्धाः^२ नीहारतमसा वृताः ।

प्रसुप्ता इव लक्ष्यन्ते विपुष्णा वनराजयः ॥ २३ ॥

पुष्पशून्य वनश्रेणी, कुहरा के अन्धकार से ढक जाने पर, ऐसी
जान पड़ती है, मानों सो रही हों ॥ २३ ॥

बाष्पसञ्छन्नसलिला रुतैविज्ञेयसारसाः ।

हिमार्द्वालुकैस्तीरैः सरितो भान्ति साम्प्रतम् ॥ २४ ॥

इस समय नदियाँ, जो कुहरे से ढको हैं, और जिनकी बालू कोहरे
से तर है, केवल तहों से जान पड़ती है, (इसी प्रकार) सारस भी
इस समय (कोहरे के अंधकार के कारण) केवल बाली से पहचाने
जाते हैं ॥ २४ ॥

तुषारपतनाच्चैव मृदुत्वादभास्करस्य च ।

शैत्यादगाग्रस्थमपि^५ प्रायेण रसवैज्जलम् ॥ २५ ॥

१ आहवं—युद्धं । (गो०) २ अवश्यायः—हिमसलिलं । (गो०)

३ नद्धाः—घद्धाः । (गो०) ४ रुतं—शब्दं । (गो०) ५ अग्रस्थमपि—निर्मल
शिळालतस्थमपि । (गो०) ६ रसवत्—विषवत् । (गो०)

निर्मल शिलातल का जल भी तुषार के गिरने और सूर्य का तेज़ मंद पड़ जाने के कारण, विष की तरह अनुपादेय हो रहा है ॥ २५ ॥

जराजर्भरितैः पद्मैः शीर्णकेसरकर्णिकैः ।

नालशेषैर्हिमध्वस्तैर्न भान्ति कमलाकराः ॥ २६ ॥

कमलों के पत्ते जीर्ण हो कर झड़ गये, कमल के फूलों की कर्णिका और केसर भी गिर गयी हैं, मारे पाले के उनमें, केवल डंडी मात्र रह गयी हैं। इसीसे कमल के तड़ाग अब शोभाहीन हो रहे हैं ॥ २६ ॥

अस्मिस्तु पुरुषव्याघ्रः काले दुःखसमन्वितः ।

तपश्चरति धर्मात्मा त्वद्वक्त्या भरतः पुरे ॥ २७ ॥

हे पुरुषसिंह ! इस समय धर्मात्मा भरत जी आपके वियोग-जनित दुःख से दुखी हो, अयोध्या जी में, आपकी भक्ति के वशवत्ती हो, तपस्या करते होंगे ॥ २७ ॥

त्यक्त्वा राज्यं^१ च मानं^२ च भोगांश्च^३ विविधान्वहून् ।

तपस्वी^४ नियताहारः^५ शेतेशीते^६ महीतले ॥ २८ ॥

प्रभुत्व को और राजपुत्र होने के अभिमान को तथा फूलों के हार, चन्दन तथा वनितादि राजाओं के भोगने योग्य तरह तरह के अनेक भोगों को त्याग और जटा बल्कल धारण कर तथा फल मूल खा कर, भरत जी इस शीतकाल में ज़मीन पर साते होंगे ॥ २८ ॥

सोऽपि वेलामिमां नूनमभिषेकार्थमुद्यतः ।

दृतः प्रकृतिभिर्नित्यं प्रयाति सरयूं नदीम् ॥ २९ ॥

१ राज्यं—प्रभुत्वं । (गो०) २ मानं—राजपुत्राहमित्यभिमानं । (गो०)

३ भोगान्—स्त्रकचन्दनवनितादीन् । (गो०) ४ तपस्वी—तपस्विचिन्हजटादि-मान् । (गो०) ५ नियताहारः—फलमूलाद्यशङ्कः । (गो०) ६ शीत—इत्यनेनावर-णराहित्यमुच्यते । (गो०)

वे भी निश्चय ही इस समय अपने मंत्रियों के साथ सरयू नदी में स्नान करने को जाते होंगे ॥ २६ ॥

अत्यन्तसुखसंघङ्गः सुकुमारो हिमार्दितः* ।

कथं न्वपररात्रेषु सरयूमवगाहते ॥ ३० ॥

जो भरत अत्यन्त सुख से पाले पोसे गये हैं और स्वभाव ही से सुकुमार हैं, वे भरत, किस प्रकार पाला पड़ने के समय पिछली रात में, सरयू में स्नान करते होंगे ॥ ३० ॥

पद्मपत्रेक्षणो वीरः श्यामो नि दरो^१ महान् ।

धर्मज्ञः सत्यवादी च हीनिषेधो^२ जितेन्द्रियः ॥ ३१ ॥

प्रियाभिभाषी मधुरो दीर्घवाहुररिन्द्रमः ।

सन्त्यज्य विविधान्भोगानार्यं सर्वात्मना श्रितः ॥ ३२ ॥

जो भरत जो कमलनेत्र, श्यामवर्ण, सूक्ष्मोदर, (थोंदथूदीले नहीं, अर्थात् बड़े पेट वाले नहीं) बड़ाई करके युक्त, धर्मज्ञ, सत्यवादी, परखी विमुख, जितेन्द्रिय, प्रियभाषी, मनोहर, बड़ी भुजाओं वाले और शत्रुओं को दमन करने वाले हैं, वे समस्त राजसुखोचित भोगों को त्याग कर, हे राम ! सब प्रकार से आप ही के आश्रित हैं ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

जितः^३ स्वर्गस्त्व भ्रात्रा भरतेन महात्मना ।

वनस्थमपि तापस्ये यस्त्वामनुविधीयते ॥ ३३ ॥

यद्यपि तुम्हारे भाई महात्मा भरत जी तपस्वी के भेष में वनवासी नहीं हुए, तथापि उन्होंने तुम्हारे अनुरूप तपस्वी का भेष धारण कर

१ निरुद्धरो—अनुनिंदिलः । (गो०) २ हीनिषेधाः—हियापरनारी विषये निषेध । (रा०) ३ जितः—तिरस्कृतः । (गो०) ४ स्वर्गः—रामप्राप्त्यन्तरायभूतः स्वर्गः । (गो०)

* पाठान्तरे—‘सुखोचितः’

और तपस्वियों के नियमों का पालन कर, स्वर्ग को जीत लिया है, अर्थात् आपके वियोग में स्वर्ग का भी तिरस्कार कर दिया है। इस का भाव यह है कि, आपके बिना उन्होंने राज्य के स्वर्गीय भोगों का तिरस्कार किया है ॥ ३३ ॥

न पित्र्यमनुवर्तन्ते मातृकं द्विपदा^१ इति ।

ख्यातो लोकप्रवादोऽयं भरतेनान्यथा कृतः ॥ ३४ ॥

संसार में जो यह कहावत प्रचलित है कि, मनुष्य में पिता का स्वभाव नहीं आता, बरन माता ही का स्वभाव आता है, सो भरत जी ने इस कहावत को भूठा कर के दिखा दिया। (कहावत—“माँ पै पूत, पिता पै घोड़ा, बहुत नहीं तो, थोड़ा थोड़ा । ”) ॥ ३४ ॥

भर्ता दशरथो यस्याः साधुश्च भरतः सुतः ।

कथं नु साम्बा कैकेयी ताटशी क्रूरदर्शिनी^२ ॥ ३५ ॥

परन्तु जिसके पति तो महाराज दशरथ हों और पुत्र साधु भरत जैसा हो, वह माता कैकेयी क्यों कर ऐसी क्रूर स्वभाव की हुई ? ॥ ३५ ॥

इत्येवं लक्ष्मणे वाक्यं सनेहाद्ब्रुवति धार्मिके ।

परिवादं जनन्यास्तमसहनराघवोऽब्रवीत् ॥ ३६ ॥

महात्मा लक्ष्मण जी ने, भ्रातृस्नेह के वशवर्ती हो, जब ऐसे बचन कहे, तब श्रीरामचन्द्र जी, माता कैकेयी की निन्दा न सह कर, बोले ॥ ३६ ॥

न तेऽम्बा मध्यमा तात गर्हितव्या कथश्चन ।

तामेवेक्ष्वाकुनाथस्य भरतस्य कथां कुरु ॥ ३७ ॥

^१ द्विपदाः—मनुष्याः । (गो०)

* पाठान्तरे—“ क्रूरशीलिनो ।

हे भाई लक्ष्मण ! तुम मझली माता कैकेयी की निन्दा मत करो । तुम तो केवल इच्छाकुनाथ भरत की चर्चा करो ॥ ३७ ॥

निश्चिताऽपि हि मे बुद्धिर्वनवासे दृढव्रता ।

भरतस्नेहसन्तप्ता बालिशी^१क्रियते पुनः ॥ ३८ ॥

यद्यपि मैं १४ वर्ष तक बनवास करने का अब तक दृढ़ निश्चय किये हुए हूँ और उसके लिये दृढव्रत हूँ, तथापि भरत के स्नेह का जब मुझे स्मरण आता है, तब मैं विकल हो जाता हूँ और मेरी बुद्धि बालकों जैसी हो जाती है ॥ ३८ ॥

संस्मराम्यस्य वाक्यानि प्रियाणि मधुराणि च ।

हृद्यान्यमृतकल्पानि मनःप्रह्लादनानि च ॥ ३९ ॥

भरत जी की प्रिय, मधुर, हृदय की अमृत की तरह तृप्त करने वाली, और मन को प्रसन्न करने वाली वातें, मुझे याद आ रही हैं ॥ ३९ ॥

कदा न्वहं समेष्यामि भरतेन महात्मना ।

शत्रुघ्नेन च वीरेण त्वया च रथुनन्दन ॥ ४० ॥

नहीं कह सकता मैं कब, महात्मा भरत जी और वीर शत्रुघ्न से तुम्हारे सहित फिर मिलूँगा ॥ ४० ॥

इत्येवं विलपंस्तत्र प्राप्य गोदावरीं नदीम् ।

चक्रेऽभिषेकं काकुत्स्थः सानुजः सह सीतया ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जो विलाप करते करते लक्ष्मण और सीता सहित गोदावरी नदी पर पहुँच गये और तीनों ने गोदावरी में स्नान किये ॥ ४१ ॥

^१ बालिशीक्रियते—बालबुद्धिरिवभवति । (गो०)

तर्पयित्वाथ सलिलैस्ते पितृन्दैवतानि च ।

स्तुवन्ति^१ स्मोदितं सूर्यं देवताश्च^२ समाहिताः ॥ ४२ ॥

तदन्तर उन्होंने गोदावरी के जल से देव पितरों का तर्पण कर, उद्य होते हुए सूर्य का उपस्थान कर, सन्ध्यादि देवता की अर्थात् सूर्य-मण्डल-मध्यवर्ती-नारायण की एकाग्रचित्त से स्तुति की ॥ ४२ ॥

[नोट—इस श्लोक में—“ तर्पयित्वाथ सलिलैस्ते पितृन्दैवतानि च ” देखकर अवगत होता है कि रामायणकाल में जल द्वारा देव और ऋषि पितृ देवों का तर्पण करने की प्रथा प्रचलित थी ।]

कृताभिषेकः स राज रामः

सीताद्वितीयः सह लक्ष्मणेन ।

कृताभिषेको गिरिराजपुत्र्या

रुद्रः सनन्दी भगवानिवेशः ॥ ४३ ॥

॥ इति षोडशः सर्गः ॥

उस समय स्नान कर के श्रीरामचन्द्र जी, सीता और लक्ष्मण सहित उसी प्रकार शोभा को प्राप्त हुए या सुशोभित हुए, जिस प्रकार पार्वती और नन्दी सहित भगवान् शिव जी शोभा को प्राप्त होते हैं ॥ ४३ ॥

अरण्यकाण्ड का सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ।



^१ स्तुवन्ति—उपतस्थिरे । (गो०) ^२ देवताः—सन्ध्यादि देवताः । (गो०)

सत्पदशः सर्गः

—*—

कृताभिषेको रामस्तु सीता सौमित्रिरेव च ।

तस्मादगोदावरीतीरात्ततो जग्मुः स्वमाश्रमम् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण स्नान कर, गोदावरी के तट से अपने आश्रम को लौटे ॥ १ ॥

आश्रमं तमुपागम्य राघवः सहलक्ष्मणः ।

कृत्वा पौर्वाह्निकं^१ कर्म पर्णशालामुपागमत् ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जो ने आश्रम में पहुँच कर, लक्ष्मण जी सहित पूर्वाह्नि—ब्रह्मयज्ञादि कर्म कर, पर्णशाला में प्रवेश किया ॥ २ ॥

उवास सुखितस्तत्र पूज्यमानो महर्षिभिः ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चकार विविधाः कथाः ॥ ३ ॥

वहाँ श्रीरामचन्द्र जी महर्षियों द्वारा पूजित हो कर, सुख से वास करने लगे और लक्ष्मण से अनेक प्रकार की पुराण एवं इतिहासों की कथाएँ कहने लगे ॥ ३ ॥

स रामः पर्णशालायामासीनः सह सीतया ।

विरराज महावाहुशिच्चत्रया चन्द्रमा इव ॥ ४ ॥

उस पर्णशाला में सीता जी के साथ बैठे हुए महावाहु श्रीरामचन्द्र जी, ऐसे शोभित होते थे, जैसे चित्रा नक्षत्र के सहित चन्द्रमा शोभित होता है ॥ ४ ॥

^१ पौर्वाह्निकं—ब्रह्मयज्ञादि नवमिन कृत्यम् अनुदितहोमत्वेन तस्य सुर्योपस्थाननानन्तर भावित्वा भावात् । (गो०)

तथाऽसीनस्य रामस्य कथासंसक्तचेतसः ।
तं देशं राक्षसी काचिदाजगाम यद्वच्छया ॥ ५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी तो बैठे हुए बातचीत कर रहे थे कि, इतने में
एक राक्षसी अकस्मात् वहाँ जा पहुँची ॥ ५ ॥

सा तु शूर्पणखा नाम दशग्रीवस्य रक्षसः ।
भगिनी राममासाद्य दर्दर्श त्रिदशोपमम् ॥ ६ ॥
सिंहोरस्कं महावाहुं पद्मपत्रनिभेशणम् ।
आजानुवाहुं दीपास्यमतीव प्रियदर्शनम् ॥ ७ ॥
गजविक्रान्तगमनं जटामण्डलधारिणम् ।
सुकुमारं महासत्त्वं^१ पार्थिवव्यञ्जनान्वितम्^२ ॥ ८ ॥
राममिन्दीवरश्यामं कन्दर्पसदशप्रभम् ।
बभूवेन्द्रोपमं दृष्टा राक्षसी काममोहिता ॥ ९ ॥

उस राक्षसी का नाम शूर्पणखा था और वह रावण की वहिन
थी। देवताओं के समान, सिंह जैसी छाती वाले, महावाहु, कमल
पत्र के समान विशाल नेत्र वाले, घुटनों तक लंबी भुजाओं वाले,
तेजस्वी, देखने में अतीव सुन्दर, मदमत्त गज की तरह चलने वाले,
जटामण्डलधारी, सुकुमार, महाबलवान, राजलक्षणों से युक्त, नील
कमल के तुल्य श्याम वर्णवाले, और कामदेव के समान सुन्दर, श्रीराम
चन्द्र जी को इन्द्र की तरह बैठा हुआ देख, वह राक्षसी काम से मोहित
हो गयी अर्थात् उन पर आसक्त हो गयी ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥

^१ महासत्त्वं—महाबलं । (गो०) ^२ पार्थिवव्यञ्जनान्वितम्—राजलक्षणानि ।

सुमुखं दुर्मुखी रामं वृत्तमध्यं^१ महोदरी ।

विशालाक्षं विरूपाक्षी^२ सुकेशं^३ ताप्रमूर्धजा ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र जी का मुख सुन्दर था और उस राज्ञसी का ख़राब । श्रीरामचन्द्र जी के शरीर का मध्यभाग न बहुत बड़ा था न क्लोटा था और उस राज्ञसी के शरीर का मध्य भाग बहुत बड़ा था अर्थात् वह बड़े पेट वाली थी । श्रीरामचन्द्र जी के नेत्र बड़े बड़े थे और उस राज्ञसी के नेत्र विकट थे । श्रीरामचन्द्र जी के सिर के केश नीले थे और उस राज्ञसी के लाल लाल थे ॥ १० ॥

प्रीतिरूपं विरूपा सा सुस्वरं भैरवस्वरा ।

तरुणं दारुणा वृद्धा दक्षिणं वामभाषिणी ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी देखने में सुन्दर थे और वह राज्ञसी देखने में महाकुरुपा थी । श्रीरामचन्द्र जी का कण्ठस्वर मधुर था, उस राज्ञसी का नितान्त कर्कश । श्रीरामचन्द्र जी जवान थे और वह राज्ञसी महावृद्धा थी । श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त मधुरभाषी थे और वह राज्ञसी सदा टेहो ही बात बोला करती थी ॥ ११ ॥

न्यायवृत्तं^४ सुदुर्वृत्ता प्रियमप्रियदर्शना ।

शरीरज^५समाविष्टा राक्षसी वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का आचरण उचित था और उस राज्ञसी का अत्यन्त गर्हित । श्रीरामचन्द्र जी देखने में जैसे प्रिय थे वह राज्ञसी वैसी ही भयङ्कर थी । ऐसी वह राज्ञसी कामातुर हो, श्रीरामचन्द्र जी से बोली ॥ १२ ॥

१ वृत्तमध्यं—तनुमध्यं (गो०) २ विरूपाक्षी—विकटनेत्री (गो०)
३ सुकेशं—नीलकेशं । (गो०) ४ न्यायवृत्त—उचिताचारं । (गो०) ५ शरीर-
जो—मन्मथः । (गो०)

जटी तापसरूपेण सभार्यः शरचापधृत् ।

आगस्त्वमिमं देशं कथं राक्षससेवितम् ॥ १३ ॥

जटा धारण किये, तपस्त्री का भेष बनाये और तीर कमान लिये, खी सहित, तुम इस राक्षसों से सेवित बन में, क्यों आये हो ? ॥ १३ ॥

किमागमनेकृत्यं ते तत्त्वमाख्यातुमर्हसि ।

एवमुक्तस्तु राक्षस्या शूर्पणख्या परन्तपः ॥ १४ ॥

ऋजुबुद्धितया^१ सर्वमाख्यातुमुपचक्रमे ।

अनृतं न हि रामस्य कदाचिदपि सम्मतम् ॥ १५ ॥

तुम्हारे यहाँ आने का क्या प्रयोजन है, सो ठीक ठीक बतलाओ। शत्रुघ्नों के तपाने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने शूर्पणखा के ये वचन सुन, सरलता से अपना समस्त वृत्तान्त कहना आरम्भ किया। क्योंकि श्रीरामचन्द्र भूठ बोलना कभी पसन्द नहीं करते ॥ १४ ॥ १५ ॥

विशेषेणाश्रमस्थस्य^२ समीपे स्त्रीजनस्य च ।

आसीदशरथो नाम राजा त्रिदशविक्रमः ॥ १६ ॥

सो भी विशेष कर तपोवन में बैठ कर और द्वियों के सामने। अतः श्रीरामचन्द्र जी^३ने कहा—देवतुल्य पराक्रमी महाराज दशरथ नाम के महाराज थे ॥ १६ ॥

तस्याहमग्रजः पुत्रो रामो नाम जनैः श्रुतः ।

भ्राताऽयं लक्ष्मणो नाम यवीयान्गामनुव्रतः ॥ १७ ॥

उन्हींका मैं ज्येष्ठपुत्र हूँ। संसार में मैं राम के नाम से प्रसिद्ध हूँ। यह मेरा आज्ञाकारी छोटा भाई है। इसका नाम लक्ष्मण है ॥ १७ ॥

^१ ऋजुबुद्धितया — सरलस्वभावेन। (शि०) ^२ आश्रमस्थस्य—तपोवनस्थस्य (गो०)

इयं भार्या च वैदेही मम सीतेति विश्रुता ।

नियोगात्^२ नरेन्द्रस्य पितुर्मातुश्च यन्त्रितः^१ ॥ १८ ॥

और यह विदेहनन्दिनी मेरी भार्या है और इसका नाम सीता है । अपने पिता महाराज दशरथ और माता की आज्ञा से प्रेरित हो ॥ १८ ॥

धर्मार्थ^३ धर्मकाङ्क्षी^४ च वनं वस्तुमिहागतः ।

त्वां तु वेदितुमिच्छामि कथयतां काऽसि कस्य वा ॥ १९ ॥

तपोरूपी धर्म की सिद्धि के लिये और पिता को आज्ञा का पालन करने की आकांक्षा से, मैं यहाँ इस वन में आया हूँ । अब मैं तुम्हारा परिचय भी जानना चाहता हूँ । सो तुम बतलाओ कि, तुम कौन हो, और किसकी खी हो और किसकी लड़की हो ? ॥ १९ ॥

न हि तावन्मनोज्ञाङ्गी राक्षसी प्रतिभासि मे ।

इह वा किन्निमित्तं त्वमागता ब्रूहि तत्त्वतः ॥ २० ॥

तुम जैसी बनठन कर आयी हो, सो वास्तव में तुम वैसी हो नहीं । तुम तो मुझे कोई राक्षसी जान पड़ती हो । अब तुम ठीक ठीक बतलाओ कि, तुम यहाँ किस लिये आयी हो ? ॥ २० ॥

साऽब्रवीद्वचनं श्रुत्वा राक्षसी मदनार्दिता ।

श्रूयतां राम वक्ष्यामि तत्त्वार्थं वचनं मम ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन वह कामातुर राक्षसी बोली— हे राम ! मेरे वचन सुनिये, मैं अब अपना परिचय तुम्हें ठीक ठीक देती हूँ ॥ २१ ॥

१ यन्त्रितः—नियतः । (गो०) २ नियोगात् आज्ञावलात् । (रा०)
३ धर्मार्थ—तपोरूपधर्मसिद्धयर्थ । (गो०) ४ धर्मकाङ्क्षी—पितृवाक्यपालन
रूपधर्मकाङ्क्षी । (रा०)

अहं शूर्पणखा नाम राक्षसी कामरूपिणी ।

अरण्यं विचरामीदमेका सर्वभयङ्करा ॥ २२ ॥

मैं शूर्पणखा नाम को कामरूपिणी राक्षसी हूँ। मैं सब को डराती हुई, अकेली इस वन में घूमा करती हूँ ॥ २२ ॥

रावणो नाम मे भ्राता वलीयानराक्षसेश्वरः ।

वीरो विश्रवसः पुत्रो यदि ते श्रोत्रमागतः ॥ २३ ॥

बड़ा बलवान्, शूर और विश्रवामुनि का पुत्र तथा राक्षसों का राजा, जिसका नाम कदाचित् तुमने सुना हो, रावण मेरा भाई है ॥ २३ ॥

प्रवृद्धनिद्रश्च सदा कुम्भकर्णो महाबलः ।

विभीषणस्तु धर्मात्मा न तु राक्षसचेष्टितः ॥ २४ ॥

मेरे मझेले भाई का नाम कुम्भकर्ण है जो सदा सोया करता है, किन्तु है बड़ा बलवान्। मेरे सब से क्लोउ भाई का नाम विभीषण है। वह बड़ा धर्मात्मा है, इसीसे वह जन्म से राक्षस होने पर भी, उसके आचरण राक्षसों जैसे नहीं हैं ॥ २४ ॥

प्रख्यातवीर्यो च रणे भ्रातरौ खरदृष्णो ।

तानहं समतिक्रान्ता राम त्वा पूर्वदर्शनात् ॥ २५ ॥

समुपेतास्मि भावेन भर्तारं पुरुषोत्तमम् ।

अहं प्रभावसम्पन्ना स्वच्छन्दबलगामिनी ॥ २६ ॥

खर और दूषण नाम के मेरे दो भाई और हैं, जो युद्ध करने में बड़े प्रसिद्ध पराक्रमी हैं। हे राम ! तुमको पहिली बार देखते ही, (तुम पर आसक्त हो), मैं उन सब की कुछ भी परवाह न कर, तुम जैसे उत्तम पुरुष को अपना पति बनाने को यहाँ आयी हूँ। मैं बड़ी प्रभाव

शालिनी और वलवती हूँ। इसीलिये मैं स्वच्छन्द घूमती रहती हूँ। अर्थात् जहाँ चाहती हूँ वहाँ जाती हूँ ॥ २५ ॥ २६ ॥

चिराय भव मे भर्ता सीतया किं करिष्यसि ।

विकृता च विरूपा च न चेयं सदृशी तव ॥ २७ ॥

सो तुम चिरकाल के लिये मेरे पति बनो। तुम सीता को ले कर क्या करोगे? यह तो विकराल और कुरुपा है। अतः यह तुम्हारे योग्य नहीं है ॥ २७ ॥

[नोट—“भव मे भर्ता” से जान पड़ता है कि, राक्षससमाज में विधवाएँ पुनर्विवाह कर सकती थीं।]

अहमेवानुरूपा ते भार्यारूपेण पश्य माम् ।

इवां विरूपामसर्तीं करालां निर्णतोदरीम् ॥ २८ ॥

अनेन ते सह ब्रात्रा खक्षयिष्यामि मानुषीम् ।

ततः पर्वतशृङ्गाणि बनानि विविधानि च ॥

पश्यन्सह मया कान्त दण्डकान्विचरिष्यसि ॥ २९ ॥

सौन्दर्य की दृष्टि से मैं तुम्हारी भार्या बनने योग्य हूँ। अतः तुम मुझे अपनी लड़ी की तरह देखो। इस कुरुपा, कुलटा, विकटाकार वाली और लटकती हुई थोंद वाली, मानुषी सीता को, तुम्हारे इस भाई के सहित, मैं खा डालूँ गी। तब तुम मेरे साथ पर्वत के इन शिखरों पर और इन विविध बनों को देखते हुए, इस दण्डक वन में विचरना ॥ २८ ॥ २९ ॥

इत्येवमुक्तः काकुत्स्थः प्रहस्य मदिरेक्षणाम् ।

इदं वचनमारेभे वक्तुं वाक्यविशारदः ॥ ३० ॥

॥ इति सप्तदशः सर्ग ॥

वचन बोलने में चुर श्रीरामचन्द्र जी ने शूर्पणखा के ये वचन सुन और मुसक्खा कर, क्रूरमना राज्ञसी से यह कहना आरम्भ किया ॥ ३० ॥

अरण्यकाण्ड का सतरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ।

—*—

अष्टादशः सर्गः

—*—

ततः शूर्पणखां रामः कामपाशावपाशिताम् ।

स्वच्छया^१ लक्षण्या वाचा स्मितपूर्वमथाब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उपहास करते हुए, कामपीड़ित शूर्पणखा से साफ साफ शब्दों में, किन्तु मधुर वाणी से मुसकरा कर कहा ॥ १ ॥

कृतदारोऽस्मि भवति भार्येयं दयिता मम ।

त्वद्विधानां तु नारीणां सुदुःखा ससप्नता ॥ २ ॥

हे देवि ! मेरा विवाह तो हो चुका है और यह मेरी पत्नी मुझे प्यारी भी बहुत है । अतः तुम जैसी रुग्नी को सौत का होना बड़ा दुःखदायी होगा ॥ २ ॥

अनुजस्त्वेष मे भ्राता शीलवान्प्रियदर्शनः ।

श्रीमानकृतदारश्च^२ लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ ३ ॥

हाँ, मेरे क्लोउ भाई लक्ष्मण के पास इस समय रुग्नी नहीं है और वह है भी शीलवान्, सुन्दर, तेजस्वी और पराक्रमी ॥ ३ ॥

[नोट— 'अकृतदार' का अर्थ 'आववाहित' इस लिये नहीं हो सकता कि, श्रीरामचन्द्र जी पर मिथ्याभाषण का दोष लगता है । श्रीरामचन्द्र जी तो कहते हैं—“आनुतनोक्तपूर्व में नच वश्ये कदाचना” तथा “न वितथा परिहास-कथास्वपि” ।]

^१ स्वच्छया—स्पष्टार्थ्या । (गो०) ^२ अकृतदारः—असहकृतदार । (गो०)

अपूर्वी॒ भार्या चार्थी॑ तरुणः प्रियदर्शनः ।

अनुरूपश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति ॥ ४ ॥

यह तरुण है और इसे बहुत दिनों से खो सुख भी प्राप्त नहीं हुआ । अतः इसे भार्या की आवश्यकता भी है । देखने में भी बड़ा सुखरूप होने के कारण, यह तुम्हारे अनुरूप ही पति होगा ॥ ४ ॥

एनं भज विशालाक्षि भर्तारं भ्रातरं मम ।

असप्तना वरारोहे मेरुमर्कप्रथा यथा ॥ ५ ॥

सो हे विशालाक्षी ! तुम मेरे भाई की अपना पति बना लो । इसको अपना पति बनाने से तुम्हें सौत का दुःख भी न होगा और तुम इसके साथ उसी प्रकार सुख से रहोगी, जिस प्रकार सूर्य की प्रभा मेरु के पास रहती है ॥ ५ ॥

इति रामेण सा प्रोक्ता राक्षसी काममोहिता ।

विसृज्य रामं सहसा ततो लक्ष्मणमब्रीत् ॥ ६ ॥

वह काम से पीड़ित राक्षसी श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, तुरन्त श्रीरामचन्द्र जी को छोड़, लक्ष्मण जी से जा कर बोली ॥ ६ ॥

अस्य रूपस्य ते युक्ता भार्याऽहं वरवर्णिनी ।

मया सह सुखं सर्वान्दण्डकान्विचरिष्यसि ॥ ७ ॥

मैं सब खियों में अधिक सुन्दरी होने के कारण, तुम्हारे इस सौन्दर्य के योग्य ही तुम्हारी भार्या बनूँगी और तुम मेरे साथ सुख पूर्वक इस समूचे दण्डकवन में बिचरोगे ॥ ७ ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्री राक्षस्या वाक्यकोविदः ।

ततः शूर्पणखां स्मित्वा लक्ष्मणो युक्तमब्रवीत् ॥ ८ ॥

शूर्पणखा की यह बात सुन, वाक्पटु लक्ष्मण जी मुसक्खा कर उससे यह युक्तियुक्त बचन बोले ॥ ८ ॥

कथं दासस्य मे दासी भार्या भवितुमिच्छसि ।

सोऽहमार्येण परवान्नात्रा कमलवर्णिनि ॥ ९ ॥

हे कमलवर्णिनि ! (कमल समान रंग के शरीरवाली) तुम मुझे जैसे पराये दास की लड़ी बन कर, क्यों दासी बनना चाहती हो ? क्योंकि मैं तो अपने उन बड़े भाई के परवश हूँ ॥ ९ ॥

समृद्धार्थस्य सिद्धार्थामुदितामलवर्णिनी ।

आर्यस्य त्वं विशालाक्षि भार्या भव यवीयसी ॥ १० ॥

हे विशालनेत्रवाली ! तुम तो सर्व ऐश्वर्य सम्पन्न मेरे बड़े भाई की यदि क्लोटी या दूसरी लड़ी बनोगी, तो तुम्हारी सब मनोकामना पूरी होंगी और तुम बहुत प्रसन्न होवोगी ॥ १० ॥

एनां विरूपामसतीं करालां निर्णतोदरीम् ।

भार्या वृद्धां परित्यज्य त्वामेवैष भजिष्यति ॥ ११ ॥

फिर जब तुम इनसे विवाह कर लोगी, तब ये इस कुरूपा, कुलटा, कराली, बड़े पेट वाली और बूढ़ी लड़ी को क्लोड, तुम्हारे ही अनुरागी बन जायेंगे ॥ ११ ॥

को हि रूपमिदं श्रेष्ठं सन्त्यज्य वरवर्णिनि ।

मानुषीषु वरारोहे कुर्याद्वावं विचक्षणः ॥ १२ ॥

हे वरवीर्णनी ! हे वरारोहे ! भला कौन ऐसा बुद्धिमान् मनुष्य होगा, जो तुम्हारे इस सर्वश्रेष्ठ रूप का अनादर कर, मानुषी में अनुराग करेगा ॥ १२ ॥

इति सा लक्ष्मणेनोक्ता कराला निर्णतोदरी ।

मन्यते तद्वचस्तथ्यं परिहासाविचक्षणा^१ । ॥ १३ ॥

जब लक्ष्मण जी ने उससे इस प्रकार कहा, तब वह बड़े पेटवाली और भयङ्कर राज्ञसी, उपहास के मर्म को न समझ, लक्ष्मण की बातों को सत्य ही मान बैठी ॥ १३ ॥

सा रामं पर्णशालायामुपविष्टं परन्तपम् ।

सीतया सह दुर्धष्मब्रवीत्काममोहिता ॥ १४ ॥

वह कामपीड़ित तो थी ही, सो वह पर्णकुटी में सीता जी के साथ बैठे हुए, शत्रुओं को तपाने वाले, दुर्धष्म श्रीरामचन्द्र जी के पास जा कर कहने लगी ॥ १४ ॥

एनां विरूपामसर्तीं करालां निर्णतोदरीम् ।

वृद्धां भार्यामवृष्टभ्य मां न त्वं बहुमन्यसे ॥ १५ ॥

हे राम ! इस कुरुपा, कुलटा, भयङ्कर, महोदरी और बूढ़ी के सामने तुम (मेरी जैसी सुन्दरी का) ज़रा भी ख़्याल नहीं करते ॥ १५ ॥

अद्येमां भक्षयिष्यामि पश्यतस्तव मानुषीम् ।

त्वया सह चरिष्यामि निःसप्ना यथासुखम् ॥ १६ ॥

तो लो, मैं अभी तुम्हारे सामने इस मानुषी को खाये डालती हूँ और फिर सौत का खटका दूर कर, मैं तुम्हारे साथ इस बन में आनन्दपूर्वक विहार करूँगी ॥ १६ ॥

१ परिहासाविचक्षणा — परिहासानभिज्ञा । (गो०)

इत्युक्त्वा मृगशाबाक्षीमलातसद्वशेषणा ।

अभ्यधावत्सुसंकुद्धा महोल्का रोहिणीमिव ॥ १७ ॥

यह कह कर, दहकते हुए अङ्गारे के समान नेत्रों वाली शूर्पणखा, महोकुद्ध हो, हिरनी के बच्चे जैसे नेत्रों वाली सीता जी पर वैसे ही झपटी, जैसे रोहिणी की ओर उल्कापिण्ड वेग से झपटता हो ॥ १७ ॥

तां मृत्युपाशप्रतिमामापतन्तीं महावलः ।

निगृह्य रामः कुपितस्ततो लक्षणमब्रवीत् ॥ १८ ॥

यम की फाँसी के समान राज्ञसी को आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध में भर, हुङ्कार से उसे रोका और लक्ष्मण जी से कहा ॥ १८ ॥

क्रूरैरनार्यैः सांमित्रे परिहासः कथञ्चन ।

न कार्यः पश्य वैदेहीं कथञ्चित्सौम्य जीवतीम् ॥ १९ ॥

हे लक्ष्मण ! ऐसे असभ्य और क्रूर जनों से हँसी दिल्लगी न करनी चाहिये । हे सौम्य ! शूर्पणखा की यह क्रूरता देख, सीता कैसे स्वस्थ रह सकती है ? ॥ १९ ॥

इमां विरूपामसतीमतिमत्तां महोदरीम् ।

राक्षसीं पुरुषव्याघ्र विरूपयितुर्महसि ॥ २० ॥

हे पुरुषव्याघ्र ! तुम इस कुरुपा, कुलटा, अत्यन्त मतवाली, और बड़े पेट वाली राज्ञसी को और भी कुरुप कर दो ॥ २० ॥

इत्युक्तो लक्ष्मणस्तस्याः क्रुद्धो रामस्य पश्यतः* ।

उद्धृत्य खड़ं चिच्छेद कण्ठानासं महावलः ॥ २१ ॥

१ निगृह्य हुँकारेण प्रतिषिध्य । (गो ०) २ कथञ्चिज्जीवतीं-शूर्पणखाया ।
क्रीर्यमालोऽस्यकर्थचित्स्वास्थ्यमापन्नां । (गो ०)

* पाठान्तरे—“पार्वतः” ।

महावलवान् लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी के इन बच्चों की सुन, कुद्ध हो और तलवार निकाल कर, श्रीरामचन्द्र जी के सामने ही उस राक्षसी के नाक कान काट डाले ॥ २१ ॥

निकृत्तकर्णनासा तु विस्वरं सा विनद्य च ।

यथागतं प्रदुद्राव घोरा शूर्पणखा वनम् ॥ २२ ॥

तब तो वह घोर राक्षसी शूर्पणखा कान और नाक कटने के कारण विकट चीत्कार करती हुई, जिधर से आयी थी, उधर हो बन में भागी ॥ २२ ॥

सा विरुपा महाघोरा राक्षसी शोणितोक्षिता ।

ननाद विविधान्नादान्यथा प्रावृषि तोयदः ॥ २३ ॥

अति भयानक शरीरवाली कुरुपा वह राक्षसी, रुधिर में सनी, वर्षाकालीन बादल की तरह, नाना प्रकार के शब्द करती हुई गरजने लगी ॥ २३ ॥

सा विक्षरन्ती रुधिरं बहुधा घोरदर्शना ।

प्रगृह्य बाहू गर्जन्ती प्रविवेश महावनम् ॥ २४ ॥

वह पहले से भी अधिक भयानक रूपवाली हो, वाहें उठा, घावों से रुधिर टपकाती हुई, महावन में घुस गयी ॥ २४ ॥

ततस्तु सा राक्षससङ्खसंवृत्तं

खरं जनस्थानगतं विरूपिता ।

उपेत्य तं भ्रातरमुग्रदर्शनं ।

पपात भूमौ गगनाद्यथाऽशनिः ॥ २५ ॥

तदनन्तर वह कुरुपा राक्षसी, जनस्थान में, जहाँ खर नाम का उग्रतेजवान् उसका भाई राक्षसों की मण्डली में बैठा था, जा कर, उसके सामने, आकाश से गिरे हुए बज्र की तरह, पृथ्वी पर गिर पड़ी ॥ २५ ॥

ततः सभार्यं भयमोहमूर्छिता

सलक्ष्यणं राघवमागतं वनम् ।

विरूपणं चात्मनि शोणितोक्षिता

शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा ॥ २६ ॥

इति अष्टादशः सर्गः ॥

रुधिर से सनी, भय और मोह से अचेत (अर्थात् जिसका चित्त ठिकाने न था) खर की वहिन राक्षसी शूर्पणखा ने, खर को, सीता और लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी का वन में आना और उनके द्वारा अपनी नाक और कानों के काढे जाने का समस्त वृत्तान्त कह सुनाया ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का अठारहवां सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनर्विशः सर्गः

—*—

तां तथा पतितां दृष्टा विरूपां शोणितोक्षिताम् ।

भगिनीं क्रोधसन्तप्तः खरः पप्रच्छ राक्षसः ॥ १ ॥

विरूप और रुधिर से सनी हुई अपनी वहिन को ज़मीन पर गिरी हुई देख, खर नामक राक्षस ने क्रोध से सन्तप्त हो, अपनी वहिन से पूँछा ॥ १ ॥

उत्तिष्ठ तावदाख्याहि प्रमोहं जहि सम्भ्रमम् ।

व्यक्तमाख्याहि केन त्वमेवंरूपा विरूपिता ॥ २ ॥

उठ कर बैठ जा और अपना जी ठिकाने कर के, अपना हाल तो कह। निर्भय हो, साफ साफ बतला कि, तुझे किसने कुरूप किया ॥ २ ॥

कः कृष्णसर्पमासीनमाशीविषमनागसम् ।

तुदत्यभिसमाप्त्रमङ्गुल्यग्रेण लीलया ॥ ३ ॥

सामने बैठे हुए, कुण्डली बांधे, निरपराध विषधर काले साँप को, खेल के मिस, अथवा अनायास, ऊंगली से किसने छेड़ा है ॥ ३ ॥

कः कालपाश^१मासज्य^२ कण्ठे मोहान् बुध्यते^३ ।

यस्त्वामद्य^४ समासाद्य पीतवान्विषमुत्तमम् ॥ ४ ॥

कौन अपने गले में काल की फाँसी लगा कर, यह नहीं जानता कि, पीछे इससे उसे मरना होगा। जिसने तेरे साथ ऐसा व्यवहार किया है, अर्थात् जिसने तेरी नाक और कान काटे हैं; उसने मानें हलाहल विष पिया है ॥ ४ ॥

बलविक्रमसपना कामगा कामरूपिणी ।

इमामवस्थां नीता त्वं केनान्तकसमा गता ॥ ५ ॥

अरे तू तो ऐसी बल विक्रम वाली, स्वच्छन्द धूमने वाली, कामरूपिणी और काल के समान है। तेरी ऐसी दुर्दशा किसने कर डाली ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वभूतानमृषीणां च महात्मनाम् ।

कोऽयमेवं विरूपा त्वां महावीर्यश्चकार ह ॥ ६ ॥

१ कालपाशं - मृत्युपाशं । (गो०) २ आवज्य—आवध्य । (गो०)

३ न बुध्यते—उत्तरक्षणे स्वमरणं न जानाति । (गो०) ४ आसाद्य—प्राप्य । (गो०)

देवताओं गन्धवीं, भूतपिचाशों, ऋषियों और महात्माओं में कौन
ऐसा महापराक्रमी है, जिसने तेरे नाक कान काट डाले ॥ ६ ॥

न हि पश्यामयहं लोके यः कुर्यान्मम विप्रियम् ।

अन्तरेण सहस्राक्षं महेन्द्रं पाकशासनम् ॥ ७ ॥

मैं तो सहस्रलोचन इन्द्र की भी यह सामर्थ्य नहीं देखता कि,
वह मेरे साथ क्लेढ़खानी करे—फिर मनुष्यों की तो गिनती ही किसमें
है ॥ ७ ॥

अद्याहं मार्गणैः^१ प्राणानादास्ये जीवितान्तकैः^२ ।

सलिले क्षीरमासक्तं निष्पिवन्निव सारसः^४ ॥ ८ ॥

जिस प्रकार हंस जल मिश्रित दूध को, जल से अलग कर पी
लेता है, उसी प्रकार आज मैं भी प्राण हरण करने वाले अपने
बाणों से उस शत्रु के, जिसने तुम्हें विरुद्ध किया है, प्राण शरीर से
अलग कर दूँगा ॥ ८ ॥

निहतस्य मया संख्ये^३ शरसंकृतमर्मणः ।

सफेनं स्थिरं रक्तं मेदिनी कस्य पास्यति ॥ ९ ॥

युद्ध में मेरे चलाये हुए बाणों से विदीर्ण हो, कौन मरना चाहता
है? और किसका फेन सहित रक्त यह पुथकी पोना चाहती है? ॥ ९ ॥

कस्य पत्ररथाः^५ कायान्मांसमुक्तत्य सङ्गताः ।

प्रहृष्टा भक्षयिष्यन्ति निहतस्य मया रणे ॥ १० ॥

१ मार्गणैः—बाणैः । (गो०) २ जीवितान्तकैः—शत्रुजीवितविनाशकैः ।
(गो०) ३ संख्ये—युद्धे । (गो०) ४ सारसः—हंसविशेषः । (गो०)
५ पत्ररथाः—पक्षिणः (गो०)

युद्ध में मेरे हाथ से मरे हुए किस पुरुष की देह का मास नैच
नैच कर, गिरादि पक्षियों के झुण्ड, प्रसन्न हो कर, खाया चाहते
हैं ? ॥ १० ॥

तं न देवा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।

मयापकृष्टं कृपणं^१ शक्तास्त्रातुमिहाहवे ॥ ११ ॥

मैं जिस पर चढ़ाई करूँगा, उस मेरे अपराधी को, न देवता, न
गन्धर्व, न पिशाच और न राक्षस बचा सकेंगे ॥ ११ ॥

उपलभ्य^२ शनैः संज्ञां तं मे शंसितुमर्हसि ।

येन त्वं दुर्विनीतेन^३ वने विक्रस्य निर्जिता ॥ १२ ॥

अब तू अपना जी धीरे धीरे ठिकाने कर, उस दुष्ट का नाम पता
आदि मुझे बतला, जिसने तुझे इस वन में अपने पराक्रम से जीता
है ॥ १२ ॥

इति भ्रातुर्वचः श्रुत्वा क्रुद्धस्य च विशेषतः^४ ।

ततः शूर्पणखा वाक्यं सबाध्यमिदमब्रवीत् ॥ १३ ॥

अतिशय क्रुद्ध भाई के ये वचन सुन, शूर्पणखा आँसुओं से हव-
डबाती हुई, बोली ॥ १३ ॥

तरुणौ रूपसम्पन्नौ सुकुमारौ महाबलौ ।

पुण्डरीकविशालाक्षौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ॥ १४ ॥

तरुण, सुस्वरूप, सुकुमार, महाबली, कमलनयन, चीर और
काले मृग का चर्म धारण किये हुए, ॥ १४ ॥

१ कृपण—अपराधिनं । (शि०) २ उपलभ्य—प्राप्य । (गो०) ३ दुर्विनीतेन—
दुर्जनेन । (गो०) ४ विशेषतः—अतिशयेन । (गो०)

फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ धर्मचारिणौ ।

पुत्रौ दशरथस्यास्तां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १५ ॥

फलमूलाहारी, जितेन्द्रिय, तपस्वी और, धर्मचारी महाराज दशरथ के दो राजपुत्र राम और लक्ष्मण नाम के दो भाई हैं ॥ १५ ॥

गन्धर्वराजप्रतिमौ पार्थिवव्यञ्जनानितौ ।

देवौ वा मातुषौ वा तौ न तर्कयितुमुत्सहे ॥ १६ ॥

वे देखने में गन्धर्वराज की तरह और राजलक्षणों से युक्त जान पड़ते हैं । वे दोनों देवता हैं, या मनुष्य हैं, इसका कुछ निश्चय नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

तरुणी रूपसम्पन्ना सर्वाभरणभूषिता ।

दृष्टा तत्र मया नारी तयोर्मध्ये सुमध्यमा ॥ १७ ॥

मैंने, उन दोनों के साथ क्षीणकटिवाली युवती, सुन्दरी और सब भूषणों से भूषित एक खी भी देखा ॥ १७ ॥

ताभ्यामुभाभ्यां सम्भूय प्रमदामधिकृत्य^१ ताम् ।

इमामवस्थां नीताऽहं यथाऽनाथाऽसती तथा ॥ १८ ॥

उस खी के निमित्त अथवा उस खी के कहने से उन दोनों भाइयों ने मिल कर, मेरी वैसो दशा की, जैसी कि, किसी अनाथा और कुलटा खी की, की जाती है ॥ १८ ॥

तस्याश्वानृजुवृत्तायाऽस्तयोश्च हतयोरहम् ।

सफेनं पातुमिच्छामि रुधिरं रणमूर्धनि ॥ १९ ॥

^१ प्रमदामधिकृत्य—निमित्तीकृत्य । (गो०) २ अनृजुवृत्तायाः-कुटिलवृत्तायाः ।
(गो०)

हे भाई ! मैं अब यह चाहती हूँ कि, युद्ध में वे दोनों कुटिल भाई
मय उस खो के मारे जायं और मैं उनका फेन सहित (अर्थात्
ताज़ा, टटका) खून पीऊँ ॥ १६ ॥

एष मे प्रथमः^१ कामः^२ कृतस्तात् त्वया भवेत् ।
तस्यास्तयोर्थं रुधिरं पिवेयमहमाहवे ॥ २० ॥

मेरी सब से बढ़ कर (या श्रेष्ठ) यही अभिजाषा है । इसे
तुम पूरी करो कि, जिससे मैं युद्धक्षेत्र में उन तीनों का रक्षण
करूँ ॥ २० ॥

इति तस्यां ब्रुवाणायां चतुर्दशं महाबलान् ।

व्यादिदेश स्वरः क्रुद्धो राक्षसानन्तकोपमान् ॥ २१ ॥

शूर्पणखा के यह कहने पर, खर ने क्रुद्ध हो, यमराज के समान
बलवान् १४ राज्ञों को आज्ञा दी कि, ॥ २१ ॥

मानुषौ शस्त्रसम्पन्नौ चीरकृष्णाजिनाम्बरौ ।

प्रविष्टौ दण्डकारण्यं घोरं प्रमदया सह ॥ २२ ॥

जो शख्त धारण किये हुए हैं, काले मृग का चर्म ओढ़े हुए
और चीर पहिने हुए हैं तथा जो इस घोर दण्डकवन में, खो
सहित आये हुए हैं ॥ २२ ॥

तौ हत्वा तां च दुर्वत्तामपावर्तितुमर्थ ।

इयं च रुधिरं तेषां भगिनी पम पास्यति ॥ २३ ॥

उन दोनों जनों को, उस दुष्ट खो के सहित मार कर, लौट
आओ क्योंकि यह मेरी बहिन उनका रुधिर पीवेगी ॥ २३ ॥

^१ प्रथमः—श्रेष्ठः । (गो०) ^२ कामः—अभिजाषः । (गो०)

मनोरथोऽयमि^१ष्टोऽस्या भगिन्या मम राक्षसः ।

शीघ्रं सम्याद्यतां तौ च प्रमथ्य^२ स्वेन तेजसा ॥ २४ ॥

हे राक्षसो ! मेरी बहिन का यह मनोरथ है और मुझे भी यही इष्ट है कि, तुम लोग शीघ्र उन तीनों को अपने बल पराक्रम से मार डालो ॥ २४ ॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षसास्ते चतुर्दश ।

तत्र जग्मुस्तया सार्धं घना वातेरिता यथा ॥ २५ ॥

इति एकोनविंशः सर्गः ॥

इस प्रकार खर की आङ्गा पा कर, चौदहों राक्षस, वायु से उड़ाये हुए मेघों की तरह, शूर्पणखा के साथ वहाँ गये, जहाँ श्रीरामाश्रम था ॥ २५ ॥

अरण्यकाशङ्क का उन्नीसवां सर्ग पूरा हुआ ।

—;*;—

विंशः सर्गः

—;*;—

ततः शूर्पणखा घोरा राघवाश्रममागता ।

रक्षसामाचचक्षे तौ भ्रातरौ सह सीतया ॥ १ ॥

तदनन्तर वह भयङ्कर रूपबाली शूर्पणखा, श्रीरामाश्रम में पहुँची और उन दोनों भाई राम, लक्ष्मण तथा सीता को, उन राक्षसों को दिखलाया ॥ १ ॥

१ अस्याअर्थमनोरथः ममचायमिष्टः सम्मतइत्यर्थः । (गो०) २ प्रमथ्य—हत्वा । (गो०)

ते रामं पर्णशालायामुपविष्टं महावलम् ।

दद्युः सीतया सार्धं वैदेह्या लक्ष्मणेन च ॥ २ ॥

उन राज्ञसों ने पर्णकुटी में महावली श्रीराम को सीता और लक्ष्मण सहित बैठे हुए देखा ॥ २ ॥

तान्दृष्टा राघवः श्रीमानागतां तां च राक्षसाम् ।

अब्रवीद्भातरं रामो लक्ष्मणं दीप्तेजसम् ॥ ३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उन राज्ञसों को और शूर्पणखा को आया हुआ देख, तेजस्वी लक्ष्मण से कहा ॥ ३ ॥

मुहूर्तं भव सौमित्रे सीतायाः प्रत्यनन्तरः ।

इमानस्या वधिष्यामि पदवीमागतारनिह ॥ ४ ॥

हे लक्ष्मण ! थोड़ी देर तुम सीता के पास रह कर इनकी, रख-
वाली करो । इतने में मैं इस राज्ञसी के इन हिमायतियों को मार
डालूँगा ॥ ४ ॥

वाक्यमेतत्ततः श्रुत्व रामस्य विदितात्मनः ।

तथेति लक्ष्मणो वाक्यं रामस्य प्रत्यपूजयत् ॥ ५ ॥

लक्ष्मण जी ने विदितात्मा श्रीरामचन्द्र के वचन सुन कर
और उनके कथन को स्वीकार करते हुए, “बहुत अच्छा” कहा ॥ ५ ॥

राघवोऽपि महच्चापं चामीकरविभूषितम् ।

चकार सज्यं धर्मात्मा तानि रक्षांसि चाब्रवीत् ॥ ६ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने भी, सुवर्णभूषित अपने बड़े धनुष पर
रोदा चढ़ा, उन राज्ञसों से कहा ॥ ६ ॥

१ प्रत्यनन्तरः—रक्षणार्थं समीकर्त्ता भव । (शि०) २ पदवीमागतान्—
तत्सहायत्वेन प्राप्तान् । (शि०)

पुत्रौ दशरथस्यावां भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।

प्रविष्टौ सीतया सार्धं दुश्चरं दण्डकावनम् ॥ ७ ॥

देखो हम दोनों महाराज दशरथ के पुत्र, सीता को अपने साथ ले, इस दुर्गम दण्डकवन में आये हैं ॥ ७ ॥

फलमूलाशनौ दान्तौ तापसौ धर्मचारिणौ ।

वसन्तौ दण्डकारण्ये किमर्थमुपहिंसथ ॥ ८ ॥

हम फलमूल खाने वाले, जितेन्द्रिय, तपस्वी और धर्मचारी हों, इस दण्डकवन में रहते हैं, सो तुम हमारे ऊपर क्यों चढ़ कर आये हो अथवा हमें मारने आये हो ? ॥ ८ ॥

युष्मान्पापात्मकान्हन्तुं विप्रकारान्महाहवे ।

ऋषीणां तु नियोगेन प्राप्तोऽहं सशरायुधः ॥ ९ ॥

(हम तपस्वी तो हैं, किन्तु हम लोगों के धनुष धारण करने का कारण यह है कि,) हम इस महावन में, तुम्हारे जैसे पापिष्ठों को, जो ऋषियों को सताया करते हैं, ऋषियों की आङ्गा से, मारने के लिये, धनुष बाण ले कर आये हैं ॥ ९ ॥

तिष्ठतैवात्र लन्तुष्टा^१ नोपावर्तितुमर्हथ^२ ।

यदि प्राणैरिहार्थो वा निवर्तध्वं निशाचराः ॥ १० ॥

इस लिये तुम निर्भय जहाँ के तहाँ खड़े रहना—भागना मत । और यदि अपने प्राण बचाने हों तो, हे राज्ञसों ! तुम यहाँ से लौट जाओ ॥ १० ॥

१ मन्तुष्टा—अभीता । (गो०) २ नोपावर्तितुमर्हथ—मा पलायध्व-
मित्यर्थः । (गो०)

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा राक्षसास्ते चतुर्दश ।

ऊचुर्वाचं सुसंकुद्धा ब्रह्मघाः शूलपाणयः ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के ये वचन सुन, वे ब्रह्मघाती और शूलधारी चोदह राक्षस, महाकुद्ध हो बोले ॥ ११ ॥

संरक्तनयना घोरा रामं संरक्तलोचनम् ।

परुषं मधुरभाषं हृष्टा दृष्टपराक्रमम् ॥ १२ ॥

वे लाल लाल नेत्र कर, लाल लाल नेत्रों बाले, मधुरभाषी, परम प्रसन्न रहने वाले और दृढ़ पराक्रमी श्रीरामचन्द्र से कठोर वचन बोले ॥ १२ ॥

क्रोधमुत्पाद्य नो भर्तुः खरस्य सुमहात्मनः ।

त्वमेव हास्यसे प्राणानद्यास्माभिर्हतो युधि ॥ १३ ॥

देखो, तुमने हमारे महात्मा खर को अपने ऊपर कुद्ध स्वयं किया है । सो तुम आज लड़ाई में हमारे हाथ से मारे जाओगे ॥ १३ ॥

का हि ते शक्तिरेकस्य बहूनां रणमूर्धनि ।

अस्माकमग्रतः स्थातुं किं पुनर्येद्गुमाहवे ॥ १४ ॥

तुम्हारे अकेले की क्या ताब है, जो हमारे सामने रण में खड़े भी रह सको ! हमारे साथ लड़ना तो बात ही निराली है ॥ १४ ॥

एहि बाहुप्रयुक्तैर्नः परिघैः^१ शूलपट्टैः^२ ।

प्राणांस्त्यक्ष्यसि वीर्यं च धनुश्च करपीडितम्^३ ॥ १५ ॥

१ परिघैः—गदाभेदैः । (गो०) २ पट्टैः—भस्त्रभेदैः । (गो०) ३ कर-
पीडितम्—करेण दृढ़ गृहीतम् । (शि०)

हमारी चलायी इन गदाओं और तलवारों से घायल हो,
तुमको केवल अपने हाथ का यह धनुष ही नहीं त्यागना पड़ेगा;
किन्तु तुम्हें अपने बलबीर्य और प्राणों से भी हाथ धोने पड़ेंगे ॥१५॥

इत्येवमुक्त्वा संकुद्धा राक्षसास्ते चतुर्दश ।

उद्यतायुधनिञ्चिशा राममेवाभिदुद्वुः ॥ १६ ॥

यह कह वे चौदहो राक्षस कुद्ध हो और अपने आयुधों को उठा,
एक साथ श्रीरामचन्द्र जी की ओर झपटे ॥ १६ ॥

चिक्षिपुस्तानि शूलानि राघवं प्रति दुर्जयम् ।

तानि शूलानि काकुत्स्थ समस्तानि चतुर्दश ॥ १७ ॥

तावद्विरेव चिच्छेद शरैः काञ्चनभूषणैः ।

ततः पश्चान्महातेजा नाराचा॑न्सूर्यसन्निभान् ॥ १८ ॥

जग्राह परमकुद्धश्चतुर्दश शिलाशितान् ।

गृहीत्वा धनुरायस्य लक्ष्यानुदिश्य राक्षसान् ॥ १९ ॥

मुमोच राघवो बाणान्वज्ञानिव शतक्रतुः ।

ते भित्त्वा रक्षसां वेगाद्वक्षांसि रुधिराप्लुताः ॥ २० ॥

दुर्जेय श्रीरामचन्द्र जी पर उन लोगों ने त्रिशूल चलाये । तब श्रीरामचन्द्र जी ने उन समस्त चौदहों त्रिशूलों को सुवर्णभूषित उतने ही (१४) बाणों से काट डाला । तदनन्तर महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त कुद्ध हो सूर्य के समान चमचमाते, बिना फरके और सिली पर पैनाये हुए चौदह बाण ले, उनको धनुष पर रखा और राक्षसों को लक्ष्य कर उसी प्रकार उन्हें क्षोड़े, जिस प्रकार इन्द्र वज्र

नाराचान्—अफलकान् बाणान् (गो०) २ शिलाशितान्—शाणोपल निष्ठ-
दान् । शिलानिमेंदक्षमानित्यर्थः । (गो० — रा०)

को चलाते हैं। वे सब बाण, बड़े वेग से राक्षसों की छाती फोड़, रुधिर में सने, ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

विनिष्पेतुस्तदा भूमौ न्यमज्जन्ताशनिस्वनाः ।

ते भिन्नहृदया भूमौ च्छन्नमूला इव द्रुष्टाः ॥ २१ ॥

बज्र की तरह घहराते हुए पृथिवी पर जा गिरे। बाणों के आघात से वे चौदहों राक्षस भी विदोर्ण हृदय हो, जड़ से करे हुए वृत्त की तरह भूमि पर गिर पड़े ॥ २१ ॥

निषेतुः शोणिताद्रङ्गा विकृता विगतासवः^१ ।

तान्दृष्टा पतितान्भूमौ राक्षसी क्रोधमूर्छिता ॥ २२ ॥

वे राक्षस खून से लथर पश्चर थे, उनकी शक्ते विगड़ गयी थीं और वे निर्जीव हो गये थे। उनको ज़मीन पर गिरा हुआ देख, शूर्पणखा क्रोध से अधोर हो गयी ॥ २२ ॥

परित्रस्ता पुनस्तत्र व्यस्तजद्वैरवस्वनान् ।

सा नदन्ती* महानादं जवाच्छूर्पणखा पुनः ॥ २३ ॥

और भयभीत हो, उसने वहाँ पुनः बड़ा भयङ्कर शब्द किया और महानाद करती हुई वह शूर्पणखा, ॥ २३ ॥

उपगम्य खरं सा तु किञ्चित्संशुष्कशोणिता ।

पपात पुनरेवार्ता सनिर्यसेवदल्लरी† ॥ २४ ॥

जिसके शरीर का खून सूख गया था—खर के पास पहुँची और कातर हो सूखी हुई लता की तरह फिर गिर पड़ी ॥ २४ ॥

^१ विगतासवः—विगतप्राणाः । (गो०)

* पाठान्तरे “पुनर्नादं” । † पाठान्तरे—“सल्लकी” ।

भ्रातुः समीपे शोकार्ता ससर्ज निनदं मुदुः ।

सस्वरं मुमुचे वाष्णं विष्णवदना तदा ॥ २५ ॥

भाई के पास जा, वह शोकातुर हो बहुत चीखने लगी और चिल्ला चिल्ला कर रही लगी । तब मारे शोक के उसका चेहरा फीका पड़ गया ॥ २५ ॥

निपातितान्दृश्य रणे तु राक्षसा-

न्पथाविता शूर्पणखा पुनस्ततः ।

वधं च तेषां निखिलेन रक्षसां

शशंस सर्वं भगिनी खरस्य सा ॥ २६ ॥

इति विंशः सर्गः ॥

वह खर की बहिन शूर्पणखा, युद्ध में राक्षसों को मरा हुआ देख, दौड़ी दौड़ी खर के पास गयी और बोली कि, सब राक्षस मारे गये ॥ २६ ॥

अरण्यकारड का बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकविंशः सर्गः

—*—

स पुनः पतितां दृष्टा क्रोधाच्छूर्पणखां खरः ।

उवाच व्यक्तया वाचा तामनर्थार्थ^१मागताम् ॥ १ ॥

सब राक्षसों का सत्यानाश करवाने को उद्यत शूर्पणखा को फिर ज़मीन पर पड़ी हुई देख, क्रोध में भर, खर फिर चिल्ला कर बोला ॥ १ ॥

^१ अनर्थार्थ – सर्वराक्षस विनाशार्थ । (गो०)

मया त्विदानीं शूरास्ते राक्षसा रुधिराशनः ।

त्वत्प्रियार्थं विनिर्दिष्टाः किमर्थं रुद्यते पुनः ॥ २ ॥

मैंने तुझे प्रसन्न करने के लिये रुधिर पीने वाले और शूरवीर चौदह राक्षस भेजे दिये—अब तू क्यों फिर रो रही है ॥ २ ॥

भक्ताश्वैवानुरक्ताश्च हिताश्च मम नित्यशः ।

ग्रन्तोऽपि न निहन्तव्या न न कुर्युवचो मम ॥ ३ ॥

जिन राक्षसों को मैंने (छाँट कर) भेजा है, वे मेरे विश्वासपात्र हैं और उनका मुझमें पूर्ण अनुराग होने के कारण, वे मेरे सदा हित चाहने वाले हितैषी हैं । वे किसी के मारने पर भी, मारे नहीं जा सकते और न मेरी आङ्गड़ा टाल सकते हैं (अर्थात् न तो उनके मारे जाने की मुझे शङ्खा है और न मुझे उनके बहां न जाने का सन्देह ही है) ॥ ३ ॥

किमेतन्द्युतुमिच्छामि कारणं यत्कृते पुनः ।

हा नाथेति विनर्दन्ती सर्पवद्वेष्टसेष्ठि॒ क्षितौ ॥ ४ ॥

यह क्या बात है और इसका क्या कारण है, जो तू फिर “हा नाथ” कह कर चिल्हाती हुई साँप की तरह ज़मीन पर लोट रही है । मैं इसका कारण जानना चाहता हूँ ॥ ४ ॥

अनाथवद्विलपसि नाथे तु मयि संस्थिते ।

उत्तिष्ठोतिष्ठ मा भैषीवैक्लब्यं^१ त्यज्यतामिह ॥ ५ ॥

अरे जब मैं तेरा रक्षक भौजूद हूँ, तब तू अनाथ की नाई विलाप क्यों करती है उठ ! उठ ! डर मत और कातरता त्याग दे अर्थात् अधीर मत हो ॥ ५ ॥

१ भक्ताः—विश्वासनाजः । (गो०) २ वैक्लब्यं—कातर्यं । (गा०)

* पाठान्तरे—“ सर्पवल्लुडसि ” ।

इत्येवमुक्ता दुर्धर्षा खरेण परिसान्त्वता ।
विमृज्य नयने सास्ते खरं भ्रातरमब्रवीत् ॥ ६ ॥

जब खर ने इस प्रकार उस दुर्धर्षा को धीरज बंधाया, तब वह आँसुओं को पेंड्र कर, अपने भाई खर से कहने लगी ॥ ६ ॥

अस्मीदानीमहं प्राप्ता हृतश्रवणनासिका ।

शोणितौघपरिक्लना त्वया च परिसान्त्वता ॥ ७ ॥

हे खर ! नाक और कानों से हीन, और लाहू से तरबतर, मैं जब (पहले) तेरे पास आयी थी, तब तूने धीरज बंधा कर ॥ ७ ॥

प्रेषिताश्च त्वया वीर राक्षसास्ते चतुर्दश ।

निहन्तुं राघवं क्रोधान्मत्प्रियार्थं सलक्षणम् ॥ ८ ॥

और क्रुद्ध हो कर, चौदह राक्षस मेरे सन्तोषार्थ, लक्षण सहित श्रीरामचन्द्र का वध करने को भेजे थे ॥ ८ ॥

ते तु रामेण सामर्षाः शूलपट्टिशपाणयः ।

समरे निहताः सर्वे सायकैर्मर्मभेदिभिः ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र ने मर्मभेदी पैने वाणों से शूल पटा आदि हाथों में लिये हुए और क्रोध में भरे हुए उन चौदहों राक्षसों को युद्ध में मार डाला ॥ ९ ॥

तान्दृष्टा पतितान्भूमौ क्षणेनैव महावलान् ।

रामस्य च महत्कर्मं महांखासोऽभवन्मम ॥ १० ॥

उन महावली राक्षसों का एक ज्ञान ही में पृथिवी पर गिरना (अर्थात् मरना) तथा श्रीरामचन्द्र के इस महत् कर्म को देख, मुझे एहा ढर लगा ॥ १० ॥

अहमस्मि समुद्दिश्या^१ विषण्णार् च निशाचर ।

शरणं त्वां पुनः प्राप्ता सर्वतोभयदर्शिनी ॥ ११ ॥

हे निशाचर ! मैं भयभीत, और दुखी हूँ और हर ओर मुझे भय ही भय देख पड़ता है । इसीसे पुनः तेरे शरण आयी हूँ ॥ ११ ॥

विषादनक्राध्युषिते परित्रासोर्मिमालिनि ।

किं मां न त्रायसे ममां विपुले शोकसागरे ॥ १२ ॥

विषाद रूप मगरों से पूर्ण और त्रास रूपी लहरों से युक्त महासागर में, मैं डूब रही हूँ । सो मुझे तू क्यों नहीं बचाता ? ॥ १२ ॥

एते च निहता भूमौ रामेण निशितैः शरैः ।

येऽपि मे पदवीं प्राप्ता राक्षसाः पिशिताशनाः ॥ १३ ॥

जो मांसभक्षी हिमायती राक्षस तूने मेरे साथ भेजे थे । वे श्रीराम के पैने बाणों से मारे जा कर ज़मीन में पड़े हैं ॥ १३ ॥

मयि ते यद्यनुक्रोशो यदि रक्षःसु तेषु च ।

रामेण यदि ते शक्तिस्तेजो वास्ति निशाचर ॥ १४ ॥

यदि मेरे ऊपर और उन राक्षसों के ऊपर तुझे दया हो और श्रीराम के साथ युद्ध करने की तुझमें शक्ति और तेज अर्थात् पराक्रम हो; ॥ १४ ॥

दण्डकारण्यनिलयं जहि राक्षसकण्टकम् ।

यदि रामं ममामित्रं न त्वयद्व वधिष्यसि ॥ १५ ॥

तो दण्डकारण्यवासो राक्षसों के इस करात्रक अर्थात् शत्रु को मार डाल । यदि आज ही तू मेरे शत्रु राम को नहीं मार डालेगा; ॥ १५ ॥

^१ समुद्दिग्ना — भीता । (गो०) २ विषण्णा — दुःखिता । (गो०)

तव चैवाग्रतः प्राणांस्त्यक्ष्यामि निरपत्रपा ।

बुद्धयाहमनुपश्यामि न त्वं रामस्य संयुगे ॥ १६ ॥

स्थातुं प्रतिमुखे शक्तः सबलश्च महात्मनः ।

शूरमानी न शूरस्त्वं मिथ्यारोपितविक्रमः ॥ १७ ॥

तो मैं तेरे सामने हो लाज क्वोड, अपने प्राण दे दूँगी । क्योंकि, मैं यह जानती हूँ कि, तू श्रीरामचन्द्र के साथ युद्ध में बड़ी भारी सेना की साथ ले कर भी नहीं ठहर सकता । तू अपने को शूर समझे हुए बैठा है, पर वास्तव में तू शूर है नहीं और तू अपने पराक्रम की जो डिंगे मारता है, वे सब झूठी हैं ॥ १६ ॥ १७ ॥

मानुषौ यौ न शक्नोषि हन्तुं तौ रामलक्ष्मणौ ।

रामेण यदि ते शक्तिस्तेजो वास्ति निशाचर ॥ १८ ॥

क्योंकि तू उन दो मनुष्यों अथात् श्रीराम और लक्ष्मण को भी नहीं मार सकता । अगर तुझमें श्रीराम के साथ युद्ध करने की शक्ति और तेज नहीं है; ॥ १८ ॥

दण्डकारण्यनिलयं जहि तं कुलपांसन ।

निःसत्त्वस्याल्पवीर्यस्य वासस्ते कीदृशस्त्वह ॥ १९ ॥

तो हे कुलाधम ! तू दण्डकारण्य में वसना क्वोड कर, चला जा । क्योंकि तुझ जैसा निःसत्त्व और निर्वल यहाँ कैसे रह सकता है ॥ १९ ॥

अपयाहि जनस्थानात्परितः सहवान्धवः ।

रामतेजोभिभूतो हि त्वं क्षिप्रं विनशिष्यसि ॥ २० ॥

तू शीघ्र अपने कुटुम्ब को साथ ले, जनस्थान से चला जा । नहीं तो तू श्रीरामचन्द्र के तेज से पराजित हो, शीघ्र ही मारा जायगा ॥ २० ॥

स हि तेजःसमायुक्तो रामो दशरथात्मजः ।

भ्राता चास्य महावीर्ये येन चास्मि विरूपिता ॥ २१ ॥

क्योंकि दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र एक तेजस्वी पुरुष हैं और उनका भाई भी, जिसने मेरी नाक और कान काटे, बड़ा पराक्रमी है ॥ २१ ॥

एवं विलप्य बहुशो राक्षसी विततोदरी^१ ।

भ्रातुः समीपे दुःखाता नष्टसंज्ञा वभूव ह ।

कराथ्यामुदर्द हत्वा रुदो भुशदुःखिता ॥ २२ ॥

इति एकविंशः सर्गः ॥

इस प्रकार वह बड़े पेटबाली राक्षसी बहुत भाँति विलाप कर, भाई के निकट, शोकाकुल हो, मूर्दित हो गयी और फिर होश में आ, अत्यन्त दुःखी हो, दोनों हाथों से अपना पेट पीट कर, रोने लगी ॥ २२ ॥

अरज्यकागड़ का इक्कीसनाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—;*;—

द्वार्चिंशः सर्गः

—;*;—

एवमाधर्षितः शूरः शूर्पनख्या खरस्तदा ।

उवाच रक्षसां मध्ये खरः खरतरं वचः ॥ १ ॥

जब शूर्पनखा ने खर को विकारा, तब वह शूर, राक्षसों के बीच (शूर्पनखा से) ये कठोर वचन बोला ॥ १ ॥

^१ विततोदरी—विलृतोदरी । (गो०)

तवावमानप्रभवः क्रोधोऽयमतुलो मम ।

न शक्यते धारयितुं लवणाम्भ^१ इवोत्थितम् ॥ २ ॥

हे शूर्पणख ! तेरा अपमान होने से मेरे मन में जो क्रोध उत्पन्न हुआ है, वह अतुल क्रोध मुझसे वैसे ही नहीं सम्हाला जाता, जैसे पूर्णमासी के दिन समुद्र अपने जल के वेग को नहीं सम्हाल सकता ॥ २ ॥

न रामं गणये वीर्यन्मानुषं क्षीणजीवितम् ।

आत्मदुश्चरितैः प्राणान्हतो योऽन्य विमोक्ष्यति ॥ ३ ॥

मैं अपने बल के सामने मरणोन्मुख मनुष्य शरीरधारी श्रीराम को, कुछ भी नहीं गिनता । उसने जो कुर्कर्म किया है, उससे उसे आज ही अपने प्राण त्यागने पड़ेंगे ॥ ३ ॥

बाष्पः संहियतामेष सम्भ्रमश्च विमुच्यताम् ।

अहं रामं सह भ्रात्रा नयामि यमसादनम् ॥ ४ ॥

अब तू अपना रोना धोना बंद कर, व्याकुलता को त्याग दे । श्रीराम को, उसके भाई सहित मैं यमपुरी भेजता हूँ ॥ ४ ॥

परश्वधरहतस्याद्य मन्दप्राणस्य संयुगे ।

रामस्य रुधिरं रक्तमुष्णं पास्यसि राक्षसि ॥ ५ ॥

हे राक्षसी ! युद्ध में कुठार से काटे गये और अधमरे श्रीराम के गर्भगर्म और लाल लाल लोहू को तू पीना ॥ ५ ॥

सा प्रहृष्टा वचः श्रुत्वा खरस्य वदनाच्छ्युतम् ।

प्रशश्नंस पुनर्मीर्ख्यद्वातरं रक्षसां वरम् ॥ ६ ॥

^१ लवणाम्भ इवोत्थितम् - लवण समुद्रः उल्वणं पर्वतिथितं स्ववेगमिव । (शि०) २ परश्वधः—कुठारः । (गो०)

खर के मुख से निकले हुए इन वचनों को सुन, शूर्पणखा बहुत प्रसन्न हो गयी और मूर्खतावश राज्ञसंश्रेष्ठ खर की पुनः प्रशंसा करने लगी ॥ ६ ॥

तया परुषितः पूर्वं पुनरेव प्रशंसितः ।

अब्रवीदूषणं नाम खरः सेनापतिं तदा ॥ ७ ॥

इस प्रकार पहिले धिक्कारा हुआ और पीछे प्रशंसित खर, अपने सेनापति दूषण से बोला ॥ ७ ॥

चतुर्दर्शं सहस्राणि मम चित्तानुवर्त्तिनाम् ।

रक्षसां भीमवेगानां समरेष्वनिवर्त्तिनाम् ॥ ८ ॥

नीलजीमूतवर्णानां घोराणां क्रूरकर्मणाम् ।

लोकहिंसाविहाराणां बलिनामुग्रतेजसाम् ॥ ९ ॥

तेषां शार्दूलदर्पणां महास्थानां महौजसाम् ।

सर्वेच्योगमुदीर्णानां^१ रक्षसां सौम्य कारय ॥ १० ॥

हे सौम्य ! मेरे मन के अनुसार काँम करने वाले, अति वेगवान्, युद्ध में कभी पीठ न दिखाने वाले, काले मेघों के समान वर्ण वाले घोर रूप धारी, क्रूरकर्मा, और लोगों की हत्या कर के सदा खेलने वाले, बलवान्, उग्रतेजधारी, शार्दूल की तरह दर्प वाले, विकृत मुख वाले, बड़े पराक्रमी, युद्ध के सब कार्यों में गर्वीले चौदह हज़ार राज्ञसों को लड़ने के लिये तैयार करो ॥ ८ ॥ ६ ॥ १० ॥

उपस्थापय मे क्षिप्रं रथं सौम्य धनूषि च ।

शरांश्चित्रांश्च खञ्जश्च शक्तीश्च विविधाः शिताः ॥ ११ ॥

^१ उदीर्णानां – गर्वितानां । (गो०)

और हे सौम्य ! मेरे रथ को धनुष को, विचित्र वाणों को, पैनी पैनी अनेक तलवारों तथा शक्तियों को ला कर, शीघ्र उपस्थित करो ॥ ११ ॥

अग्रे निर्यातुमिच्छामि पौलस्त्यानां महात्मनाम् ।

वधार्थं दुर्विनीतस्य रामस्य रणकोविदः ॥ १२ ॥

हे रणपण्डित ! मैं, इन पुलस्त्य कुलोद्धव महानुभाव राजसों के आगे आगे, उस दुष्ट राम को मारने के लिये, प्रस्थान करना चाहता हूँ ॥ १२ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य सूर्यवर्णं महारथम् ।

सदश्वैः शबलैर्युक्तमाचचक्षेऽथ दूषणः ॥ १३ ॥

खर के ये वचन सुन, दूषण ने सूर्य की तरह चमचमाते रथ में, चितकवरे घोड़े जोत कर, उसे खर के सामने ला खड़ा किया ॥ १३ ॥

तं मेरुशिखराकारं तमकाञ्चनभूषणम् ।

हेमचक्रमसंबाधं वैदूर्यमयकूबरम् ॥ १४ ॥

खर के रथ का आकार, मेरु पर्वत जैसा था, विशुद्ध खरे सोने के आभूषणों से वह रथ सजाया गया था, रथ के पहिये भी सौने ही के थे और उसके ऊपर में वैदूर्य मणि (पन्ने) जड़े हुए थे ॥ १४ ॥

मत्स्यैः पुष्पैर्द्रुमैः शैलैश्चन्द्रसूर्यैश्च काञ्चनैः ।

मङ्गलैः^१ पश्चिसद्वैश्च ताराभिरभिसंवृतम् ॥ १५ ॥

उस रथ के भीतर सोने की मञ्जिलियाँ, पुष्पित वृक्ष, पहाड़, चन्द्र, सूर्य, तारागण और तरह तरह के पक्षियों के आकार की मङ्गलकारी प्रतिमाएँ यथास्थान जड़ी हुई थीं ॥ १५ ॥

ध्वजनिस्त्रिंश॑ सम्पन्नं किञ्चिणीकविराजितम् ।
सदश्वयुक्तं सोऽमर्षादासुरोह खरो रथम् ॥ १६ ॥

रथ पर ध्वजा फहरा रही थी । उसके भीतर यथास्थान खड़ादि अख्त शब्द रखे हुए थे और छोटी छोटी धंटियाँ उसके चारों ओर लटक रही थीं । उस रथ में अच्छी जाति के घोड़े जुते हुए थे । ऐसे उत्तम रथ पर खर अत्यन्त कुपित हो सवार हुआ ॥ १६ ॥

निशाम्य तु रथस्थं तं राक्षसा भीमविक्रमाः ।
तस्युः संपरिवार्यैनं दूषणं च महाबलम् ॥ १७ ॥

खर को रथ में बैठा देख, महापराक्रमी राक्षसों की सेना सहित दूषण भी, खर को धेर कर, जाने को तैयार हो गया ॥ १७ ॥

खरस्तु तान्महेष्वासान्वोरवर्मायुधध्वजान् ।
निर्यतित्यब्रवीदृष्टो रथस्थः सर्वराक्षसान् ॥ १८ ॥

खर ने, रथ में बैठे हुए महाधनुष लिये और वड़े मजबूत जिरह-बखर पहिने तथा तलवार ढाल ध्वजा आदि अनेक प्रकार के आयुधों से सज्जित सब राक्षसों से प्रसन्न हो कर, आगे बढ़ने की कहा ॥ १८ ॥

ततस्तद्राक्षसं सैन्यं धोरवर्मायुधध्वजम् ।
निर्जगाम जनस्थानान्महानादं महाजवम् ॥ १९ ॥

तब वह अख्त शब्द से सज्जी हुई राक्षसों की सेना, महानाद करती हुई वड़ी तेज़ी के साथ जनस्थान से रवाना हुई ॥ १९ ॥

मुद्गरैः पदिशैः शूलैः सुतीशौश्च परश्वधैः ।
खड्डैश्वकैश्च हस्तस्थैर्भाजमानैश्च तोमरैः ॥ २० ॥

उस रात्रि सैन्य के योद्धा, मुदगर, पट्टा, पैने त्रिशूल, फरसे, तलवार, चक्र, वल्लम आदि हथियार हाथों में लिये हुए थे और उन्हें घुमाते हुए, शोभायमान हो रहे थे ॥ २० ॥

शक्तिभिः परिधैर्धेरिरतिमात्रैश्च कार्मुकैः ।

गदासिमुसलैर्वज्रैर्गृहीतैर्भीमदर्शनैः ॥ २१ ॥

शक्ति, परिधि, महाभयङ्कर धनुष, गदा, तलवार, मूसल, वज्र, आदि भयङ्कर अख्यात शब्दों को धारण कर, ॥ २१ ॥

राक्षसानां सुधोराणां सहस्राणि चतुर्दश ।

निर्यातानि जनस्थानात्खरचित्तातुवर्तिनाम् ॥ २२ ॥

चौदह हजार भयङ्कर रात्रि, जो खर के मन के अनुसार काम किया करते थे, जनस्थान से चले ॥ २२ ॥

तांस्त्वभिद्रवतो दृष्टा राक्षसान्भीमविक्रमान् ।

खरस्यापि रथः किञ्चिज्जगाम तदनन्तरम् ॥ २३ ॥

जब वे भीम विक्रमी रात्रि महावेग से चल दिये, तब उनको जाते हुए देख, खर का रथ भी कुछ अन्तर पर, उनके साथ साथ चला ॥ २३ ॥

ततस्ताञ्छबलानश्वांस्तसकाञ्चनभूषितान् ।

खरस्य मतिमाज्ञाय सारथिः समचोदयत् ॥ २४ ॥

सारथी ने खर की आज्ञा से उन चितकवरे घोड़ों को जिन पर सौने का साज कसा हुआ था, हाँका ॥ २४ ॥

स चोदितो रथः शीघ्रं खरस्य रिपुघातिनः ।

शब्देनापूरयामास दिशश्च प्रदिशस्तदा ॥ २५ ॥

उस समय शत्रुघाती खर का चलता हुआ रथ, अपने चलने के शब्द से दिशाओं और विदिशाओं को नादित करता हुआ, चला ॥२५॥

पृष्ठमन्युस्तु खरः खरस्वनो
रिपोर्वधार्थं त्वरितो यथाऽन्तकः ।
अचूचुदत्सारथिमुन्नदन्धनं
महाबलो मेघ इवाशमवर्षवान् ॥ २६ ॥
इति द्वाविंशः सर्ग ॥

वह अति बलवान् उच्च स्वर वाला खर, अत्यन्त कुद्ध हो, यम-राज की तरह, शत्रु के वध के लिये शीघ्रता के साथ, ओले बरसाने वाले मेघ की तरह गरजता हुआ, सारथी से बोला कि, रथ शीघ्र हाँको ॥ २६ ॥

अरण्यकाण्ड का वाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रयोविंशः सर्गः

—;*;—

* तं प्रयान्तं जनस्थानादशिवं शोणितोदकम्^१ ।

अभ्यवर्षन्महामेघस्तुमुलो गर्दभारुणः ॥ १ ॥

जब जनस्थान से वह राक्षससैन्य युद्ध के लिये रवाना हुई, तब गधे के शरीर जैसे धूसर रंग के महामेघों ने खून जैसे लाल रंग का अमङ्गलसूचक जल बरसाया ॥ १ ॥

^१ शोणितोदकम्—रक्तवर्णजलं । (गो०)

* पाठान्तरे—“ तस्मिन्याते ”

निपेतु^१स्तुरगास्तस्य रथयुक्ता^२ महाजवाः ।
समे पुष्पचिते^३ देशे राजमार्गे यदच्छया^४ ॥ २ ॥

खर के रथ में जो तेज़ चलने वाले थे जुते हुए थे, वे चलते चलते राजमार्ग पर, जिस पर फूल बिछे हुए थे और जो समर्थर था, दैवयोग से गिर पड़े ॥ २ ॥

श्यामं रुधिरपर्यन्तं^५ वधूव परिवेषणम् ।
अलातचक्रप्रतिमं परिगृह्यत्वं दिवाकरम् ॥ ३ ॥

सूर्य के चारों ओर श्याम वर्ण का घेरा बन गया, इस घेरे का बाहिरी भाग लाल रङ्ग का था ॥ ३ ॥

ततो ध्वजमुपागम्य हेमदण्डं समुच्छ्रुतम्^६ ।
समाक्रम्य महाकायस्तस्थौ गृधः सुदारुणः ॥ ४ ॥

एक बड़े डील डौल का और भयङ्कर गीध, रथ की ऊँची धजा पर, जिसकी ढंडी सोने की थी, चक्रर लगा कर, बैठ गया ॥ ४ ॥

जनस्थानसमीपे तु समागम्य खरस्वनाः^८ ।
विस्वरार्णन्विविधांश्चक्रुमीसादा मृगपक्षिणः ॥ ५ ॥

जनस्थान के निकट जा, मांस-भक्षी एवं विकट शब्दकारी पशुपक्षी भयङ्कर शब्द कर, चिल्जाने लगे ॥ ५ ॥

१ निपेतुः—स्वलिताः । (गो०) २ रथयुक्ताः—रथेवद्वाः । (गो०) ३ पुष्पचिते—पुष्पैनिविडे । (गो०) ४ यदच्छया—दैवगत्या । (गो०) ५ पर्यन्ते—प्रान्ते । (गो०) ६ परिगृह्य—परितात्यात्य । (गो०) ७ समुच्छ्रुतं—उच्चतं । (गो०) ८ खरस्वनाः—परुषस्वनाः । (गो०) ९ विस्वरान्—विकृतस्वरान् । (गो०) ।

व्याजहुश्च प्रदीपायां दिशि वै भैरवस्वनम् ।

अशिवं यातुधानानां शिवांघोरा महास्वनाः ॥ ६ ॥

भयानक सियार सूर्य की ओर मुख कर, रात्रिसों के लिये अमङ्गल सूचक भयङ्कर शब्द कर, चिल्हाने लगे ॥ ६ ॥

प्रभिन्नरगिरिसङ्काशास्तोयशोणितधारिणः ।

आकाशं तदनाकाशं चक्रुभीमा बलाहकाः ॥ ७ ॥

इन्द्र द्वारा काढे हुए पर वाले पर्वतों की तरह बड़े बड़े मेघ, जिन में लाल रंग का जल भरा हुआ था, आकाश में ढा गये । अर्थात् लाल लाल रंग के बड़े बड़े वादलों से आकाश ढ्रिप गया ॥ ७ ॥

वभूव तिमिरं घोरमुद्रतं रोमहर्षणम् ।

दिशो वा विदिशो वाऽपि न च व्यक्तं चकाशिरे ॥ ८ ॥

उस समय ऐसा रोमाञ्चकारी और घोर अन्धकार ढा गया कि, दिशाएँ और विदिशाएँ ढप गयीं थीं और कुछ भी नहीं सूक्ष पड़ता था ॥ ८ ॥

क्षतजाद्रैसवर्णाभा सन्ध्या कालं विना वभौ ।

खरस्याभिमुखा नेदुस्तदा घोरमृगाः खगाः ॥ ९ ॥

सूर्यस्त का समय न होने पर भी खून से भींगे कपड़े की तरह, लाल सन्ध्या हुई जान पड़ने लगी । भयङ्कर पशु पक्षो खर की ओर मुँह कर, भयङ्कर स्वर से चिल्हाने लगे ॥ ९ ॥

कङ्गैगोमायुग्राश्च चुक्रुशुर्भयशंसिनः ।

नित्याशिवकराः* युद्धे शिवा घोरनिर्दर्शनाः ॥ १० ॥

१ शिवाः—सृगालाः । (गो०) २ प्रभिन्नाः—इन्द्रचित्रपक्षाः (गो०) ३ क्षतजाद्र—क्षतजेन रक्तेनाद्रै संस्किं यत् पर्यादिकं तत्तुल्याभा । (गो०) ४ कङ्गाः—स्थूलकायाः, भयङ्कराः । (गो०) * पाठान्तरे—“शुभकरा” ।

भयङ्कर सियार और गीध, खर के हृदय को दहलाने वाले उच्च स्वर से शब्द करने लगे। युद्ध में जिनका बोलना सदा अपशकुन सूचक माना गया है, ऐसी सियारने भी भय उपजाती हुई ॥ १० ॥

नेदुर्बलस्याभिमुखं ज्वालोद्गारिभिराननैः ।

कवन्ध^१ परिधाभासे^२ दृश्यते भास्करान्तिके ॥ ११ ॥

सेना के सामने मुख से आग उगलती हुई, घोर चीत्कार करने लगीं। सूर्य के निकट परिधि (लोहे का डंडा) की तरह पुच्छल तारा देख पड़ा ॥ ११ ॥

जग्राह सूर्यं स्वर्भानुरपर्वणि महाग्रहः ।

प्रवाति मारुतः शीघ्रनिष्पभोऽभूद्विवाकरः ॥ १२ ॥

ग्रहण लगने का समय न होने पर भी राहु ने सूर्य को ग्रस लिया। हवा भी बड़े वेग से चलने लगी। सूर्य प्रभाहीन हो गया ॥ १२ ॥

उत्पेतुश्च विना रात्रिं ताराः खद्योतसप्रभाः ।

संलीनमीनविहगा नलिन्यः शुष्कपङ्कजाः ॥ १३ ॥

रात न होने पर भी जुगुनू की तरह आकाश में तारे चमकने लगे। मङ्गलियां जल के भीतर और पक्षी पेड़ों के पतों में जा छिपे। तालाबों के कमल सूख गये ॥ १३ ॥

तस्मिन्क्षणे वभूबुश्च विना पुष्पफलैर्दुमाः ।

उद्धूतश्च विना वातं रेणुर्जलधरारुणः ॥ १४ ॥

उस समय बहाँ के पेड़ों के फूल और फल अपने आप गिर पड़े। विना पवन के अंधड़ उठा। बादलों का रंग लाल हो गया ॥ १४ ॥

१ कवन्धो—धूमकेतुः । (रा०) २ परिधि—आयुधविशेष । (रा०)

वीचीकूचीति वाश्यन्त्यो वभूवुस्तत्र शारिकाः ।
उल्काश्चापि सनिर्वाता निषेतुर्वर्ददर्शनाः ॥ १५ ॥

मैना (पक्षी) चींचीं चूंचूं करने लगीं; कड़ कड़ शब्द के साथ
भयझुर उल्कापात होने लगे ॥ १५ ॥

प्रचचाल मही सर्वा सशैलवनकानना ।
खरस्य च रथस्थस्य नर्दमानस्य धीमतः ॥ १६ ॥

बन और पर्वतों के सहित पृथिकी कांप उठी । जब धीमान् खर
रथ में बैठा हुआ, गरजने लगा ॥ १६ ॥

प्राकम्पत भुजः सव्यः स्वरश्चास्यावसज्जत ।
सास्त्रा सम्पद्यते दृष्टिः पश्यमानस्य सर्वतः ॥ १७ ॥

तब उसकी बाम भुजा फड़की । उसका स्वर विगड़ गया । इधर
उधर देखते हुए खर के नेत्रों से आँसू निकल पड़े ॥ १७ ॥

ललाटे च रुजा जाता न च मोहान्न्यवर्तत ।
तान्समीक्ष्य महोत्पातानुत्थितान्रोमहर्षणान् ॥ १८ ॥

उसके माथे में दर्द होने लगा । तो भी मोहवश वह युद्ध-
क्षेत्र में जाने से न रुका । प्रत्युत इन सब रोमाञ्चकारी महाउत्पातों
को होते हुए देख कर भी, ॥ १८ ॥

अब्रवीद्राक्षसान्सर्वान्प्रहसन्स खरस्तदा ।
महोत्पातानिमान्सर्वानुत्थितान्व्योर्दर्शनान् ॥ १९ ॥

न चिन्तयाम्यहं वीर्याद्वलवान्दुर्बलानिव ।
तारा अपि शरैस्तीक्ष्णैः पातयामि नभःस्थलात् ॥ २० ॥

वह खर हँसता रहा और सब राज्ञियों से बोला—इन सब भयङ्कर उत्पातों को मैं अपने पराक्रम के समाने वैसे ही कुछ भी नहीं गिनता जैसे बलवान् पुरुष अपने सामने निर्बल पुरुष को कुछ भी नहीं समझता। मैं तो अपने पैने तीरों से तारों को आकाश से गिरा सकता हूँ ॥ १६ ॥ २० ॥

मृत्युं मरणधर्मेण संकुद्धो योजयाम्यहम् ।

राघवं तं बलोत्सक्तं भ्रातरं वास्य लक्ष्मणम् ॥ २१ ॥

और कुद्ध होने पर भृत्यु को भी मार सकता हूँ। अब तो मैं अपने को बलवान् समझने वाले श्रीरामचन्द्र और उनके भाई लक्ष्मण को ॥ २१ ॥

अहत्वा सायकैस्तीक्ष्णैर्नोपावर्तितुमुत्सहे ।

सकामा भगिनी मेऽस्तु पीत्वा तु रुधिरं तयोः ॥ २२ ॥

पैने वाणों से बिना यारे मैं लौट नहीं सकता। मेरी बहिन उन दोनों का रक्तपान कर, सफल मनोरथ होवे, ॥ २२ ॥

यन्निमित्तस्तु रामस्य लक्ष्मणस्य विपर्ययः ।

न कचित्प्राप्यपूर्वो मे संयुगेषु पराजयः ॥ २३ ॥

जिसके लिये श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण की बुद्धि उल्टी हो गयी। आज तक मैं कभी किसी युद्ध में पराजित नहीं हुआ ॥ २३ ॥

युष्माकपेतत्प्रत्यक्षं नानुतं कथयाम्यहम् ।

देवराजमपि कुद्धो मत्तैरावतयायिनम् ॥ २४ ॥

वज्रहस्तं रणे हन्यां किं पुनस्तौ कुमानुषौ ।

सा तस्य गर्जितं श्रुत्व राक्षसस्य महाचमूः ॥ २५ ॥

यह बात तुम सब लोगों को मालूम ही है। इसमें मैं मिथ्या कुछ भी नहीं कह रहा हूँ। मैं तो कुछ ही, मत्त ऐरावत पर सवार होकर, चलने वाले और वज्रधारी देवराज को भी युद्ध में मार सकता हूँ। फिर इन दो दुष्ट मनुष्यों का मारना मेरे लिये कौन बड़ी बात है। इस प्रकार खर का गर्जन तर्जन सुन कर, वह राज्ञों की बड़ी सेना ॥ २४ ॥ २५ ॥

प्रहर्षमतुलं लेभे मृत्युपाशावपाशिता ।

समीयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्क्षिणः ॥ २६ ॥

जो मरणोन्मुखी थी, अन्यन्त हर्षित हुई। उधर युद्ध देखने के लिये महात्मा लोग आये ॥ २६ ॥

ऋषयो ऽवगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः ।

सपेत्य चोचुः सहितास्तेऽन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥ २७ ॥

उन आने वालों में ऋषि, देवता, गन्धर्व, सिद्ध और चारणादि और भी अन्य पुण्यात्मा जन नहीं एकत्र हो कर, कहने लगे ॥ २७ ॥

स्वस्ति गोव्राहणेभ्योऽस्तु लोकानां येऽभिसङ्गताः^१ ।

जयतां राघवः संख्ये पैलस्त्यानरजनीचरान् ॥ २८ ॥

चक्रहस्तो यथा युद्धे सर्वानुरपुङ्गवान् ।

एतच्चान्यच्च बहुशो ब्रुवाणाः मरमर्षयः ॥ २९ ॥

जिस प्रकार सुदर्शन चक्र से भगवान् विष्णु ने समस्त श्रेष्ठ दैत्यों का वध किया था—उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी इन पुलस्त्य कुलोद्धव राज्ञों को जीत कर गौओं, ब्राह्मणों तथा भगवद्वक्तों का मङ्गल करें। परमर्षियों ने ऐसे तथा और भी अनेक प्रकार के वचन आपस में कहे ॥ २८ ॥ २९ ॥

^१ अभिसङ्गताः—अनुकूलाः। (गो०)

जातकौहलास्तत्र विमानस्थाश्च देवताः ।

दद्वशुर्वाहिनीं तेषां राक्षसानां गतायुषाम् ॥ ३० ॥

कुतूहलवश विमानों में बैठे हुए देवता गण, गतायु राक्षसों की सेना को देखने लगे ॥ ३० ॥

रथेन तु खरो वेगादुग्रसैन्यो विनिःसृतः ।

तं हृष्टा राक्षसं भूयो राक्षसाश्च विनिःसृताः ॥ ३१ ॥

खर सेना के आगे अपना रथ ले गया । उसको आगे जाते देख, राक्षस भी उसके साथ आगे बढ़े ॥ ३१ ॥

श्येनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहङ्गमः ।

दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः ॥ ३२ ॥

मेघमाली महामाली सर्पास्यो रुधिराशनः ।

द्वादशैते महावीर्याः प्रतस्थुरभितः खरम् ॥ ३३ ॥

उस समय उसको घेर कर बारह बड़े पराक्रमी राक्षस चले । उन राक्षसों के नाम थे १ श्येनगामी, २ पृथुग्रीव, ३ यज्ञशत्रु, ४ विहङ्गम ५ दुर्जय, ६ करवीराक्ष, ७ परुष, ८ कालकार्मुक, ९ मेघ-माली, १० महामाली, ११ सर्पास्य और १२ रुधिराशन ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथी त्रिशिरास्तथा ।

चत्वार एते सेनान्यो दूषणं पृष्ठतो ययुः ॥ ३४ ॥

महाकपाल, स्थूलाक्ष, प्रमाथी और त्रिशिरा; ये चार सेनापति दूषण के पीछे पीछे चले जाते थे ॥ ३४ ॥

सा भीमवेगा समराभिकामा

महाबला राक्षसीरसेना ।

तौ राजपुत्रौ सहसा भयुपेता
माला ग्रहणामिव चन्द्रसूर्यै ॥ ३५ ॥

इति त्रयोर्विंशः सर्गः ॥

जिस प्रकार ग्रहों की माला सूर्य और चन्द्रमा को घेरती हैं, उसी प्रकार भयङ्कर वेगवाली और युद्ध की अभिलाषा रखने वाली रात्रिसों की महावलवती वीर सेना ने सहसा जा कर, राजकुमारों को घेर लिया ॥ ३५ ॥

अरण्यकाण्ड का तईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।



चर्तुर्विंशः सर्गः



आश्रमं प्रतियाते तु खरे खरपराक्रमे ।
तानेवोत्पातिकान्रामः सह भ्रात्रा दर्दर्श ह ॥ १ ॥

जब कठोर पराक्रमी खर श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम की ओर चला, तब उसके चलने के समय जो अपशकुन अथवा अमङ्गल सूचक उत्पात हुए थे, उन्हें श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण ने देखा ॥ १ ॥

तानुत्पातान्महाघोरानुत्थितान्रोमर्हषणान् ।
प्रजानामहितान्दृष्टा वाक्यं लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २ ॥

उन रोमाञ्चकारी घोर उत्पातों को, जो प्रजाजनों के लिये अहितकारी थे, देख कर, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से कहा ॥ २ ॥

इमान्पश्य महावाहो सर्वभूतापहारिणः ।

समुत्थितान्महोत्पातान्संहर्तुं सर्वराक्षसान् ॥ ३ ॥

हे महावाहो ! देखो, ये सब प्राणिनाशक उत्पात, राक्षसकुल का संहार करने के लिये हो रहे हैं ॥ ३ ॥

अमी रुधिरधारास्तु विसृजन्तः खरस्वनान् ।

व्योम्नि मेघा विवर्तन्ते^१ पश्चा गर्दभारुणाः ॥ ४ ॥

गधे के समान, मटमैले रंग वाले बादल, आकाश में इधर उधर दौड़ कर, भयङ्कर शब्द के साथ, रुधिर वरसा रहे हैं ॥ ४ ॥

सधूमाश्च शराः सर्वे मम रुद्धाभिनन्दिनः ।

रुक्मपृष्ठानि चापानि^२ विवेष्टन्ते^३ च लक्ष्मण ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो मेरे बालों से झुश्राँ निकल रहा है, मानों युद्ध होने का ये आनन्द मना रहे हैं। और सुवर्ण से भूषित पीठ वाले धनुष चलायमान हो रहे हैं ॥ ५ ॥

यादशाः^४ इह कूजन्ति पक्षिणो वनचारिणः ।

अग्रतो नो भयं प्राप्तं संशयो जीवितस्य च ॥ ६ ॥

इन वनचारी पक्षियों के इस प्रकार बोलने से, ऐसा जान पड़ता कि, शीघ्र ही भय उपस्थित होने वाला है। यही क्यों, प्रत्युत प्राण-सङ्कट मालूम होता है ॥ ६ ॥

संप्रहारस्तु^५ सुमहान्भविष्यति न संशयः ।

अयमाख्याति मे बाहुः स्फुरमाणो मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

^१ विवर्तन्ते—संचरन्ति । (गो०) ^२ विवेष्टन्ते—चलन्ति । (गो०)

^३ यादशाः—प्रसिद्धाः । (गो०) ^४ संप्रहारः—युद्ध । (गो०)

* पाठान्तरे—“विवर्तन्ते” ।

निस्सन्देह महासमर होगा । किन्तु मेरे दक्षिण बाहु का बार
बार फड़कना यह बतलाता है कि, ॥ ७ ॥

सन्निकर्षे तु नः शूरं जयं शत्रोः पराजयम् ।
सप्रभं च प्रसन्नं च तव वक्त्रं हि लक्ष्यते ॥ ८ ॥

हे शूर ! शीघ्र ही मेरा विजय और शत्रुओं का पराजय होने
वाला है । (इस अनुमान की पुष्टि इससे भी हो रही है कि,)
तुम्हारा मुख कान्तिमय और हर्षित देख पड़ता है ॥ ८ ॥

उद्यतानां हि युद्धार्थं येषां भवति लक्ष्मण ।
निष्प्रभं वदनं तेषां भवत्यायुः परिक्षयः ॥ ९ ॥

हे लक्ष्मण ! युद्ध के लिये उद्यत पुरुषों का मुख यदि प्रभाहीन
देख पड़े तो जानना चाहिये कि, उनकी आयु ज्ञीण हो चुकी है अर्थात्
युद्ध में वे अवश्य मारे जायेंगे ॥ ९ ॥

रक्षसां नर्दतां घोरः श्रूयते च महाध्वनिः ।
आहतानां च भेरीणां राक्षसैः क्रूरकर्मभिः ॥ १० ॥

राक्षसों के गर्जने की ध्वनि भी सुनाई पड़ती है और क्रूरकर्मा
राक्षसों के मारू बाजोंकी भी कैसी महाध्वनि सुनाई दे रही है ॥ १० ॥

अनागतविधानं तु कर्तव्यं शुभमिच्छता ।
आपदं शङ्कमानेन पुरुषेण विपश्चिता ॥ ११ ॥

परिडत और आपत्ति की शङ्का करने वाले पुरुष को, अपने
कल्याण की कामना के लिये, पहिले ही से विपत्ति का प्रतिकार
करना चाहिये ॥ ११ ॥

तस्मादगृहीत्वा वैदेहीं शरपाणिर्धनुर्धरः ।

गुहामाश्रय शैलस्य दुर्गा पादपसङ्कलाम् ॥ १२ ॥

अतएव हाथ में धनुष वाण ले तथा सीता जी को साथ ले, तुम बृक्षों की झुरमुट में ढिपी हुई किसी दुर्गम पर्वत कन्द्रा में शीघ्र जा बैठो ॥ १२ ॥

प्रतिकूलितुमिच्छामि न हि वाक्यमिदं त्वया ।

शापितो मम पादाभ्यां गम्यतां वत्स मा चिरम् ॥ १३ ॥

मैं यह नहीं चाहता कि, तुम मेरे कथन के प्रतिकूल कुछ कहो । हे वत्स ! तुम्हें मेरे चरणों की शपथ है । तुम शीघ्र जानकी को ले कर, गिरिकन्द्रा में चले जाओ ॥ १३ ॥

त्वं हि शूरश्च बलवान्हन्या ह्येतान्न संशयः ।

स्वयं तु हन्तुमिच्छामि सर्वानेव निशाचरान् ॥ १४ ॥

इसमें सन्देह नहीं कि, तुम शूर हो और बलवान हो और इन सब राक्षसों का बध कर सकते हो । किन्तु मैं स्वयं ही इन सब राक्षसों का मारना चाहता हूँ ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः सह सीतया ।

शरानादाय चापं च गुहां दुर्गा समाश्रयत् ॥ १५ ॥

जब श्रीराम ने यह कहा, तब लक्ष्मण जी अपने साथ सीताजी को ले और हाथ में धनुर्बाण धारण कर, पर्वत की एक दुर्गम गुफा में चले गये ॥ १५ ॥

तस्मिन्प्रविष्टे तु गुहां लक्ष्मणे सह सीतया ।

हन्त निर्युक्तमित्युक्त्वा रामः कवचमाविशत् ॥ १६ ॥

जब सीता जी को साथ ले लक्ष्मण जी गिरिगुहा में चले गये । तब श्रीरामचन्द्र जी इस बात से कि, लक्ष्मण ने उनका कहना मान लिया, प्रसन्न हुए और उन्होंने कवच (जिरह वर्तर) धारण किया ॥ १६ ॥

स तेनाग्निनिकाशेन कवचेन विभूषितः ।

बभूव रामस्तिमिरे विधूमोऽग्निरिखोत्थितः ॥ १७ ॥

अग्नि की तरह चमचमाते कवच को धारण करने से, श्रीराम-चन्द्र जी उसी प्रकार शोभित हुए, जिस प्रकार अन्धकार में प्रज्ज्वलित अग्नि की ज्वाला शोभित होती है ॥ १७ ॥

स चापमुद्घम्य महच्छरानादाय वीर्यवान् ।

बभूवावस्थितस्तत्र ज्यास्वनैः पूरयन्दिशः ॥ १८ ॥

तदनन्तर वीर्यवान् श्रीरामचन्द्र जी धनुष को उठा, बाणों को ले, धनुष के रोदे की टंकार से दशो दिशाओं को प्रतिष्ठनित करते हुए, खड़े हो गये ॥ १८ ॥

ततो देवाः सगन्धर्वाः सिद्धाश्च सह चारणैः ।

समेयुश्च महात्मानो युद्धदर्शनकाङ्गिणः ॥ १९ ॥

इसके अनन्तर युद्ध देखने की इच्छा से देवता, गन्धर्व, सिद्ध, चारण और महात्मा लोग एकत्र हुए ॥ १९ ॥

ऋषयश्च महात्मानो लोके ब्रह्मर्षिसत्तमाः ।

समेत्य चोचुः सहिता अन्योन्यं पुण्यकर्मणः ॥ २० ॥

महात्मा ऋषि तथा लोकप्रसिद्ध ब्रह्मर्षि तथा अन्य पुण्यात्मा जन एकत्र हो आपस में कहने लगे ॥ २० ॥

स्वस्ति गोब्राह्मणेभ्योऽम्तु लोकानां येऽभिसङ्घताः ।

जयतां राघवो युद्धे पौलस्त्यान् रजनीचरान् ॥ २१ ॥

गौ, ब्राह्मण, और साधुओं का मङ्गल हो और श्रीरामचन्द्र जी युद्ध में पुलस्त्यवंशी निशाचरों को (उसी प्रकार) जीतें ॥ २१ ॥

चक्रहस्तो यथा युद्धे सर्वानसुरपुञ्जवान् ।

एवमुक्त्वा पुनः प्रोचुरालोक्य च परस्परम् ॥ २२ ॥

जिस प्रकार हाथ में चक ले, विष्णु भगवान ने सब श्रेष्ठ असुरों को जीता था । यह कह कर और आपस में एक दूसरे को देख, वे लोग फिर कहने लगे ॥ २२ ॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसां भीमकर्मणाम् ।

एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं भविष्यति ॥ २३ ॥

इन चौदह हज़ार भीमकर्मा राक्षसों के साथ अकेले श्रीरामचन्द्र कैसे युद्ध कर सकेंगे ॥ २३ ॥

इति राजर्षयः सिद्धाः सगणाश्च द्विर्जर्षभाः ।

जातकौतूहलास्तस्युर्विमानस्थाश्च देवताः ॥ २४ ॥

राजर्षि, सिद्ध, परिकर सहित ब्राह्मणश्रेष्ठ और विमानों में बैठे देवता गण, कौतूहलाकान्त हो, वहाँ उपस्थित थे ॥ २४ ॥

आविष्टं तेजसा रामं संग्रामशिरसि^१ स्थितम् ।

दृष्टा सर्वाणि भूतानि भयाद्विव्यथिरे तदा ॥ २५ ॥

उस समय तेजस्वी और संग्राम के लिये तैयार श्रीरामचन्द्र जी को खड़ा देख, प्राणि मात्र ही त्रस्त हो, दुःखी हुए ॥ २५ ॥

^१ संग्रामशिरसि—युद्धाये । (गो०)

रूपमप्रतिमं तस्य रामस्याक्षिण्ठकर्मणः ।

वभूव रूपं क्रुद्धस्य रुद्रस्येव पिनाकिनः ॥ २६ ॥

क्योंकि उस समय क्लेश रहित कर्म करने वाले श्रीरामचन्द्र जी का अनुपम रूप ऐसा देख पड़ता था, जैसा क्रुद्ध और धनुषधारी रुद्र का रूप होता है ॥ २६ ॥

इति संभाष्यमाणे तु देवगन्धर्वचारणैः ।

ततो गम्भीरनिर्हादं घोरवर्मायुधध्वजम् ॥ २७ ॥

अनीकं यातुधानानां समन्तात्प्रत्यदृश्यत ।

सिंहनादं विसृजतामन्योन्यमभिगर्जताम्^१ ॥ २८ ॥

देवता, गन्धर्व और चारण इस प्रकार आपस में बातचीत कर ही रहे थे कि, इतने में महागम्भीर शब्द करती तथा कवच, आयुध धारण किये तथा ध्वजा फहराती हुई राज्ञसों की सेना चारों ओर से आती हुई देख पड़ी । उस सेना में राज्ञस बीर सिंहनाद कर रहे थे और आपस में कह रहे थे कि, हम शत्रु को मारेंगे, हम शत्रु को मारेंगे ॥ २७ ॥ २८ ॥

चापानि विस्फारयतां जूम्भतां चाप्यभीक्षणशः ।

विप्रघुष्टस्वनानां च दुन्दुभीश्वापि निन्नताम् ॥ २९ ॥

उनमें से कोई कोई अपने धनुषों को बार बार टंकोरते थे । कोई कोई जंभाई लेते थे और कोई कोई उच्च स्वर से चिल्हाते थे और कोई कोई नगाड़ों को बजाते थे ॥ २९ ॥

तेषां सुतुमुलः शब्दः पूरयामास तद्वनम् ।

तेन शब्देन वित्रस्ताः श्वापदा वनचारिणः ॥ ३० ॥

१ अन्योन्यमभिगर्जतः—अहमेव शत्रुं हनिष्यामि इति ज्ञवपताम् । (गो०)

उन राज्ञसें ने ऐसा घोर शब्द किया कि, वह बन उस शब्द से प्रतिघट्नित होने लगा और उस शब्द को सुन कर, बनचारी पशु डर गये ॥ ३० ॥

दुदुवुर्यत्र निःशब्दं पृष्ठतो न व्यलोकयन् ।

तत्त्वनीकं महावेगं रामं समुपसर्पत ॥ ३१ ॥

और जिस ओर वह शब्द नहीं सुन पड़ता था, उस ओर को भागे जाते थे और उनमें से कोई पीछे मुड़ कर न देखता था । इस ओर वह राज्ञसी सेना बड़े वेग के साथ श्रीरामचन्द्र जी के समीप आ पहुँची ॥ ३१ ॥

धृतनानाप्रहरणं गम्भीरं सागरोपमम् ।

रामोऽपि चारयंश्चक्षुः सर्वतो रणपण्डितः ॥ ३२ ॥

उस सेना के योद्धा तरह तरह के हथियार लिये हुए थे । वह सेना गम्भीर समुद्र की तरह उफनती हुई आ पहुँची । तब रणविद्या में निपुण श्रीरामचन्द्र जी ने अपने चारों ओर देखा ॥ ३२ ॥

ददर्श खरसैन्यं तद्युद्धाभिमुखमुत्थितम् ।

वितत्य च धनुर्भीमं तृण्योश्चोद्धत्य सायकान् ॥ ३३ ॥

क्रोधमाहारयत्तीव्रं वधार्थं सर्वरक्षसाम् ।

दुष्प्रेक्षः सोऽभवत्कुद्धो युगान्ताग्निरिव ज्वलन् ॥ ३४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, खर की सेना, लड़ने के लिये, सामने चली आती है । तब श्रीरामचन्द्र जी, अपने भयङ्कर धनुष को उठा और तरक्स से बाणों का निकाल, सब राज्ञसें के वध के लिये अत्यन्त कुद्ध हुए । उस समय क्रोध में भरे श्रीरामचन्द्र जी की ओर देखना उसी प्रकार दुष्कर था, जिस प्रकार प्रलयकालीन अग्नि को देखना दुष्कर होता है ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

तं दृष्टा तेजसाऽविष्टं प्राद्रवन्वनदेवताः ।

तस्य क्रुद्धस्य रूपं तु रामस्य दृष्टे तदा । १.

दक्षस्येव क्रतुं हन्तुमुद्यतस्य पिनाकिनः ॥ ३५ ॥

तेजोयुक श्रीरामचन्द्र जी को देख, बनदेवता भाग खड़े हुए ।
उस समय क्रुद्ध हुए श्रीरामचन्द्र जी का रूप ऐसा जान पड़ता था,
जैसा कि दक्षयज्ञ की विध्वंस करने को उद्यत शिव जी का रूप
हो गया था ॥ ३५ ॥

आविष्टं तेजसा रामं संग्रामशिरसि स्थितम् ।

दृष्टा सर्वाणि भूतानि भयार्तानि प्रदुद्रुवुः ॥ ३६ ॥

तेज से आविष्ट श्रीरामचन्द्र जी को युद्धार्थ खड़ा देख, सब लोग
डर कर इधर उधर भाग गये ॥ ३६ ॥

तत्कार्पुकैराभरणौर्ध्वजैश्च

तैर्वर्मभिश्चाग्निसमानवर्णैः ।

बभूव सैन्यं पिशिताशनानां

सूर्योदये नीलमिवाभ्रवृन्दम् ॥ ३७ ॥

इति चतुर्विंशः सर्गः ॥

जिस प्रकार नीले बादल सूर्योदय काल में शोभित होते हैं
उसी प्रकार राज्ञसेना भी, अग्नि समान चमकते हुए कवच,
धनुष, आभरण और ध्वजाओं से युक्त हो कर, शोभित हुई ॥ ३७ ॥

अरण्यकाण्ड का चौबीसवां सर्ग पूरा हुआ ।

पञ्चविंशः सर्गः

—*—

अवष्टुव्यधनुं रामं क्रुद्धं च रिपुघातिनम् ।

ददर्शाश्रममागम्य खरः सह पुरःसरैः ॥ १ ॥

अपने साथियों सहित खर ने श्रीरामाश्रम में जा, श्रीरामचन्द्र जी को क्रुद्ध हो, हाथ में धनुष लिये और शत्रुघ्नों का वध करने के लिये उद्यत देखा ॥ १ ॥

तं दृष्ट्वा सशरं चापमुद्यम्य खरनिःस्वनम् ।

रामस्याभिमुखं सूतं चोद्यतामित्यचोदयत् ॥ २ ॥

यह देख, उसने बाण सहित धनुष उठा, सारथी से उच्चस्वर से कहा कि, श्रीरामचन्द्र के सामने रथ ले चलो ॥ २ ॥

स खरस्याङ्गया सूतस्तुरगानसमचोदयत् ।

यत्र रामो महावाहुरेको धुन्वन्स्थितो धनुः ॥ ३ ॥

खर की आङ्गा के अनुसार सारथी ने घोड़े हाँके और वह रथ वहाँ ले गया, जहाँ पर महावाहु श्रीराम धनुष को टक्कोरते हुए अकेले खड़े थे ॥ ३ ॥

तं तु निष्पतिं दृष्ट्वा सर्वे ते रजनीचराः ।

नद्माना महानादं सचिवाः पर्यवारयन् ॥ ४ ॥

खर को श्रीरामचन्द्र जी के सामने जाते देख, उसके समस्त राज्ञस सैनिक और सचिव गर्जते गर्जते खर के पास जा, उसे धेर कर खड़े हो गये ॥ ४ ॥

स तेषां यातुधानानां मध्ये रथगतः खरः ।

बभूव मध्ये ताराणां लोहिताङ्ग इवोदितः ॥ ५ ॥

तब रथ पर चढ़ा हुआ खर, राज्ञसें के बीच ऐसा देख पड़ता था, जैसा कि, तारों के बीच में मङ्गल का तारा देख पड़ता है ॥ ५ ॥

ततः शरसहस्रेण राममप्रतिमौजसम् ।

अर्दयित्वा^१ महानादं ननाद समरे खरः ॥ ६ ॥

खर ने एक हजार बाणों से श्रीरामचन्द्र जी को पीड़ित कर, बड़े ज़ोर से गर्जना की ॥ ६ ॥

ततस्तं भीमधन्वानं क्रुद्धाः सर्वे निशाचराः ।

रामं नानाविधैः शस्त्रैरभ्यवर्षन्त दुर्जयम् ॥ ७ ॥

तब तो सब राज्ञस क्रुद्ध हो, महा-धनुर्धर एवं दुर्जेय श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर तरह तरह के शस्त्रों की वर्षा करने लगे ॥ ७ ॥

मुद्गरैः पट्टिशैः शूलैः प्रासैः खड्डैः परश्वधैः ।

राक्षसाः समरे रामं निजघूरोषतत्पराः ॥ ८ ॥

रोष में भरे राज्ञस लोग उस युद्ध में, श्रीरामचन्द्र को मुद्गर, पटा, शूल, भाला, तलवार और फरसे से मारने लगे ॥ ८ ॥

ते बलाहकसङ्काशाः^२ महानादा महौजसः ।

अभ्यधावन्त काकुत्स्थं रथैर्वाजिभिरेव च ॥ ९ ॥

गजैः पर्वतकूटाभै रामं युद्धे जिघांसवः ।

ते रामे शरवर्षाणि व्यसृजनक्षसां गणाः ॥ १० ॥

वे सब राज्ञस जो बड़े बलवान और मेघ के समान गर्जने वाले थे, रथों, घोड़ों और पर्वत समान हाथियों को दौड़ा कर, श्रीरामचन्द्र जी को मार डालने के लिये उन पर बाणों की वर्षा कर, आक्रमण करने लगे ॥ ६ ॥ १० ॥

शैलेन्द्रमिव धाराभिर्वर्षमाणाः बलाहकाः ।

स तैः परिवृतो धोरै राघवो रक्षसां गणैः ॥ ११ ॥

जैसे मेघ, पर्वतों पर जल की वर्षा करते हैं, वैसे ही राज्ञसों ने श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर बाणों की वर्षा की । उस समय उन भयद्वार राज्ञसों ने श्रीरामचन्द्र जी को धेर लिया ॥ ११ ॥

तानि मुक्तानि शस्त्राणि यातुधानैः स राघवः ।

प्रतिजग्राह^१ विशिखैर्नद्योधानिव^२ सागरः ॥ १२ ॥

राज्ञसों के चलाये हुए शस्त्रों को श्रीरामचन्द्र जी ने उसी प्रकार अपने बाणों से रोका, जिस प्रकार समुद्र नदियों की धारों को रोकता है ॥ १२ ॥

स तैः प्रहरणैधरैर्भिन्नगात्रो न विव्यथे ।

रामः प्रदीपैर्बहुभिर्वृत्तिरिव महाचलः ॥ १३ ॥

उनके चलाये शस्त्रों के प्रहार से धायल हो कर भी श्रीरामचन्द्र जी वैसे ही व्यथित न हुए, जैसे जाज्वल्यमान बहुत से बज्रों के गिरने से हिमालय पर्वत व्यथित नहीं होता ॥ १३ ॥

स विद्धः क्षतजैर्दिग्धः^३ सर्वगात्रेषु राघवः ।

बभूव रामः सन्द्याप्रैर्दिवाकर इवावृतः ॥ १४ ॥

^१ प्रतिजग्राह — प्रतिरुद्धोष । (गो०) नद्योधान् — नदीप्रवाहान् । (गो०)

^३ क्षतजैर्दिग्धः — रुधिरालिप्तः । (गो०)

उस समय श्रीरामचन्द्र के समस्त अंगों के घायल हो जाने के कारण उनसे रुधिर के वहने से वे ऐसे जान पड़ते थे, जैसे सन्ध्या काल में मेघों से घिरा हुआ सूर्य जान पड़ता है ॥ १४ ॥

त्रिषेदुर्देवगन्धर्वाः सिद्धाश्च परमर्षयः ।

एकं सहस्रैर्बहुभिः॑ तदा दृष्टा समावृतम् ॥ १५ ॥

अकेले श्रीरामचन्द्र जी को चौदह हज़ार राज्ञों से घिरा देख, देवता, गन्धर्व, सिद्ध और महर्षि गण दुखी हुए ॥ १५ ॥

ततो रामः सुसंक्रुद्धो मण्डलीकृतकार्मुकः ।

ससर्ज विशिखान्वाणाऽन्तशोथ सहस्रशः ॥ १६ ॥

तब तो श्रीरामचन्द्र जी ने अत्यन्त क्रुद्ध हो, अपने धनुष को मण्डलाकार कर, सैकड़ों हज़ारों पैने वाण छोड़े ॥ १६ ॥

दुरावारान्दुर्विषहान्॒ कालदण्डोपमानरणे ।

मुमोच लीलया रामः कङ्कपत्रानजिह्वगान्॒॑ ॥ १७ ॥

रणक्षेत्र में ये वाण कालदण्ड की तरह न तो किसी के रोके रुक ही सकते थे और न उनकी मार कोई सह ही सकता था । श्रीरामचन्द्र जी ने अनायास (अर्थात् खेल ही खेल में) सुवर्ण भूषित और कङ्क-पत्र से युक्त तथा अपनी सीध पर जाने वाले हज़ारों वाण छोड़े ॥ १७ ॥

ते शराः शत्रुसैन्येषु मुक्ता रामेण लीलया ।

आददूरक्षसां प्राणान्॒॑ पाशाः कालकृता इव ॥ १८ ॥

१ बहुभिः सहस्रैः—चतुर्दश सहस्रैः । (गो०) २ दुर्विषहान्—दुभसहान् । (गो०) ३ अजिह्वणान्—अवक्रगामिनः । (गो०) ४ प्राणानददुः—अमार-यश्चित्यर्थः । (गो०)

श्रीरामचन्द्र जी के अनायास चलाये वाणों ने, कालपाश की तरह, राक्षसों के प्राण हरण किये ॥ १८ ॥

यित्वा राक्षसदेहांस्तांस्ते शरा रुधिराप्लुताः ।

अन्तरिक्षगता रेजुर्दीपाग्निसमतेजसः ॥ १९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के चलाये वाण राक्षसों के शरीर को भेद और खून से तर हो, आकाश में जा, जाज्वल्यमान् अग्नि की तरह शोभायमान हुए ॥ १९ ॥

असंख्येयास्तु रामस्य सायकाश्रापमण्डलात् ।

विनिष्पेतुरतीवोग्रा रक्षःप्राणापहारिणः ॥ २० ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी के धनुषमण्डल से अगणित वाण, जो अति उत्र थे और राक्षसों के लिये प्राणनाशक थे, छूट रहे थे ॥ २० ॥

ते रथो साङ्घान्वाहून्सहस्ताभरणान्भुजान् ।*

धनंषि च ध्वजाग्राणि वर्माणि† च शिरांसि च ॥ २१ ॥

राक्षसों के बाजूबन्द सहित बाहुओं और हाथ में पहनने योग्य गहनों सहित भुजाओं, धनुषों, ध्वजाओं के अत्र भागों, कवचों और शिरों को श्रीरामचन्द्र के वाणों ने काट गिराया ॥ २१ ॥

चिञ्छिदुर्बिधिदुश्चापि रामचापगुणाच्युता ।

बाहून्सहस्ताभरणानूरूपकरिकरोपमान् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के धनुष के रोदे से क्लूटे हुए वाणों ने राक्षसों के हाथ में पहनने योग्य आभूषणों सहित बाहुओं और हाथी की तरह जंघाओं को छिन्न भिन्न कर डाला ॥ २२ ॥

* पाठान्तरे—“चर्माणि”।

† २१ वें श्लोक का यह पाठ कहीं संस्करणों में नहीं पाया जाता।

चिच्छेद रामः समरे शतशोथ सहस्रशः ।

हयान्काश्वनसन्नाहानरथयुक्तान्ससारथीन् ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने इस युद्ध में सैकड़ों हज़ारों काश्वन भूषित रथों में जुते हुए घोड़ों को सारथी सहित काट कर गिरा दिया ॥ २३ ॥

गजांश्व सगजारोहान्सहयान्सादिनस्तथा^१ ।

पदातीन्समरे हत्वा ह्यनयद्यमसादनम् ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने हाथियों को उनके सवारों सहित तथा घोड़ों को घुड़सवारों सहित और पैदल सैनिकों को मार कर, यमालय भेज दिया ॥ २४ ॥

ततो नालीक^२नाराचै^३स्तीक्षणाग्रैश्च विकर्णिभिः^४ ।

भीमवार्तस्वरं चक्रुर्भिद्यमाना निशाचराः ॥ २५ ॥

नालीक, नाराच (लोहे के बाण) और पैनी नेक के विकर्णि (कान के आकार की नोंक वाले) नाम के बाणों से जब राक्षस मारे जाते, तब वे धायल हो, बड़ा भयङ्कर आर्तनाद करते थे ॥ २५ ॥

तत्सैन्यं निशितैर्वर्णैरर्दितं मर्मभेदिभिः ।

रामेण न सुखं^५ लेभे शुष्कं वनमिवाग्निना ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मर्मभेदी पैने बाणों से मर्दित, वह राक्षस सेना किसी प्रकार अपनी रक्षा न कर सकी। जैसे सूखा जंगल आग लगने पर आग से अपनी रक्षा नहीं कर सकता ॥ २६ ॥

^१ सादिन—अश्वारोहान् । (गो०) ^२ नालीकः—नालमात्रशराः । (मे०)

^३ नाराचाः—आयसशराः । (गो०) ^४ विकर्णिनः—कर्णशराः । (गो०)

^५ सुखं—दुःख निवृत्तिं । (गो०)

केचिद्ग्रीमबलाः शूराः शूलान्खञ्जान्परश्वधान् ।

रामस्याभिमुखं गत्वा चिक्षिपुः परमायुधान्^१ ॥ २७ ॥

राज्ञसेना के किसी किसी बलवान् शूर योद्धा' ने, श्रीरामचन्द्र जी के सामने जा, उन पर अपने बड़े बड़े आयुध—यथा त्रिशूल, तलवारें और फरसे चलाये ॥ २७ ॥

तानि वाणीर्महावाहुः शस्त्राण्यावार्यं राघवः ।

जहार समरे प्राणांश्चिच्छेदं च शिरोधरान् ॥ २८ ॥

परन्तु श्रीरामचन्द्र जी ने अपने वाणों से केवल उनके चलाये शस्त्रों को हो नहीं काट कर गिराया, प्रत्युत उन उन चलाने वालों के सिरों को काट कर उनको मार भी डाला ॥ २८ ॥

ते च्छिन्नशिरसः पेतुश्छिन्नवर्मशरासनाः ।

सुपर्णवातविक्षिप्ता जगत्यां पादपा यथा ॥ २९ ॥

वे राज्ञस सिरों के कट जाने से, कटे हुए कवचों और धनुषों को लिये हुए ऐसे गिरे, जैसे गरुड़ जी के पंखों की हवा के झोंकों से वृक्ष उखड़ कर, ज़मीन पर गिर पड़ते हैं ॥ २९ ॥

अवशिष्टाश्च ये तत्र विषण्णाश्च निशाचराः ।

खरमेवाभ्यधावन्त शरणार्थ^२ शरार्दिताः ॥ ३० ॥

जो राज्ञस मारे जाने से बच गये थे वे वाणों की मार से पीड़ित रक्षा के लिये खर की ओर दौड़े ॥ ३० ॥

तान्सर्वान्पुनरोदाय समाश्वास्य च दूषणः ।

अभ्यधावत काकुत्स्थं क्रुद्धो रुद्रमिवान्तकः^३ ॥ ३१ ॥

१ परमायुधानिति शूलादि विशेषणं । (गो०) २ विषणाः—दुखिता । (गो०) ३ शरणार्थ—रक्षणार्थ । (गो०) ५ रुद्रमिवान्तकः—रुद्रपराजितोयमः । (गो०)

दूषण ने उन सब को धीरज बँधाया और उनको अपने साथ ले, वह रुद्र से पराजित क्रुद्ध यमराज की तरह, श्रीरामचन्द्र जी की ओर दैड़ा ॥ ३१ ॥

निवृत्तास्तु पुनः सर्वे दूषणाश्रयनिर्भयाः ।

राममेवाभ्यधावन्त सालतालशिलायुधाः ॥ ३२ ॥

दूषण का सहारा पा कर वे सब भागे हुए राक्षस निर्भीक हो और साल, ताल (वृक्ष विशेष) एवं शिला रूपी आयुधों को ले, फिर श्रीरामचन्द्र जी के सामने गये ॥ ३२ ॥

शूलमुद्गरहस्ताश्च चापहस्ता महावलाः ।

सृजन्तः शरवर्षाणि शत्र्ववर्षाणि संयुगेः^१ ॥ ३३ ॥

वे महावली राक्षस हाथों में त्रिशूलों, मुगदरों और धनुषों को ले, श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर युद्धक्षेत्र में बाणों और शत्रुओं की वर्षा करने लगे ॥ ३३ ॥

द्रुमवर्षाणि मुञ्चन्तः शिलावर्षाणि राक्षसाः ।

तद्वभूवाद्गुतं युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम् ॥ ३४ ॥

राक्षसों ने वृक्षों और शिलाओं की श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर वर्षा की। उस समय अपूर्व, भयङ्कर, और रोमाञ्चकारी युद्ध हुआ ॥ ३४ ॥

रामस्य च महावोरं पुनस्तेषां च रक्षसाम् ।

ते समन्तादभिक्रुद्धा राघवं पुनरभ्ययुः ॥ ३५ ॥

श्रीरामचन्द्र और राक्षसों का फिर बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ। राक्षसों ने क्रोध में भर चारों ओर से श्रीरामचन्द्र जी पर आक्रमण किया ॥ ३५ ॥

^१ संयुगे—संग्रामे । (शि०)

तैश्च सर्वा दिशो दृष्टा प्रदिशश्च समावृत्ताः ।
 राक्षसैरुद्यतप्रासैः शरवर्षाभिवर्षिभिः ॥ ३६ ॥
 स कृत्वा भैरवं नादमत्थं परमभास्वरम् ।
 संयोजयत गान्धर्वं राक्षसेषु महाबलः ॥ ३७ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने देखा कि, सब दिशाएँ और विदिशाएँ राज्ञसें से भरी हुई हैं और राज्ञस मेरे ऊपर चारों ओर से, प्रास और बाणों की वर्षा करने को उद्यत हैं, तब उन्होंने बड़ा भयङ्कर नाद कर, प्रज्वलित गान्धर्वात्मा को राज्ञसें पर क्लोड़ने के लिये धनुष पर रखा ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

ततः शरसहस्राणि निर्युश्चापमण्डलात्^१ ।
 सर्वा दश दिशो वाणैरावार्यन्त समागतैः ॥ ३८ ॥

उस समय उस गन्धर्वास्त्र से हज़ारों बाण निकले, जिनसे दसो दिशाएँ ढक गयीं ॥ ३८ ॥

नाददानं शरान्धोरान्न मुञ्चन्त शिलीमुखान् ।

विकर्षमाणं पश्यन्ति राक्षसास्ते शरादिताः ॥ ३९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ऐसी फुर्ती से बाण क्लोड़ रहे थे कि बाणों से पीड़ित राज्ञसें को यह न मालूम पड़ता था कि, श्रीरामचन्द्र जी कब भयङ्कर पैने वाणों को तरकस से निकालते और कब क्लोड़ते थे ॥ ३६ ॥

शरान्धकारमाकाशमावृणोत्सदिवाकरम् ।

बभूवावस्थितो रामः प्रवमन्निव ताञ्चरान् ॥ ४० ॥

^१ चापमण्डलात् — संहितगान्धर्वस्त्रात् । (गो०)

उन बाणों ने आकाश को ढक लिया और सूर्य के ढक जाने से अंधकार द्वा गया । किन्तु तिस पर भी श्रीरामचन्द्र जी धीर भाव से खड़े हुए उन पर बाणों की वर्षा करते ही रहे ॥ ४० ॥

युगपत्पतमानैश्च युगपच्च हतैभृशम् ।

युगपत्पतितैश्चैव विकीर्णा वसुधाभवत् ॥ ४१ ॥

उन बाणों से कितने ही राज्ञस एक साथ गिर पड़ते, कितने ही अत्यन्त आहत (धायल) होते और बहुत से एक साथ ही मूर्छित हो गिर पड़ते थे । उनके शरीरों से (रणभूमि) ढक गयो ॥ ४१ ॥

निहताः^१ पतिताः^२ क्षीणाऽशिष्ठन्नाऽभिन्नाऽविदारिताः^४ ।

तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते राक्षसास्ते सहस्रशः ॥ ४२ ॥

उस रणाङ्गण में जिधर देखो उधर ही हजारों राज्ञस ऐसे पड़े हुए देख पड़ते थे; जो युद्ध में मारे गये थे ; जो भयभीत हो भूमि पर गिर पड़े थे ; जिनके प्राण कण्ठ में अटके हुए थे ; जिनके शरीर के दो टुकड़े हो गये थे ; जिनके शरीर के कट कर टुकड़े कटुड़े हो गये थे और जिनके पेट कटे हुए थे ॥ ४२ ॥

सोष्णीषैरुत्तमाङ्गैश्च साङ्गदैर्वाहुभिस्तथा ।

ऊरुभिर्जानुभिशिष्ठन्नैर्नानारूपविभूषणैः ॥ ४३ ॥

कहीं पर राज्ञसों के पगड़ी सहित कटे सिर, कहीं पर उनकी बाजू-बन्द सहित कटी बाँहें, कहीं पर उनके कटे हुए ऊरु; कहीं पर उनकी कटी हुई जाँघें और कहीं पर उनके तरह तरह के गहने पड़े हुए थे ॥ ४३ ॥

१ निहताः—केवल प्रहताः । (गो०) २ पतिताः—अशनिपातहृवभयेन भूमौपतिताः । (गो०) ३ क्षीणाः—कण्ठगतप्राणाः । (गो०) छिन्नाः—द्विधा कृताः । (गो०) ५ भिन्ना—खणिदत्तवयवाः । (गो०) ६ विदारिताः—नृसिंहेन हिरण्यवदानाभिकण्ठमुद्दिष्टशरीराः । (गो०)

हयैश्च द्विपमुख्यैश्च रथैर्भिन्नैरनेकशः ।

चामरैर्व्यजनैश्छत्रैर्ध्वजैर्नानाविधैरपि ॥ ४४ ॥

उस रणदेव में, अनेक मरे हुए घोड़े, हाथी, तथा अनेक टूटे हुए रथ और तरह तरह के छत्र, चंचर, पंखा तथा ध्वजाएँ टूटी फूटी पड़ी हुई थीं ॥ ४४ ॥

रामस्य वाणाभिहैर्विचित्रैः शूलपट्टिशैः ।

खङ्गैः खण्डीकृतैः प्रासैर्विकीर्णेश्च परश्वधैः ॥ ४५ ॥

श्रीरामचन्द्र जी के बाणों से कटे हुए त्रिशूल, पटा, और तल-वारें, भाले, फरसे आदि शब्द रणभूमि में बिखरे हुए थे ॥ ४५ ॥

चूर्णिताभिः शिलाभिश्च शरैश्चित्रैरनेकशः ।

विच्छिन्नैः समरे भूमिर्विकीर्णाभूद्धयङ्करा ॥ ४६ ॥

तथा टूटी शिलाओं और अनेक कटे हुए शरों के इधर उधर रणदेव में पड़े रहने से, वहाँ की भूमि बड़ी भयानक देख पड़ती थी ॥ ४६ ॥

तान्वद्वा निहतान्संख्ये राक्षसान्परमातुरान् ।

न तत्र सहितुं शक्ता रामं परपुरञ्जयम् ॥ ४७ ॥

इति पञ्चविंशः शर्गः ॥

इस प्रकार बहुत से आतुर राक्षसों को युद्ध में मरा हुआ देख, जो राक्षस जीते बच गये थे, वे शत्रुओं को जीतनेवाले श्रीरामचन्द्र जी के प्रहार को न सह सके । अर्थात् भाग खड़े हुए ॥ ४७ ॥

अरण्यकाण्ड का वाईसवां सर्ग पूरा हुआ ।

षड्विंशः सर्गः

—:*:—

दूषणस्तु स्वकं सैन्यं हन्यमानं निरीक्ष्य सः ।
 सन्दिदेश महाबाहु भीमवेगान्दुरासदान् ॥ १ ॥
 राक्षसान्पञ्च साहस्रान्समरेष्वनिवर्तिनः ।
 ते शूलैः पट्टिशैः खड्डैः शिलावर्षेद्वैरपि ॥ २ ॥

महाबाहु दूषण ने जब देखा कि, उसकी सेना मारी जाती है, तब उसने भयझक्कर आक्रमणकारी, दुर्धर्ष और रणक्षेत्र में कभी पीठ न दिखाने वाले पांच हजार राक्षसों को युद्ध करने की आज्ञा दी। दूषण को आज्ञा पा कर, वे सैनिक राक्षस शूलों, पट्टों, खड्डों, शिलाओं और वृक्षों की वर्षा करने लगे ॥ १ ॥ २ ॥

शरवर्षेविच्छिन्नं वृषुस्तं समन्ततः ।
 स द्रुमाणां शिलानां च वर्षं प्राणहरं महत् ॥ ३ ॥

इनके अतिरिक्त उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर अविच्छिन्न रूप से और चारों ओर से वारें की वृष्टि भी की। वृक्षों और शिलाओं की वह महावृष्टि प्राणों की हरने वाली थी ॥ ३ ॥

प्रतिज्ग्राह^१ धर्मात्मा राघवस्तीक्ष्णसायंकैः ।
 प्रतिगृह्य च तद्वर्षं निमीलित इवर्षभः ॥ ४ ॥

^१ प्रतिज्ग्राह—प्रतिरूप । (गो०)

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने अपने पैने बाणों से उस वृष्टि को रोका। जैसे बैल आंख बन्द कर वर्षा को सहता है (अर्थात् जिस प्रकार बैल वृष्टि की कुद्द भी परवाह नहीं करता) वैसे ही श्रीरामचन्द्र जी ने उस वृष्टि की कुद्द भी परवाह न की ॥ ४ ॥

रामः क्रोधं परं भेजे वधार्थं सर्वरक्षसाम् ।

ततः क्रोधसमाविष्टः प्रदीप्त इव तेजसा ॥ ५ ॥

फिर श्रीरामचन्द्र जी अत्यन्त कुद्द हुए और सब रात्सों के मारने का दूढ़ निश्चय किया। उस समय क्रोध और तेज से प्रकाश-मान हो उन्होंने ॥ ५ ॥

शरैरवाकिरत्सैन्यं सर्वतः सहदूषणम् ॥

ततः सेनापतिः क्रुद्धो दूषणः शत्रुदूषणः ॥ ६ ॥

दूषण और उसकी सेना के ऊपर तीरों की वर्षा की। फिर शत्रुदूषण सेनापति दूषण कुद्द हो कर, ॥ ६ ॥

शरैश्चनिकलैस्तं राघवं समवाकिरत् ।

ततो रामः सुसंक्रुद्धः क्षुरेणास्य महद्दनुः ॥ ७ ॥

बज्र तुल्य बाणों से श्रीरामचन्द्र के ऊपर वृष्टि करने लगा। तब श्रीरामचन्द्र जी ने कुद्द हो क्षुरे की धार के समान पैने बाणों से दूषण का बड़ा धनुष ॥ ७ ॥

चिञ्छेद समरे वीरश्चतुर्भिश्चतुरो हयान् ।

हत्वा चाश्वाङ्गरैस्तीक्ष्णैर्धन्द्रेण सारथेः ॥ ८ ॥

शिरो जहार तद्रक्षस्त्रिभिर्विव्याध वक्षसि ।

स च्छन्दनधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ॥ ९ ॥

काट कर, और चार बाण चला, उसके रथ के चारों घोड़ों को मार डाला। फिर घोड़ों को मार, एक अर्धचन्द्राकार बाण से दूषण के सारथी का सिर काट गिराया, और तीन बाण दूषण की छाती में मारे। तब दूषण ने, जिसका धनुष काटा जा चुका था, और घोड़ों के और सारथी के मारे जाने के कारण, जो रथहीन हो गया था ॥ ८ ॥ ६ ॥

जग्राह गिरिशृङ्गाभं परिघं रोमहर्षणम् ।

वेष्टितं काञ्चनैः पट्टैदेवसैन्यप्रमर्दनम् ॥ १० ॥

गिरिशृङ्ग के तुल्य, रोमाञ्चकारी एक परिघ को उठाया। यह परिघ, सुवर्ण से मढ़ा हुआ था और देवताओं की सेना को मर्दन करने वाला था ॥ १० ॥

आयसैः शङ्खभिस्तीक्ष्णैः कीर्णं परवसोक्षितम्^१ ।

वज्ञाशनिसमस्पर्शं परगोपुरदारणम् ॥ ११ ॥

उसमें लोहे की पैनी नुकीली कीलें जड़ी थीं और वह शत्रुओं की चर्वी में सना हुआ था। वह वज्ञ के समान कठोर था और वह शत्रु के नगर के फाटक को तोड़ने वाला था ॥ ११ ॥

तं महोरगसङ्काशं प्रगृह्य परिघं रणे ।

दूषणोऽभ्यद्रवद्रामं क्रूरकर्मा निशाचरः ॥ १२ ॥

महासर्प के समान उस परिघ को उठा, युद्ध क्षेत्र में, क्रूरकर्मा दूषण राज्ञस, श्रीरामचन्द्र के ऊपर दौड़ा ॥ १२ ॥

तस्याभिपतमानस्य दूषणस्य स राघवः ।

द्राभ्यां शराभ्यां चिञ्छेद सहस्ताभरणौ भुजौ ॥ १३ ॥

^१ परवसोक्षितम्—शत्रुमेदः सिक्तं । (गो०)

तब उसको अपनी ओर आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने हाथों सहित उसकी दोनों भुजाएँ, जो भूषणों से भूषित थीं दो बाण मार कर, काट डालीं ॥ १३ ॥

भ्रष्टः^१ तस्य^२ महाकायः^३ पपात रणमूर्धनि ।

परिघच्छन्नहस्तस्य शक्रध्वज इवाग्रतः ॥ १४ ॥

भुजाओं के कटने से उसका वह वृहदाकार परिघ भी इन्द्रध्वजा की तरह रणक्षेत्र में गिर पड़ा ॥ १४ ॥

स कराभ्यां विकीर्णभ्यां पपात भुवि दूषणः ।

विषाणाभ्यां विशीर्णभ्यां मनस्वीव^४ महागजः ॥ १५ ॥

हाथों के कटने से दूषण ज़मीन पर उसी प्रकार गिरा, जिस प्रकार, दांतों के टूट जाने पर धीर गजराज गिरता है ॥ १५ ॥

तं दृष्टा पतितं भूमौ दूषणं निहतं रणे ।

साधु साधिति काङ्कुत्स्थं सर्वभूतान्यपूजयन्^५ ॥ १६ ॥

दूषण को युद्ध में मरा और ज़मीन पर पड़ा देख, सब लोगों ने (दर्शक लोग) साधु साधु कह कर, श्रीरामचन्द्र जी की प्रशंसा की ॥ १६ ॥

एतस्मिन्नन्तरे क्रुद्धास्त्रयः सेनाग्रयायिनः ।

संहत्याभ्यद्रवन्नरामं मृत्युपाशावपाशिताः ॥ १७ ॥

१ भ्रष्टः—हस्ताच्छ्युतः । (गो०) २ तस्य—दूषणस्य । (गो०) ३ महाकायः—महाप्रमाणः । (गो०) ४ मनस्वी—धीरः । (गो०) ५ अपूजयन्—अस्त्रवन् । (गो०)

इसी बीच में एकत्र हो, खर के तीन सेनाग्रगण्य (सेनापति) मृत्यु के वशवर्ती होने के कारण, कोध में भर, श्रीरामचन्द्र जी का सामना करने गये ॥ १७ ॥

महाकपालः स्थूलाक्षः प्रमाथी च महावलः ।

महाकपालो विपुलं शूलमुद्यम्य राक्षसः ॥ १८ ॥

उन महावलवान राक्षस सेना-पातियों के नाम महाकपाल, स्थूलाक्ष, और प्रमाथी थे । इनमें से महाकपाल एक बड़ा त्रिशूल उठा ॥ १८ ॥

स्थूलाक्षः पट्टिशं गृह्ण प्रमाथी च परश्वधम् ।

दृष्ट्वैवापततस्तूर्णं राघवः सायकैः शिरैः ॥ १९ ॥

तीक्ष्णाग्रैः प्रतिजग्राह संप्राप्तानतिथीनिव ।

महाकपालस्य शिरश्चिच्छेदं परमेषुभिः ॥ २० ॥

और स्थूलाक्ष पटा ले कर तथा प्रमाथी फरसा ले कर, श्रीरामचन्द्र जी की ओर चले । इन तीनों के चलाये हुए शस्त्रों को अपने ऊपर आते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने पैने वाणों से इन तीनों का वैसा ही स्वागत किया; जैसा कि, आये हुए पाहुने का किया जाता है । श्रीरामचन्द्र जी ने एक पैने वाण से महाकपाल का सिर काट डाला ॥ १९ ॥ २० ॥

असंख्ये यैस्तु वाणीघैः प्रममाथ^१ प्रमाथिनम् ।

स पपात हतो भूमौ विटपीव महाद्रुमः ॥ २१ ॥

तदनन्तर अगणित वाणों से प्रमाथी का सिर चूर चूर कर दिया । वह कटे हुए महावृक्ष की तरह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ २१ ॥

^१ प्रममाथः—चूर्णीष्वकारेत्यर्थः । (गो०)

स्थूलाक्षस्याक्षिणी तीक्ष्णैः पूरयामास सायकैः ।

दूषणस्यानुगान्पञ्चसाहस्रान्कुपितः क्षणात् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने पैने पैने बाणों से स्थूलाक्ष की आँखें भर दीं, जहाँ भर में श्रीरामचन्द्र जी ने दूषण के पांच हज़ार ॥ २२ ॥

बाणौघैः पञ्चसाहस्रैरनयद्यमसादनम् ।

दूषणं निहतं दृष्ट्वा तस्य चैव पदानुगान् ॥ २३ ॥

अनुयायी राक्षस सैनिकों को क्रोध में भर, पांच हज़ार बाण चला, यमालय को भेज दिया । दूषण और उसकी पैदल सेना को मरा हुआ देख, ॥ २३ ॥

व्यादिदेश स्वरः क्रुद्धः सेनाध्यक्षान्महावलान् ।

अयं विनिहतः संख्ये दूषणः सपदानुगः ॥ २४ ॥

खर ने क्रोध में भर अन्य महावलवान् सेनापतियों को यह आज्ञा दी कि, यह दूषण तो अपने पैदल सैनिकों सहित युद्ध में मारा गया ॥ २४ ॥

महत्या सेनया सार्धं युध्वा रामं कुमानुषम् ।

शस्त्रैर्नानाविधाकारैर्हनध्वं सर्वराक्षसाः ॥ २५ ॥

अब तुम सब लोग मिल कर और अपनी महती सेना को साथ ले, विविध प्रकार के शस्त्रों से मनुष्याधम राम को मार डालो ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा स्वरः क्रुद्धो राममेवाभिदुद्वेते ।

श्येनगामी पृथुग्रीवो यज्ञशत्रुर्विहज्जन्मः ॥ २६ ॥

दुर्जयः करवीराक्षः परुषः कालकार्मुकः ।

मेघमाली महामाली सर्पस्यो रुधिराशनः ॥ २७ ॥

द्वादशैते महावीर्या बलाध्यक्षाः ससैनिकाः ।

राममेवाभ्यवर्तन्त विसृजन्तः शरोत्तपान् ॥ २८ ॥

यह कह कर और क्रोध में भर स्वयं ही खर ने श्रीरामचन्द्र जी पर आक्रमण किया । श्येनगामी, पृथुश्रीव, यज्ञशत्रु, विहङ्गम, दुर्जय, करवीरात्म, पुरुष, कालकार्मुक, मेघमाली, माहमाली, सर्पास्य और रुधिराशन नाम के १२ महावली सेनाध्यक्षों ने अपनी अधीनस्थ सेनाओं को साथ ले, बड़े पैने पैने बाण चला कर, श्रीरामचन्द्र जी पर आक्रमण किया ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

ततः पावकसङ्काशैर्हेमवज्ज्विभूषितैः ।

जघान शेषं तेजस्वी तस्य सैन्यस्य सायकैः ॥ २९ ॥

तब तेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी अग्नि तुल्य तथा सुवर्ण और हीरों से भूषित बाणों से उस बच्ची हुई सेना का नाश करने लगे ॥ २६ ॥

ते रुक्मपुङ्गा विशिखाः सधूमा इव पावकाः ।

निजन्म्रुस्तानि रक्षांसि वज्रा इव महाद्रुमान् ॥ ३० ॥

जिस प्रकार वज्र के आघात से बड़े बड़े वृक्ष गिर जाते हैं, उसी प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने अपने सुवर्ण पुङ्ग वाले सधूम अग्नि के समान बाणों से, राक्षसों को मार कर, गिराना आरम्भ किया ॥ ३० ॥

रक्षसां तु शतं रामः शतेनैकेन कर्णिना^१ ।

सहस्रं च सहस्रेण जवान रणमूर्धनि ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने युद्ध में एक सौ (कान के आकार के) बाण चला कर, एक सहस्र राक्षसों का एक एक बार में संहार किया ॥ ३१ ॥

^१ कर्णिना—कर्णाकार शरीरेण । (गो०)

तैभिन्नवर्माभरणाश्छन्नभिन्नशरासनाः ।

निषेतुः शोणितादिग्धा धरण्यां रजनीचराः ॥ ३२ ॥

उनके बालों से राज्ञसें के कवच, आभूषण और धनुष ढूट कर गिर पड़े । वे राज्ञस स्वयं भी खून से तरबतर हो और मर कर ज़मीन पर गिर पड़े ॥ ३२ ॥

तैर्मुक्तकेशैः समरे पतितैः शोणितोक्षितैः ।

आस्तीर्णा वसुधा कृत्स्ना महावेदिः कुशैरिच ॥ ३३ ॥

खूले हुए बालों से, वह समस्त रणभूमि ऐसी जान पड़ती थी, मानों यज्ञ की वेदी पर कुश विछें हों ॥ ३३ ॥

क्षणेन तु महाघोरं वनं निहतराक्षसम् ।

वभूव निरयप्रख्यं^१ मांसशोणितकर्दमम् ॥ ३४ ॥

बात की बात में उन राज्ञसें के मारे जाने से वहाँ महाघोर वन, मरे हुए राज्ञसों के मांस और रक की कीचड़ से नरक के समान हो गया ॥ ३४ ॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।

हतात्येकेन रामेण मानुषेण पदातिना ॥ ३५ ॥

मनुष्य श्रीरामचन्द्र ने अकेले और पैदल ही चौदह हज़ार भयङ्कर कर्म करने वाले राज्ञसें को मार डाला ॥ ३५ ॥

तस्य सैन्यस्य सर्वस्य खरः शेषो महारथः ।

राक्षसस्त्रिविशिराश्वैव रामश्च रिपुसूदनः ॥ ३६ ॥

^१ निरयप्रख्य—नरकतुल्यं । (गो०)

इस राम-राक्षस-युद्ध में अब केवल तीन जन अर्थात् शत्रुनाशक श्रीरामचन्द्र, महारथी खर और त्रिशिरा राक्षस बच रहे ॥ ३६ ॥

शेषा हता महासत्त्वा राक्षसा रणमूर्धनि ।

घोरा दुर्विषहाः सर्वे लक्ष्मणस्याग्रजेन ते ॥ ३७ ॥

इनके अतिरिक्त जो राक्षस थे उन सब को महावली श्रीरामचन्द्र जी ने मार डाला था । वे राक्षस बड़े भयङ्कर और दुर्धर्ष थे ॥ ३७ ॥

ततस्तु तद्वीपबलं महाहवे

समीक्ष्य रामेण हतं बलीयसा ।

रथेन रामं महता खरस्तदा

समाप्तसादेन्द्र इवोद्यताशनिः ॥ ३८ ॥

इति पद्मविंशः सर्ग ॥

उस महासंग्राम में भयङ्कर एवं बलवान् समस्त राक्षसों को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा मरा हुआ देख, खर एक बड़े रथ पर सवार हो, वज्र उठाये इन्द्र को तरह, श्रीराम के सामने हुआ ॥ ३८ ॥

अररण्यकाशड का क्वचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

सप्तविंशः सर्गः

—;*;—

खरं तु रामाभिमुखं प्रयान्तं वाहिनीपतिः^१ ।

राक्षसस्त्रिशिरा नाम सन्निपत्येऽदमब्रवीत् ॥ १ ॥

^१ वाहिनीपतिः—सेनापतिः । (गो०) २ सन्निपत्य—समीपमागत्यर्थः ।
(गो०)

खर को श्रीरामचन्द्र के सामने जाते देख, त्रिशिरा नाम के सेनापति ने, खर के समीप जा कर, यह बात कही ॥ १ ॥

मां नियोजय विक्रान्त सन्निवर्तस्व साहसात् ।
पश्य रामं महावाहुं संयुगे विनिपातितम् ॥ २ ॥

हे स्वामिन् ! आप इस समय रामचन्द्र जी के सामने जाने का साहस न कीजिये और (अपने बदले) मुझ पराक्रमी को राम से लड़ने के लिये नियुक्त कीजिये । देखिये, मैं इस महावाहु रामचन्द्र को युद्ध में मार कर, अभी गिराये देता हूँ ॥ २ ॥

प्रतिजानामि ते सत्यमायुधं चाहमालभे^१ ।
यथा रामं वधिष्यामि वधार्ह सर्वरक्षसाम् ॥ ३ ॥

मैं हथियार ढू कर, आपके सामने सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ कि, मैं इस रामचन्द्र को, जो समस्त राज्ञसों के मारने योग्य है, अवश्य मारँगा ॥ ३ ॥

अहं वाऽस्य रणे मृत्युरेष वा समरे मम ।
विनिवृत्य रणोत्साहान्मुहूर्तं प्राशिनको^२ भव ॥ ४ ॥

चाहे तो मैं इसको मारँ अथवा यह मुझे मार डाले । आप स्वयं युद्ध में प्रवृत्त न हो कर, मुहूर्त भर मध्यस्थ बन कर, दोनों ओर का युद्ध देखिये ॥ ४ ॥

*प्रहृष्टो^३ वा हते रामे जनस्थानं प्रयास्यसि ।
मयि वा निहते रामं संयुगायो^४ प्रयास्यसि ॥ ५ ॥

^१ आलभे—सृजामि । (गो०) ^२ प्राशिकः—जयापञ्चनिर्णयकः । (गो०)
^३ प्रहृष्टे—गर्विष्टे । (गो०) ^४ संयुगाय—युद्धं कर्तुं । (गो०)
* पाठान्तरे—“प्रहृष्टे”

यदि राम मारा जाय, तो आप गर्व सहित जनस्थान को चले जाइयेगा और यदि कहीं मैं ही मारा जाऊँ, तो आप उससे युद्ध करने को उसके सामने जाना ॥ ५ ॥

खरस्त्रिशिरसा तेन मृत्युलोभात्प्रसादितः ।

गच्छ युध्येत्यनुज्ञातो राघवाभिमुखो ययौ ॥ ६ ॥

जब उस (श्रीरामचन्द्र) की मृत्यु का लालच दिखा, त्रिशिरा ने खर को प्रसन्न किया, तब खर ने उससे कहा कि, अच्छा जाओ और लड़ो । यह आज्ञा पा कर, त्रिशिरा श्रीरामचन्द्र जी के सम्मुख गया ॥ ६ ॥

त्रिशिराश्च रथेनैव वाजियुक्तेन भास्यता ।

अभ्यद्रवदणे रामं त्रिशृङ्गं इव पर्वतः ॥ ७ ॥

वह तीन सिरों वाला (त्रिशिरा) धोड़ों के देवीप्यमान् रथ पर सवार हो, युद्ध करने को श्रीरामचन्द्र जी के सामने गया— मानों तीन शिखर वाला पर्वत जाता हो ॥ ७ ॥

शरधारासमूहान्स महामेघ इवोत्सृजम् ।

व्यसृजत्सदृशं नादं जलार्द्रस्य तु दुन्दुभेः ॥ ८ ॥

वह त्रिशिरा महामेघ की तरह, बाणों की वर्षा करने लगा और ऐसे गर्जा मानों जल से भींगा नगाड़ा बज रहा हो ॥ ८ ॥

आगच्छन्त त्रिशिरसं राक्षसं प्रेक्ष्य राघवः ।

धनुषा प्रतिजग्राह विधून्वन् सायकाञ्जितान् ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने त्रिशिरा को आते देख और धनुष ले, उस पर तीखे बाण छोड़े ॥ ९ ॥

स संप्रहार^१स्तुमुलो रामत्रिशिरसोर्महान् ।

बभूवातीव बलिनोः सिंहकुञ्जरयोरिव ॥ १० ॥

श्रीरामचन्द्र और त्रिशिरा का बड़ा भयङ्कर युद्ध हुआ; मानों
अति बलवान्, सिंह और गजेन्द्र का युद्ध हो ॥ १० ॥

ततस्त्रिशिरसा बाणैर्ललाटे ताडितास्त्रिभिः ।

अमर्षी^३ कुपितो रामः संरब्ध^४मिदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

त्रिशिरा ने तीन बाण श्रीरामचन्द्र जी के ललाट में मारे। तब
ऋषियों के कष्ठों को न सहने वाले श्रीरामचन्द्र ने क्रोध में भर
त्रिशिरा को झिङ्क कर कहा ॥ ११ ॥

अहो विक्रमशूरस्य राक्षसस्येदशं बलम् ।

पुष्पैरिव शरैर्यस्य ललाटेऽस्मि परिक्षतः^४ ॥ १२ ॥

अरे विक्रमी शूर राक्षस ! क्या तुझमें इतना ही बल है कि,
तेरे मारे हुए बाण मेरे ललाट में फूलों की तरह जान पड़े ॥ १२ ॥

ममापि प्रतिगृह्णीष्व शरांश्चापगुणच्युतान् ।

एवमुक्त्वा तु संरब्धः शरानाशीविषोपमान् ॥ १३ ॥

अच्छा अब तू मेरे धनुष के रोदे से छूटे हुए बाणों को रोक
सकता हो तो रोक। यह कह कर, श्रीरामचन्द्र जी ने कुपित हो,
सर्पों की तरह ॥ १३ ॥

त्रिशिरोवक्षसि क्रुञ्जो निजघान चतुर्दश ।

चतुर्भिस्तुरगानस्य शरैः सन्नतपर्वभिः ॥ १४ ॥

१ संप्रहारो—युद्धं । (गो०) २ संरब्धम्—सकोपं । (गो०) ३ अमर्षी—
ऋष्यपराधासहनशीलः । (शि०) ४ परिक्षतो—हतोस्मि । (शि०)

चौदह वाणि त्रिशिरा की छाती में मारे और चार पैने पैने वाणि
उसके रथ के चारों घोड़ों के मार ॥ १४ ॥

न्यपातयत तेजस्वी चतुरस्तस्य वाजिनः ।

अष्टभिः सायकैः सूतं रथोपस्थान्यपातयत् ॥ १५ ॥

तेजस्वी श्रीरामचन्द्र ने त्रिशिरा के चारों घोड़े मार कर गिरा
दिये, फिर आठ वाणि मार कर त्रिशिरा के सारथी को मार, रथ पर
गिरा दिया ॥ १५ ॥

रामशिचच्छेद वाणेन ध्वजं चास्य समुच्छ्रितम् ।

ततो हतरथा॑ च स्मादुत्पन्तं निशाचरम् ॥ १६ ॥

बिभेद रामस्तं वाणैर्हृदये सोभवज्जदः२ ।

सायकैश्चाप्रमेयात्मा सामर्षस्तस्य रक्षसः ॥ १७ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने उसके रथ की ऊँची ध्वजा भी एक वाणि से
काट दी । तब घोड़ों और सारथी से रहित उस रथ से त्रिशिरा को
कूदते देख, अप्रमेयात्मा श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध में भर, उसकी छाती
को मारे वाणों के विदीर्ण कर डाला । तब त्रिशिरा निश्चेष्ट हो
गया ॥ १६ ॥ १७ ॥

शिरांस्यपातयद्रामो वेगवद्विस्त्रिभिः शितैः ।

स भूमौ रुधिरोदगारी रामवाणाभिपीडितः ॥ १८ ॥

न्यपतत्पतितैः पूर्वं स्वशिरोभिर्निशाचरः ।

हतशेषास्ततो भया राक्षसाः स्वरसंश्रयाः३ ।

द्रवन्ति स्म न तिषुन्ति व्याघ्रत्रस्ता मृगा इव ॥ १९ ॥

१ हतरथात्—हतहयसारथिकरथात् । (गो०) २ जडः—निश्चेष्टः । (गो०)

३ स्वरसंश्रयाः—स्वरसेनकाः । (गो०) * पाठान्तरे—“रथोपस्थेन्यपातयत् ।”

तब श्रीरामचन्द्र जी ने तुरन्त तीन बाण मार उसके तीनों सिर काट कर गिरा दिये । वह त्रिशिरा, श्रीराम के बाणों से पीड़ित हो, भूमि पर रुधिर गिराता हुआ, अपने मस्तकों के साथ रणभूमि में गिर पड़ा । उसको मरा देख, वचे हुए खर के सेवक राक्षस हतोत्साह हो, रणभूमि में खड़े न रह कर, वैसे ही भाग गये, जैसे व्याघ्र से भयभीत हो, मृग भागते हैं ॥ १८ ॥ १९ ॥

तान्त्वरो द्रवतो दृष्टा निवर्त्य रुषितः स्वयम् ।

राममेवाभिदुद्राव राहुश्चन्द्रमसं यथा ॥ २० ॥

इति सप्तविंशः सर्गः ॥

उनको भागते देख, खर ने रोष में भर उनको लौटाया और स्वयं श्रीरामचन्द्र जी की ओर वैसे ही दौड़ा, जैसे राहु, चन्द्रमा के ऊपर दौड़ता है ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का सत्ताईर्वां सर्ग पूरा हुआ ।

—————*

अष्टाविंशः सर्गः

—————*

निहतं दूषणं दृष्टा रणे त्रिशिरसा सह ।

खरस्याप्यभवत्रासो दृष्टा रामस्य विक्रमम् ॥ १ ॥

त्रिशिरा सहित दूषण को मरा हुआ देख, खर भी श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम से डर गया ॥ १ ॥

स दृष्टा राक्षसं सैन्यमविष्वां महाबलः ।

हतमेकेन रामेण त्रिशिरोदूषणावपि ॥ २ ॥

वह सोचने लगा कि, अकेले श्रीराम ने अति बलवती राक्षसों की सेना त्रिशिरा और दूषण सहित मार डाली ॥ २ ॥

तद्वलं^१ हतभूयिष्ठं^२ विमनाः प्रेक्ष्य राक्षसः ।

आससाद् खरो रामं नमुचिर्वासवं यथा ॥ ३ ॥

उस सेना को तथा चुने चुने बीर राक्षसों को भरा हुआ देख, खर उदास हुआ और श्रीरामचन्द्र के ऊपर वैसे ही झपटा, जैसे इन्हें के ऊपर नमुचि दैत्य झपटा था ॥ ३ ॥

विकृष्ण बलवज्ञापं^३ नाराचान्तर्क्तभोजनान् ।

खरश्चिक्षेप रामाय क्रुद्धानाशीविषानिव ॥ ४ ॥

खर ने बड़े ज़ोर से धनुष की खींच, श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर क्रुद्ध सर्प के विष के समान रुधिर पान करके थाले बाण छोड़े ॥ ४ ॥

ज्यां विधून्वन्सुबहुशः शिक्षयाऽस्त्राणि दर्शयन् ।

चकार समरे मार्गांशरै रथगतः खरः ॥ ५ ॥

धनुष के रोदे क्षे बार बार झटकारता और अपनी शख्खाविद्या का परिचय देता हुआ और तरह तरह के बाल छोड़ता हुआ रथ पर सवार खर, रणभूमि में धूमने लगा ॥ ५ ॥

स सर्वाश्र दिशो वाणौः प्रदिशश्च महारथः ।

पूरयामास तं दृष्ट्वा रामोऽपि सुमहद्जुः ॥ ६ ॥

उस महारथी को बाणों से समस्त विशाय और विदिशाय पूरित करते देख, श्रीरामचन्द्र जी ने भी बड़ा धनुष हाथ में लिया ॥ ६ ॥

^१ बलं—सैव्यं । (गो०) ^२ हतभूयिष्ठं—हतप्रवरराक्षसं । (गो०)

^३ बलवत्—भृयन्तं । (गो०)

स सायकैदुर्विषहैः सस्फुलिङ्गैरिवाग्निभिः ।

नभश्चकाराविवरं पर्जन्य इव वृष्टिभिः ॥ ७ ॥

और आग के अंगारों की तरह न सहने योग्य तीरों से आकाश को छा दिया । मानों मेघ वरस रहा हो ॥ ७ ॥

तद्रभूव शितैर्बाणैः खररामविसर्जितैः ।

पर्याकाशमनाकाशं सर्वतः शसङ्कुलम् ॥ ८ ॥

इस समय श्रीरामचन्द्र और खर के ढोड़े हुए बाणों से सारा आकाश भरा हुआ था ॥ ८ ॥

शरजालावृतः सूर्यो न तदा स्म प्रकाशते ।

अन्योन्यवधसंरम्भादुभयोः संप्रयुध्यतोः ॥ ९ ॥

एक दूसरे को मार डालने की इच्छा से युद्ध करते हुए दोनों के शरजाल से सूर्य ढक गये थे और सूर्य का प्रकाश नहीं देख पड़ता था ॥ ९ ॥

तत्प्रे नालीकनाराचैस्तीक्ष्णग्रैश्च विकर्णिभिः ।

आजघान खरो रामं तोत्रैरिव महाद्विपम् ॥ १० ॥

तदनन्तर महावत जिस प्रकार महागज के अंकुश मारता है, उसी प्रकार खर ने पैने नालीक, नाराच और चिकीर्ण नामक बाण श्रीराम-चन्द्र जी के मारे ॥ १० ॥

तं रथस्थं धनुष्पाणि राक्षसं पर्यवस्थितम् ।

ददशुः सर्वभूतानि पाशहस्तमिवान्तकम् ॥ ११ ॥

उस समय हाथ में धनुष लिये और रथ पर सवार खर, सब प्राणियों को ऐसा देख पड़ता था, मानों पाश को हाथ में लिये काल घूमता हो ॥ ११ ॥

हन्तारं सर्वसैन्यस्य पौरुषे पर्यवस्थितम् ।

परिश्रान्तं महासत्त्वं मेने रामं खरस्तदा ॥ १२ ॥

अपनी समस्त सेना का विनाश करने वाले पुरुषार्थी, श्रीरामचन्द्र जी को, जो उस समय कुद्रु कुद्रु आन्त हो गये थे, खर ने बड़ा बलवान् समझा अथवा पुरुषार्थी बलवान् श्रीराम को आन्त समझा ॥ १२ ॥

तं सिंहभिव विक्रान्तं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।

दृष्टा नोद्विजते रामः सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ १३ ॥

सिंह तुल्य पराक्रमी और सिंह सदृश व्यवहार करने वाले श्रीरामचन्द्र खर को देख, उसी प्रकार कुद्रु भी न घबड़ाये, जिस प्रकार सिंह एक लुद्र हिरन को देख नहीं घबड़ाता ॥ १३ ॥

ततः सूर्यनिकाशेन रथेन महता खरः ।

अससाद रणे रामं पतङ्गं इव पावकम् ॥ १४ ॥

तदनन्तर खर, सूर्य समान द्युतिमान रथ पर सवार हो, श्रीरामचन्द्र जी के पास वैसे ही पहुँचा जैसे पतंगे अग्नि के समीप जाते हैं ॥ १४ ॥

ततोऽस्य सशरं चापं मुष्ठिदेशे महात्मनः ।

खरश्चिच्छेद रामस्य दर्शयन्पाणिलाघवम् ॥ १५ ॥

खर ने जाते ही, अपने हाथ को सफाई दिखाते हुए, श्रीरामचन्द्र जी के धनुष को उस जगह से काट डाला जहाँ पर वे उसे पकड़े हुए थे ॥ १५ ॥

स पुनस्त्वपरान्सम शरानादाय वर्मणि ।

निजधान खरः क्रुद्धः शक्राशनिसमप्रभान् ॥ १६ ॥

फिर खर ने क्रोध में भर और वज्र समान सात वाणों को चला, श्रीरामचन्द्र जी का क्षवच विदीर्ण कर डाला ॥ १६ ॥

ततस्तत्प्रहतं वाणैः खरमुक्तैः सुपर्वभिः ।

पपात क्वचं भूमौ रामस्यादित्यवर्चसः ॥ १७ ॥

खर के चलाये वाणों से श्रीरामचन्द्र जी का सूर्य के समान चमकीला क्षवच टूट कर ज़मीन पर गिर पड़ा ॥ १७ ॥

ततः शरसहस्रेण रामप्रतिमौजसम् ।

अर्द्धित्वा महानादं ननाद समरे खरः ॥ १८ ॥

फिर अगणित वाणों से अनुपम पराक्रमी श्रीरामचन्द्र जी को पीड़ित कर, रणभूमि में खर ने महानाद किया ॥ १८ ॥

स शरैरपितः क्रुद्धः सर्वगात्रेषु राघवः ।

रराज समरे रामो विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥ १९ ॥

उस समय खर के वाणों से सम्पूर्ण अंगों के विध जाने से कुद्ध श्रीरामचन्द्र जी की ऐसी शोभा जान पड़ी, जैसी धूम रहित आग्नि की ॥ १९ ॥

ततो गम्भीरनिर्दादं रामः शत्रुनिर्वर्हणः ।

चकारान्ताय स रिपोः सज्यमन्यन्महद्दनुः ॥ २० ॥

१ वर्मणि निजधान—अवदारयति स्म । (गो०) २ अप्रतिमौजसम्—अनुपम पराक्रमराम । (शि०)

तदनन्तर शत्रुघ्नों का नाश करने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने, शत्रुघ्नों का नाश करने के लिये गंभीर शब्द करने वाले बड़े धनुष पर रोदा चढ़ाया ॥ २० ॥

सुमहद्वैष्णवं यत्तदिति^१सृष्टं^२ महर्षिणा ।

वरं तद्धनुरुद्यम्य खरं समभिधावत ॥ २१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी, महर्षि अगस्त्य जी के दिये हुए प्रसिद्ध वैष्णव धनुषश्रेष्ठ को उठा कर, खर की ओर झपटे ॥ २१ ॥

ततः कनकपुह्नैस्तु शरैः सन्नतपर्वभिः^३ ।

विभेद रामः संक्रुद्धः खरस्य समरे ध्वजम् ॥ २२ ॥

युद्ध में क्रुद्ध हो श्रीरामचन्द्र जी ने सुवर्ण के पुंख लगे हुए और सीधी गांठों वाले तीरों से खर के रथ की धजा काट डाली ॥ २२ ॥

स दर्शनीयो बहुधा विकीर्णः काञ्छनध्वजः ।

जगाम धरणीं सूर्यो देवतानामिवाज्ञया^४ ॥ २३ ॥

उस समय खर के रथ की, वह देखने योग्य सुवर्ण निर्मित धजा, ज़मीन पर गिर कर, वैसे ही सुशोभित हुई, जैसे देवताओं के शाप से भूमि पर गिरे हुए सूर्य की शोभा हुई थी ॥ २३ ॥

तं चतुर्भिः खरः क्रुद्धो रामं गात्रेषु मार्गणैः ।

विष्याध युधि मर्मज्ञो मातङ्गमिव तोमरैः ॥ २४ ॥

तब मर्मस्थलों को जानने वाले खर ने क्रुद्ध हो कर, चार बाणों से श्रीरामचन्द्र जी के हृदय तथा अन्य मर्मस्थलों को वैसे ही वेध डाला, जैसे भाले से हाथी वेधा जाता है ॥ २४ ॥

१ यत्तदिति—प्रसिद्ध यतिशयवाची । (गो०) २ अतिसृष्टं—दत्तं । (गो०)

३ सन्नतपर्वभिः—क्रुद्धपर्वभिः । (गो०) ४ आज्ञया—शापेन । (गो०)

स रामो वहुभिर्वर्णैः खरकार्मुकनिःसृतैः ।

विद्धो रुधिरसिक्ताङ्गो वभूव रुषितो भृशम् ॥ २५ ॥

खर के धनुष से छूटे हुए वहुत से बाणों के लगने से श्रीरामचन्द्र जी घायल हो गये और खून से सराबोर हो गये । अतः वे अत्यन्त कुद्ध हुए ॥ २५ ॥

स धनुर्धन्विनां श्रेष्ठः प्रगृहय परमाहवे ।

मुमोच परमेष्वासः पट् शरानभिलक्षितान् ॥ २६ ॥

धनुषधारियों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र जी ने एक बढ़िया धनुष ले, खर का निशाना बांध, उसके ऊपर छः बाण ढोड़े ॥ २६ ॥

शिरस्येकेन बाणेन द्वाभ्यां बाहोरथार्दयत् ।

त्रिभिश्चन्द्रार्धवक्त्रैश्च वक्षस्यभिजघान ह ॥ २७ ॥

इनमें से एक बाण से खर का माथा, दो से उसकी दोनों भुजाएँ घायल कीं और तीन अर्धचन्द्राकार मुख वाले बाण उसकी ढाती में मारे ॥ २७ ॥

ततः पश्चान्महातेजा नाराचान्भास्करोपमान् ।

जिधांसु राक्षसं कुद्धस्त्वयोदश समाददे ॥ २८ ॥

इसके बाद महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने कुद्ध हो सूर्य के समान चमकते हुए १३ नाराच (बाण विशेष) ले, खर को मारने की इच्छा से उस पर ढोड़े ॥ २८ ॥

१ अभिलक्षितान्—लक्ष्योद्देश्यत्वेन विभितान् । (शि०) २ चन्द्रार्धवक्त्रैः—
अर्धचन्द्राकारमुखैः । (गो०)

ततोऽस्य युगमेकेन चतुर्भिर्शतुरो हयान् ।

षष्ठेन तु शिरः संख्ये खरस्य रथसारथेः ॥ २९ ॥

एक से रथ के जुआँ को, चार से चरों घोड़ों को और छठवें से खर के रथ के सारथी के सिर को क्षेद डाला ॥ २९ ॥

त्रिभिस्त्रिवेणुं बलवान्द्राभ्यामक्षं महाबलः ।

द्वादशेन तु वाणेन खरस्य सशरं धनुः ॥ ३० ॥

छित्त्वा वज्रनिकाशेन राघवः प्रहसन्निव^१ ।

त्रयोदशेनेन्द्रसमो विभेद समरे खरम् ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने तीन वाणों से रथ के तीनों बांसों को, दो से रथ की धुरी को, और वारहवें वाण से खर के वाण सहित धनुष को काट डाला । फिर खेल ही खेल में (अनायास) वज्र समान तेरहवाँ वाण, इन्द्र समान श्रीरामचन्द्र जी ने खर के मारा ॥३०॥३१॥

प्रभग्नधन्वा विरथो हताश्वो हतसारथिः ।

गदापाणिरवप्लुत्य तस्थौ भूमौ खरस्तदा ॥ ३२ ॥

धनुष और रथ के टूट जाने से, घोड़ों और सारथी के मारे जाने से, खर रथहीन होने के कारण, हाथ में गदा ले, रथ से कूदा और रणभूमि पर खड़ा हो गया ॥ ३२ ॥

तत्कर्म रामस्य महारथस्य

समेत्य^२ देवाश्च महर्ष्यश्च ।

१ प्रहसन्निव—लीलयेत्यर्थः । (गो०) २ समेत्य—समूहीभूय । (गो०)

अपूजयन्प्राञ्जलयः प्रहृष्टा-
स्तदा विमानाग्रगताः समेताः२ ॥ ३३ ॥

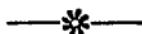
इति अष्टाविंशः सर्गः ॥

उस समय महारथी श्रीरामचन्द्र जी के इस (अङ्गुत) कर्म को देख, देवता और महर्षि अत्यन्त प्रसन्न हुए और एकत्र हो तथा विमानों पर चढ़, वहाँ (जहाँ श्रीरामचन्द्र जी थे) आये और हाथ जोड़, श्रीरामचन्द्र जी की स्तुति की ॥ ३३ ॥

अरण्यकाश्वे का अट्टाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।



एकोनत्रिंशः सर्गः



खरं तु विरथं रामो गदापाणिमवस्थितम् ।

मृदुपूर्व३ महातेजाः परुषं४ वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

रथहीन खर को हाथ में गदा लिये हुए देख, महातेजस्वी श्री-रामचन्द्र जी ने उससे न्यायोचित और मर्मस्पर्शी वचन कहे ॥ १ ॥

गजाश्वरथसंबाधे बले महति तिष्ठता५ ।

कृतं सुदारुणं कर्म सर्वलोकजुगुप्सितम् ॥ २ ॥

हे चीर ! अनेक हाथियों, धोड़ो, रथों, और बहुत सी सेना का अधिपति हो, तूने सर्वलोकनिन्दित धोर पाप कर्म किये हैं ॥ २ ॥

१ अपूजयन्—अस्तुवन् । (गो०) २ समेताः—भागताः । (गो०)

३ मृदुपूर्व—न्यायावलम्बनेनोक्तं । (गा०) ४ परुषं—मर्मेद्वाटनरूपत्वात् । (गो०) ५ तिष्ठता—अधिपतित्वेन तिष्ठतेत्यर्थः । (गो०)

उद्देजनीयो^१ भूतानां नृशंसः^२ पापकर्मकृत् ।

त्रयाणामपि लोकानामीश्वरोपि न तिष्ठति^३ ॥ ३ ॥

(कदाचित् इन पापकर्मों को करते समय तुझे यह नहीं मालूम था कि,) प्राणियों को दुःख देने वाला धातक (अत्याचारी) और पापकर्म करने वाला पुरुष, भले ही वह त्रिलोकीनाथ ही क्यों न हो—(अधिक दिनों) नहीं जी सकता । (फिर तुझ जैसे तुच्छ जीव की तो विसांत ही क्या है) ॥ ३ ॥

कर्म लोकविरुद्धं तु कुर्वाणं क्षणदाचर^४ ।

तीक्ष्णं सर्वजनो हन्ति सर्प दुष्टमिवागतम् ॥ ४ ॥

हे रजनीचर ! लोकविरुद्ध कर्म करने वाले, अत्याचारी को सब लोग वैसे ही मारते हैं, जैसे आये हुए दुष्ट सर्प को ॥ ४ ॥

लोभात्पापानि कुर्वाणः कामाद्वाद्य यो न बुध्यते^५ ।

भ्रष्टः^६ पश्यतिष्ठतस्यान्तं^७ ब्राह्मणी^८ करकादिव^९ ॥ ५ ॥

जो मनुष्य लालचबश अथवा अपूर्व लाभ की इच्छा से काम कर के नहीं पछताता, उसे उस कर्म का फल, ऐश्वर्य से भ्रष्ट होना वैसे ही अनुभव करना पड़ता है, जैसे वर्मनी जाति का जन्तु वृष्टि के ओलों को खा कर, उसका परिणाम स्वरूप मृत्यु का अनुभव करता है ॥ ५ ॥

१ उद्देजनीयः—उद्देजकः । २ नृशंसो—धातकः । (गो०) ३ न तिष्ठति—न जीवेत् । (गो०) ४ क्षणदाचर—रजनीचर । (शि०) ५ लोभात्—लब्धस्यत्यागासहिष्णुतया । (गो०) ६ कामात्—भपूर्वलाभेच्छया । (गो०) ७ न बुध्यते—न पश्चातापं करोति । (रा०) ८ भ्रष्टः—ऐश्वर्याद्भ्रष्टः । (गो०) ९ अन्तं—फलं । (गो०) १० पश्यति—अनुभवति । (गो०) ११ कार्यकाः—वर्षीपलाः । (गो०) १२ ब्राह्मणी—रक्त पुच्छका । (गो०)

वसतो दण्डकारण्ये तापसान्धर्मचारिणः ।

किञ्चु हत्वा महाभागान्फलं प्राप्स्यसि राक्षस ॥ ६ ॥

हे राक्षस ! इस दण्डकवन में वसने वाले धर्मचरण में रत महाभाग तपस्त्रियों को (निरपराध) मारने से, तुझे इसका फल भोगना होगा, क्या तू यह नहीं जानता था ॥ ६ ॥

न चिरं पापकर्मणः क्रूरा लोकजुगुप्सिताः ।

ऐश्वर्यं प्राप्य तिष्ठन्ति शीर्णमूला इव द्रुमाः ॥ ७ ॥

जिस प्रकार गली हुई जड़ के बृक्त बहुत दिनों तक नहीं खड़े रह सकते अर्थात् गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार पापी, क्रूर और लोकनिनित जन ऐश्वर्य पा कर भी बहुत दिनों तक नहीं जीवित रह सकते ॥ ७ ॥

अवश्यं लभते जन्तुः फलं पापस्य कर्मणः ।

घोरं पर्यागते काले द्रुमाः पुष्पमिवात्वम् ॥ ८ ॥

जिस प्रकार समय पा कर, पेड़ फूलते हैं, उसी प्रकार समय प्राप्त होने पर जीवों को उनके किये पाप कर्मों का घोर फल अवश्य मिलता है। अर्थात् समय पर पाप का फल अवश्य प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

न चिरात्प्राप्यते लोके पापानां कर्मणां फलम् ।

सविषाणामिवान्नानां भुक्तानां क्षणदाचर ॥ ९ ॥

हे निशाचर ! जिस प्रकार विषमित्रित अन्न खाने से शीघ्र ही आदमी मर जाता है, उसी प्रकार पापी को किये हुए पापों का फल प्राप्त होने में विलंब नहीं होता। अर्थात् शीघ्र मिलता है ॥ ९ ॥

पापमाचरतां घोरं लोकस्याप्रियमिच्छताम् ।

अहमासादितो राजा^१ प्राणान्हन्तुं निशाचर ॥ १० ॥

हे निशाचर ! तू लोकों का अहित चाहने वाला होने के कारण महापापी है । अतः महाराज दशरथ का भेजा हुआ मैं तेरे प्राणों का नाश करने को यहाँ आया हूँ ॥ १० ॥

अद्य हि त्वां मया मुक्ताः शराः काञ्चनभूषणाः ।

विदार्य निपतिष्यन्ति^१ वल्मीकमिव पन्नगाः ॥ ११ ॥

आज ये सुवर्ण भूषित मेरे छोड़े हुए बाण तेरे शरीर को चीर कर वैसे ही घुसेंगे, जैसे सर्प अपनी बांधी में घुसता है ॥ ११ ॥

ये त्वया दण्डकारण्ये भक्षिता धर्मचारिणः ।

तानद्य निहतः संख्ये ससैन्योऽनुगमिष्यसि ॥ १२ ॥

जिन धर्मचारी ऋषि मुनियों को तूने इस दण्डकारण्य में आकर खाया है, आज युद्ध में सेना सहित मर कर, तू भी उनके पीछे जायगा ॥ १२ ॥

अद्य त्वां विहतं बाणौः पश्यन्तु परमर्षयः ।

निरयस्थं विमानस्था मे त्वया हिंसिताः पुरा ॥ १३ ॥

पहिले जिन तपस्वियों को तूने मारा है, आज वे विमान में लौट कर, तुझको मेरे बाणों से मरा और नरक में जाता हुआ देखें ॥ १३ ॥

प्रहर त्वं यथाकामं कुरु यत्नं कुलाधम ।

अद्य ते पातयिष्यामि शिरस्तालफलं यथा ॥ १४ ॥

अरे कुलाधम ! मेरे मरने के लिये तुझे जो उपाय करना हो सो कर ले और यथेष्ट प्रहार भी कर ले । अन्त में तो मैं, अवश्य ही ताल के फल की तरह तेरा सिर काट कर, गिरा ही दूँगा ॥ १४ ॥

^१ निपतिष्यन्ति—प्रवेक्ष्यन्ति । (गो०)

एवमुक्तस्तु रामेण क्रुद्धः संरक्तलोचनः ।

प्रत्युवाच खरो रामं प्रहसन्क्रोधमूर्धितः ॥ १५ ॥

जब श्रीरामचन्द्र जी ने इस प्रकार कहा, तब खर क्रुद्ध हो और लाल लाल आँखें निकाल तथा (तिरस्कार सूचक) हँसी हँस कर, श्रीराम से बोला ॥ १५ ॥

प्राकृतान्नराक्षसाभृतवा युद्धे दशरथात्मज ।

आत्मनारूपं कथमात्मानमपशस्यं प्रशंससि ॥ १६ ॥

हे दशरथ के पुत्र ! ज्ञुद्र (अर्थात् साधारण) राक्षसों को मार कर, प्रशंसा योग्य न होने पर भी, तू अपने मुँह अपनी प्रशंसा कर रहा है ॥ १६ ॥

विक्रान्ता वलवन्तो वा ये भवन्ति भर्षभाः ।

कथयन्ति न ते किञ्चित्तेजसारूपं स्वेन गर्विताः ॥ १७ ॥

जो श्रेष्ठ पुरुष पराकर्मी और वलवान होते हैं, वे अपने प्रताप का गर्व कर, कभी अपना वर्जन नहीं करते ॥ १७ ॥

प्राकृतास्त्वकृतात्मानो लोके^४ क्षत्रियपांसनाः ।

निरर्थकं विकृत्यन्ते यथा राम विकृत्यसे ॥ १८ ॥

हे श्रीराम ! जो ज्ञुद्र, कल्मष चित्त वाले और क्षत्रियाधम हैं, वे ही तेरी तरह व्यर्थ वकवाद किया करते हैं ॥ १८ ॥

कुलं व्यपदिशन्वीरः समरे कोऽभिधास्यति ।

मृत्युकाले हि सम्प्राप्ते स्वयमप्रस्तवे^५ स्तवम् ॥ १९ ॥

१ प्राकृताः—ज्ञुद्राः । (गो०) २ आत्मना—स्वयमेव । (गो०^५) ३ तेजसा—प्रतापेन । (गो०) ४ अकृत्यामः—कल्मषचित्ताः । (रा०) ५ अप्रस्तवे—अनवसरे । (गो०)

रणभूमि में, जहाँ मृत्यु होना कोई अनहोनी बात नहीं, वही पहले कौन ऐसा शूर है, जो अपने कुल का बखान कर, ऐसे अनवसर में अपनी बड़ाई अपने आप करेगा ॥ १६ ॥

सर्वथैव लघुत्वं ते कथनेन विदर्शितम् ।

सुवर्णप्रतिरूपेण तप्तेनेव कुशाभिना^१ ॥ २० ॥

अतएव तूने अपना बखान कर, सब प्रकार से अपना ओढ़ापन वैसे ही दिखलाया है, जैसे अग्नि में तपाने पर बनावटी सोना अपना बनावटीपन प्रकट कर देता है ॥ २० ॥

न तु मामिह तिष्ठन्तं पश्यति त्वं गदाधरम् ।

धर्मवाक्म्पयं पर्वतं धातुभश्चितम् ॥ २१ ॥

हे श्रीराम ! क्या तू यह नहीं देखता कि, मैं गदा लिये लड़ने के लिये उद्यत, यहाँ पर विविध धातुओं से शोभित पर्वत की तरह, अचल अटल खड़ा हुआ हूँ ॥ २१ ॥

पर्यासोऽहं गदापाभिर्हन्तुं प्राणान्रणे तव ।

त्रयाणामपि लोकानां पाशहस्त इवान्तकः ॥ २२ ॥

मैं इस अपने हाथ की गदा से पाशधारी यमराज की तरह युद्ध में केवल तेरा ही नहीं, प्रत्युत तीनों लोकों का संहार कर सकता हूँ ॥ २२ ॥

कामं बहपि वक्तव्यं त्वयि वक्ष्यामि न त्वहम् ।

अस्तं गच्छेद्धि सविता युद्धविघ्नस्ततो भवेत् ॥ २३ ॥

^१ कुशाभिना—स्वजोदिशोधनाभिना । (रा०) यद्वा दर्भमाश्रितेनाभिना । (गो०)

तेरी इस आत्मश्लाघा के उत्तर में यद्यपि मैं बहुत कुछ कह सकता हूँ, तथापि मैं तुझसे अब और कुछ कहना नहीं चाहता— क्योंकि (कहने सुनने में व्यर्थ समय निकला जाता है और) यदि सूर्यस्ति हो गया तो युद्ध में विघ्न पड़ेगा ॥ २३ ॥

चतुर्दश सहस्राणि राक्षसानां हतानि ते ।

त्वद्विनाशात्करोम्येष तेषामास्त्रप्रमार्जनम् ॥ २४ ॥

तूने जो चौदह हज़ार राक्षसों को मारा है, सो अब मैं तुझे मार कर, उनकी विधवा लियें और अनाथ बच्चों के आसू पोछूँगा ॥ २४ ॥

इत्युक्त्वा परमक्रुद्धस्तां गदां परमाङ्गदः^१ ।

खरश्चिक्षेष परामाय प्रदीप्तामशनिं यथा ॥ २५ ॥

यह कह कर, खर ने अत्यन्त कुपित हो, सुवर्ण के बंदों से बँधी हुई, इन्द्र के वज्र के समान, देवीप्यमान गदा, श्रोराम के ऊपर फेंकी ॥ २५ ॥

खरबाहुप्रमुक्ता सा प्रदीप्ता यहती गदा ।

भस्म वृक्षांश्च गुल्मांश्च कृत्वागात्तस्मीपतः ॥ २६ ॥

खर की फैंकी हुई वह चमचमाती बड़ी भारी गदा, अगल बगल के वृक्षों और लता गुलमों को भस्म करती हुई, श्रीरामचन्द्र जी के पास आ पहुँची ॥ २६ ॥

तामापतन्तीं ज्वलितां मृत्युपाशोपमां गदाम् ।

अन्तरिक्षगतां रामश्चिच्छेद बहुधा शरैः ॥ २७ ॥

१ परमाङ्गदः—कनकवलयानि यस्यास्तांप्रसिद्धांहस्तस्थागिदां । (रा०)

तब श्रीरामचन्द्र जी ने उस चमचमाती और मृत्युगाश के समान गदा के, आकाश ही में मारं बाणों के टुकड़े टुकड़े कर डाले ॥ २७ ॥

सा विकीर्णा शरैर्भग्ना पपात धरणीतले ।

गदा मन्त्रौषधबलैव्यालीव विनिपातिता ॥ २८ ॥

इति एकोनत्रिशः सर्गः ॥

बाणों से चूर चूर हो कर, वह पृथिवी पर बैसे ही गिर पड़ो, जैसे मंत्र और ओषधि के प्रभाव से नागिन गिर पड़ती है ॥ २८ ॥

अरण्यकाण्ड का उन्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—;*;—

त्रिशः सर्गः

—;*;—

भित्त्वा तु तां गदां बाणै राघवो धर्मवत्सलः ।

स्मयमानः^१ खरं वाक्यं संरब्धमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्र जी उस गदा को बाणों से नष्ट कर, उपहास करते हुए उस घबड़ाये हुए खर से यह बोले ॥ १ ॥

[नोट—“धर्मवत्सल” विशेषण श्रीरामचन्द्र जी के लिये इस लिये यहाँ दिया गया है कि, श्रीरामचन्द्र जी “निरायुध” शत्रु का वध करना धर्मविद्ध समझते हैं ।]

एतत्ते बलसर्वस्वं दर्शितं राक्षसाधम ।

शक्तिहीनतरो मत्तो वृथा त्वमवगर्जसि ॥ २ ॥

^१ स्मयमानः—परिहसज्ञित्यर्थः । (गो०) संरब्धं—आत्ममितिष्ठरविशेषण, “संरभः सम्भवे कोपे” इत्यमरः । (गो०)

हे राज्ञसाधम ! (क्या) तेरा सब बल इतना ही था, जो तूने अभी दिखलाया । (किन्तु आश्चर्य है कि,) मुझसे बल में न्यून होने पर भी, मतवाले की तरह तू वृथा ही डींग मारता है ॥ २ ॥

एषा बाणाविनिर्भिन्ना गदा भूमितलं गता ।

अभिधान^१प्रगल्भस्य^२ तव प्रत्यरिघातिनी^३ ॥ ३ ॥

बढ़ बढ़ कर बातें मारने वाले, तुझ ढीठ की, शत्रुनाशिनी यह गदा, मेर बाणों से चूर हो, पृथिवी पर पड़ी है ॥ ३ ॥

यत्त्वयोक्तं विनष्टानामहमास्प्रमार्जनम् ।

राक्षसानां करोमीति मिथ्या तदपि ते वचः ॥ ४ ॥

तूने जो कहा था कि, “मैं मरे हुए राज्ञसों की विधवाओं और अनाथ बच्चों के आँसू पेंछूँगा” से तेरी वह बात भी मूठी हो गयी ॥ ४ ॥

नीचस्य क्षुद्रशीलस्य मिथ्यावृत्तस्य रक्षसः ।

प्राणानपहरिष्यामि गरुत्मानमृतं यथा ॥ ५ ॥

जिस प्रकार गरुड जी ने अमृत को हरा था, उसी प्रकार मैं भी नीच, ओक्ते स्वभाव वाले, मूठा व्यवहार करने वाले, तुझ राज्ञस के प्राण (अभी) हरता हूँ ॥ ५ ॥

अद्य ते च्छिन्नकण्ठस्य फेनबुद्बुदभूषितम् ।

विदारितस्य मद्वारणैर्मही पास्यति शोणितम् ॥ ६ ॥

मेरे बाणों से विदारित हो, जब तेरा सिर कट जायगा, तब तेरे गले के भाग सहित रक्त को पृथिवी आज पान करेगी ॥ ६ ॥

१ अभिधान—वचसि । (गो०) २ प्रगल्भस्य — घृष्णस्य । (गो०)

३ प्रत्यरिघातिनी—भरीनरीन् प्रतिघातिनी गदा । (गो०)

पांसुरुषितसर्वाङ्गः स्स्तन्यस्तभुजद्वयः ।

स्वप्स्यसे गां समालिङ्ग्य दुर्लभां प्रमदामिव ॥ ७ ॥

अभी तू धूल धूसरित हो और अपनी दोनों भुजाओं को फैला कर, भूमि को वैसे ही आलिङ्गन किये हुए सेवेगा, जैसे कोई कामो पुरुष किसी दुर्लभ स्त्री को आलिङ्गन कर के सेता है ॥ ७ ॥

प्रवृद्धनिद्रे^१ शयिते त्वति राक्षसपांसने ।

भविष्यन्त्यशरण्यानां^२ शरण्याऽ दण्डका इमे ॥ ८ ॥

अरे राक्षसाधम ! जब तू दीर्घ निद्रा में सो जायगा, (अर्थात् मर जायेगा) तब अरक्षित ऋषियों के लिये यह दण्डकवन, सुख से रहने योग्य स्थान हैं जायगा ॥ ८ ॥

जनस्थाने हतस्थाने^३ तव राक्षस मच्छैरः ।

निर्भया विचरिष्यन्ति सर्वतो मुनयो वने ॥ ९ ॥

जब मेरे बाणों से यह जनस्थान राक्षसशून्य हो जायगा, तब मुनि लोग इस वन में निर्भय हो, सर्वत्र आ जा सकेंगे ॥ ९ ॥

अद्य विप्रसरिष्यन्ति राक्षसयो हतवान्धवाः ।

बाष्पाद्रवदना दीना भयादन्यभयावहाः ॥ १० ॥

दूसरों को भयभीत करने वाली राक्षसियां, अपने सम्बन्धियों के मारे जाने के कारण, दीनभाव से रोती हुई और भयभीत हो, आज यहाँ से भाग जायगी ॥ १० ॥

१ प्रवृद्धनिद्रे—दीर्घनिद्रे । (गो०) २ अशरण्यानां—ऋग्यादीनामग तीनां । (गो०) ३ शरण्याः—सुखावासभूताः (गो०) ४ हतं निवृतं । स्थानं—राक्षसस्थितिर्यस्मात् । (शि०)

अद्य शोकरसज्जास्ता भविष्यन्ति निरथकाः ।

अनुरूपकुलाः पत्न्यो यासां त्वं पतिरीद्वशः ॥ ११ ॥

जिन राक्षसियों के तुम जैसे दुराचारी पति हैं, वे अपने कुल के अनुरूप दुराचारिणी राक्षसियाँ, आज शोकरस का आस्वादन कर, हीनवीर्य हो जायेंगी । अर्थात् अब वे उपद्रव न करेंगी ॥ ११ ॥

नृशंस नीच क्षुद्रात्मनित्यं ब्राह्मणकण्टक ।

यत्कृते शङ्खितैरग्नौ मुनिभिः पात्यते हविः ॥ १२ ॥

रे निष्ठुर ! रे नीच ! रे ज्ञुद्र बुद्धि वाले ! अरे ब्राह्मणों को सदा सताने वाले ! तुम जैसे लोगों के ढर ही से मुनि लोग निःशङ्ख हो हवन नहीं करने पाते ॥ १२ ॥

तमेवमभिसंरब्धं^१ ब्रुवाणं राघवं रणे ।

खरो निर्भत्सर्यामास रोषात्स्वरतरस्वनः ॥ १३ ॥

जब कुपित हो श्रीरामचन्द्र जी ने खर से ऐसे वचन कहे ; तब खर भी कोध में भर, उच्चस्वर से श्रीरामचन्द्र जी को दुर्वादिक कहता हुआ बोला ॥ १३ ॥

दृढं^२ खल्ववलिसोसि^३ भयेष्वपि च निर्भयः ।

वाच्यावाच्यं ततो हि त्वं मृत्युवश्यो न बुध्यसे ॥ १४ ॥

निश्चय ही तू बड़ा धमंडी है । इसीसे तू भय रहने पर भी निर्भयसा जान पड़ता है । तेरी मृत्यु निकट है । इसीसे तू बोलते समय यह नहीं समझ सकता कि, क्या कहना चाहिये और क्या नहीं ॥ १४ ॥

१ तमेवमभिसंरब्ध—एवंवचोब्रुवाणम् । (शि०) २ दृढं—निश्चितं । (गो०) ३ भवलिसोसि—गर्वितोसि । (गो०)

कालपाशपरिक्षिप्ता भवन्ति पुरुषा हि ये ।

कार्यकार्यं न जानन्ति ते निरस्तष्टिन्द्रियाः ॥ १५ ॥

जो क्लांग शीघ्र मरने वाले होते हैं, उनकी अन्तःकरणादि छःओं हन्द्रियों की शक्ति नष्ट हो जाती है। इसीसे उनको करने अनकरने कामों का ज्ञान नहीं रहता ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा ततो रामं संरुद्ध्य भ्रुकुटीं ततः ।

स ददर्श महासालमविदूरे निशाचरः ॥ १६ ॥

श्रीरामचन्द्रजी से इस प्रकार कह और भोंहें सकोड़, खर ने पास ही साल का एक बहुत बड़ा वृक्ष देखा ॥ १६ ॥

रणे प्रहणस्यार्थे सर्वतो ख्वलोकयन् ।

स तमुत्पाट्यामास संदश्य दशनच्छदम् ॥ १७ ॥

उसने युद्ध करने के लिये शख्स की खोज में अपने चारों ओर निगाह डाली, (किन्तु जब उसे अन्य कोई शख्स अपने योग्य न देख पड़ा, तब) उसने किचकिचा कर उस वृक्ष को उखाड़ा ॥ १७ ॥

तं समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां विनद्य च महाबलः ।

राममुद्दिश्य चिक्षेप हतस्त्वमिति चाब्रवीत् ॥ १८ ॥

और दोर गर्जना कर, दोनों भुजाओं से उस वृक्ष को, श्रीराम-चन्द्र जी को लक्ष्य कर और यह कह कर कि, “बस अब तुम मारे गये” फेंका ॥ १८ ॥

तमापतन्तं बाणौधैश्छित्त्वा रामः प्रतापवान् ।

रोषमाहारयत्तीत्रं निहन्तुं समरे खरम् ॥ १९ ॥

प्रतापी श्रीरामचन्द्र जी ने उस साल बृहत् को अपनी ओर आते देख, बाण मार कर उसके खण्ड खण्ड कर डाले और क्रोध में भर खर को मार डालने के लिये तीव्र बाण निकाले ॥ १६ ॥

जातस्वेदस्ततो रामो रोषाद्रक्तान्तलोचनः ।

निर्विभेदं सहस्रेण बाणानां समरे खरम् ॥ २० ॥

उस समय मारे क्रोध के श्रीराम जी का शरीर पसीने से तर और उनके नेत्र खून की तरह लाल, हो गये। उन्होंने एक हजार बाण खर के मारे ॥ २० ॥

तस्य बाणान्तराऽद्रक्तं बहु सुस्थाव फेनिलम् ।

गिरेः प्रस्त्रवणस्येव तोयधारापरिस्त्रवः ॥ २१ ॥

उन बाणों के धावों में से फेनयुक्त रक्त की धारें उसी प्रकार बहने लगीं, जिस प्रकार पहाड़ी झरनों से पानी की धारें बहती हैं ॥ २१ ॥

विहलः स कृतो बाणैः खरो रामेण संयुगे ।

मत्तो रुधिरगन्धेन तमेवाभ्यद्रवद्गुतम् ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्रजी ने खर को उस युद्ध में, बाणों के आघात से व्याकुल कर दिया। तब तो वह (अपने शरीर से निकलते हुए) रक्त की गन्ध से मतवाला हो, बड़े वेग से श्रीरामचन्द्र जी की ओर झपटा ॥ २२ ॥

तमापतन्तं संरब्धं^४ कृताख्तो रुधिराप्लुतम् ।

अपासर्पत्प्रतिपदं^५ किञ्चित्त्वरितविक्रमः ॥ २३ ॥

१ बाणान्तरात्—बाणक्षतविवरात् । (गो०) २ फेनिलं—फेनष्ट् । (गो०)
३ परिस्त्रवः—प्रवाहः । (गो०) ४ संरब्धं—सम्भ्रान्तं । (गो०) ५ प्रतिपदं—
अख मोचनप्रतिकूलं । (गो०)

खर को, कुद्ध और खून में डूबा हुआ अपनी ओर आते देख,
और उस पर अख छोड़ने की घात न पा, श्रीरामचन्द्र जी तुरन्त
कुछ पीछे हट गये ॥ २३ ॥

[नेट—‘श्रीरामचन्द्र जी का दो चार पग पोछे हटना खर के भय से
नहीं, किन्तु अख चलाने के लिये पर्याप्त अन्तर प्राप्त करने के लिये था।]

ततः पावकसङ्काशं वधाय समरे शरम् ।

खरस्य रामो जग्राह ब्रह्मदण्डमिवापरम् ॥ २४ ॥

युद्ध में खर का वध करने के लिये श्रीरामचन्द्र जी ने दूसरे
ब्रह्मदण्ड के समान और अग्नि तुल्य बाण (अपने तरकस से)
निकाला ॥ २४ ॥

स तं दत्तं मघवता सुरराजेन धीमता ।

सन्दधे चापि धर्मात्मा मुमोच च खरं प्रति ॥ २५ ॥

यह बाण अगस्त्य जी को धीमान् इन्द्र ने दिया था, (और
अगस्त्य से श्रीरामचन्द्र जी को मिला था,) धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी
ने वही बाण धनुष पर रख, खर के ऊपर छोड़ा ॥ २५ ॥

स विमुक्तो महाबाणो निर्धातसमनिस्वनः ।

रामेण धनुरायम्य खरस्योरसि चापतत् ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने धनुष को तान कर जब बाण छोड़ा, तब वह
बाण बज्र के समान महानाद करता हुआ खर की ढाती में जा कर
लगा ॥ २६ ॥

स पपात खरो भूमौ दहयमानः शरामिना ।

रुद्रेणोव विनिर्दर्गधः श्वेतारण्ये यथान्तकः ॥ २७ ॥

उस बाण से निकले अग्नि से खर दग्ध हो कर, पृथिवी पर वैसे
ही गिर पड़ा, जैसे श्वेतारण्य में रुद्र ने अपने तृतीय नेत्र के अग्नि
से अन्तकासुर को दग्ध कर, गिराया था ॥ २७ ॥

[नोट—कूर्मपुराण के दत्तरस्थण्ड के इह वें अध्याय में लिखा है कि, परमशैव श्वेत नाम के एक राजर्षि कालअर पर्वत पर जब तप कर रहे थे; तब अन्तकासुर ने उन्हें मार डालने के लिये, उन पर भाकमण किया। उस समय भक्तवत्सल शिव जीने अपने बांए पैर के आवात से अन्तकासुर को मार डाला था। (१०)]

स वृत्र इव वज्रेण फंनेन नमुचिर्यथा ।

वलो वेन्द्राशनिहतो निपपात हतः खरः ॥ २८ ॥

जैसे वज्र से वृत्तासुर, फेन से नमुचि, और इन्द्र के वज्र से बलि मारे गये, वैसे ही खर भी श्रीरामचन्द्र जी के बाण से मर कर पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ २८ ॥

ततो राजर्षयः सर्वे सङ्घताः परमर्षयः^१ ।

सभाज्य^२ मुदिता राममिदं वचनमब्रुवन् ॥ २९ ॥

तब सब राजर्षि और ब्रह्मर्षि एकत्र हो और प्रसन्न हो, श्रीरामचन्द्र जी के पास गये और उनका पूजन कर, उनसे यह बोले ॥ २९ ॥

एतदर्थं महाभाग* महेन्द्रः पाकशासनः ।

शरभङ्गाश्रमं पुण्यमाजगाम पुरन्दरः ॥ ३० ॥

इसी उद्देश्य से पाकशासन महेन्द्र शरभङ्ग जी के पुण्याश्रम में आये थे ॥ ३० ॥

आनीतस्त्वमिमं देशमुपायेन महर्षिभिः ।

एषां वधार्थं क्रूराणां रक्षसां पापकर्मणाम् ॥ ३१ ॥

और इन क्रूरकर्मी पापी राक्षसों के वध के लिये ही यत्पूर्वक महर्षिगण आपको यहाँ लाये थे ॥ ३१ ॥

१ परमर्षयः—ब्रह्मर्षयः । (गो०) २ सभाज्य—सम्पूज्य । (गो०)

पाठान्तरे—‘महातेजा’ ।

तदिदं नः कृतं कार्यं त्वया दशरथात्मज ।

सुखं धर्मं चरिष्यन्ति दण्डकेषु महर्षयः ॥ ॥ ३२ ॥

हे दशरथात्मज ! सो हमारा यह काम आपने कर दिया । अब इस दण्डकवन में महर्षि लोग सुख से धर्मानुष्ठान किया करेंगे ॥ ३२ ॥

एतस्मिन्नन्तरे देवाश्चारणैः सह सङ्गताः ।

दुन्दुभीश्चाभिनिघ्नन्तः पुष्पवर्षं समन्ततः ॥ ३३ ॥

इतने ही में देवता लोग चारणों को साथ लिये हुए आये और उन लोगों ने नगाढ़े बजा कर चारों ओर फूलों की वर्षा की ॥ ३३ ॥

रामस्योपरि संहृष्टा वृष्टुर्विस्मितास्तदा ।

अर्धाधिकमूहूर्तेन^१ रामेण निशितैः शरैः ॥ ३४ ॥

फिर हर्षित हो और श्रीरामचन्द्र जी के ऊपर पुष्पों की वृष्टि कर, वे विस्मित हुए कि, तीन ही घड़ी में आपने पैने बाणों से ॥ ३४ ॥

चतुर्दशसहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।

खरदूषणमुख्यानां निहतानि महाहवे ॥ ३५ ॥

उस महायुद्ध में खर दूषणादि मुख्य राक्षसों के सहित, श्रीरामचन्द्र ने घोर कर्म करने वाले १४ हज़ार राक्षसों को (कैसे) मार डाला ॥ ३५ ॥

अहो बत महत्कर्म रामस्य विदितात्मनः ।

अहो वीर्यमहो दाक्ष्यं^२ विष्णोरिव हि दृश्यते ॥ ३६ ॥

^१ अर्धाधिक मूहूर्तेन—घटिकान्वयेण । (गो०) ^२ दाक्ष्यं—सर्वसंहारचातुर्यं ।

विदितात्मा श्रीरामचन्द्र का यह कर्म बड़ा भारी है। आहा इनका यह पराक्रम और सर्व-संहार-चातुर्य विष्णु के तुल्य देख पड़ता है ॥ ३६ ॥

इत्येवमुक्त्वा ते सर्वे ययुर्देवा यथागतम् ।

एतस्मिन्नन्तरे^१ वीरो लक्ष्मणः सह सीतया ॥ ३७ ॥

यह कह कर, वे सब देवता जहाँ से आये थे, वहाँ लौट कर चले गये। इसी बीच में शूरवीर लक्ष्मण, सीता जी को साथ लिये हुए ॥ ३७ ॥

गिरिदुर्गाद्विनिष्कम्य संविवेशाश्रमं सुखी^२ ।

ततो रामस्तु विजयी पूज्यमानो महर्षिभिः ॥ ३८ ॥

गिरिगुहा से निकल कर और श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम से प्रसन्न होते हुए आश्रम में पहुँचे। तदनन्तर विजयी श्रीरामचन्द्र जी की महर्षियों ने पूजा की ॥ ३८ ॥

प्रविवेशाश्रमं वीरो लक्ष्मणेनाभिपूजितः ।

तं दृष्टा शत्रुहन्तारं महर्षीणां सुखावहम् ॥ ३९ ॥

फिर लक्ष्मण जी से पूजित हो, वीरवर श्रीरामचन्द्र जी ने आश्रम में प्रवेश किया। शत्रुहन्ता एवं महर्षियों को आनन्द देने वाले श्रीरामचन्द्र जी को देख ॥ ३९ ॥

बभूव हृष्टा वैदेही भर्तारं परिषस्वजे ।

मुदा परमया युक्ता दृष्टा रक्षोगणान्हतान् ।

रामं चैवाव्यथं दृष्टा तुतोष जनकात्मजा ॥ ४० ॥

१ अन्तरे—अवसरे। (गो०) २ सुखी—रामपराक्रमदर्शनजन्यसन्तोषवान्। (गो०)

जनकनन्दिनी सीता जी प्रसन्न हुईं और राक्षसों को मरा हुआ देख, जानकी जी ने परम सुख माना। फिर श्रीरामचन्द्र जी को विथा रहित अथवा निरापद देख, जानकी जी सन्तुष्ट हुईं ॥ ४० ॥

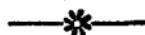
ततस्तु तं राक्षससङ्घमर्दनं
सभाज्यमानं मुदितैर्महर्षिभिः ।

पुनः परिप्वज्य शशिप्रभानना
बभूव हृष्टा जनकात्मजा तदा ॥ ४१ ॥

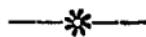
इति त्रिंशः सर्गः ॥

राक्षस समूह को मर्दन करनेवाले और प्रसन्नचित्त महर्षियों द्वारा पूजित श्रीरामचन्द्र को देख, चन्द्रवदनी जनकनन्दिनी सीता प्रसन्न हुईं और पुनः श्रीरामचन्द्र जी को गले लगाया ॥ ४१ ॥

अरण्यकाशद का तीसवां सर्ग पूरा हुआ ।



एकत्रिंशः सर्गः



त्वरमाणस्ततो गत्वा जनस्थानादकम्पनः ।

प्रविश्य लङ्घा वेगेन रावणं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

तदनन्तर अकम्पन नामक राक्षस शीघ्रता पूर्वक जनस्थान से लङ्घा को गया और वहाँ जा कर, रावण से बोला ॥ १ ॥

जनस्थानस्थिता राजनराक्षसा बहवो हताः ।

खरश्च निहतः संख्ये कथञ्चिदहमागतः ॥ २ ॥

१ कथाइचिदिति – चीवेषधारणेनेति भावः । (गो०)

हे राजन् ! जनस्थान में रहने वाले खर समेत बहुत से राक्षस युद्ध में मारे गये । मैं किसी तरह जीता जागता यहाँ आया हूँ ॥ २ ॥

[नोट—भूषणटीकाकार ने “किसी तरह” का भाव यह दर्शाया है कि, अकम्पन् स्त्रीवेद धारण कर भागा था ।]

एवमुक्तो दशग्रीवः क्रुद्धः संरक्तलोचनः ।

अकम्पनमुवाचेदं निर्दृहन्निव चक्षुषा ॥ ३ ॥

अकम्पन के ये वचन सुन, रावण के नेत्र क्रोध के मारे लाल हो गये और वह अकम्पन से त्योरी चढ़ा ऐसे बोला, मानों उसे नेत्राग्नि से भस्म ही कर देगा ॥ ३ ॥

केन रम्यं जनस्थानं हतं भम परासुना^१ ।

को हि सर्वेषु लोकेषु गतिं^२ चाधिगमिष्यति ॥ ४ ॥

किस गतायु ने मेरे उस रमणीय जनस्थान को ध्वंस कर दिया ! किसकी यह इच्छा हुई है कि, वह त्रिलोकी में न रहने पावे ॥ ४ ॥

न हि मे विप्रियं कृत्वा शक्यं मघवता सुखम् ।

प्राप्तुं वैश्रवणेनापि न यमेन न विष्णुना ॥ ५ ॥

मुझे चिढ़ा कर, इन्द्र, यम, कुवेर और विष्णु भी सुख से नहीं रह सकते ॥ ५ ॥

कालस्य चाप्यहं कालो दहेयमपि पावकम् ।

मृत्युं मरणधर्मेण संयोजयितुमुत्सहे ॥ ६ ॥

क्योंकि मैं काल का भी काल हूँ और अग्नि को भी भस्म कर सकता हूँ । अधिक क्या मैं मृत्यु को भी मरणशील बना सकता हूँ ॥ ६ ॥

दहेयमपि संक्रुद्धस्तेजसाऽऽदित्यपावकौ ।

वातस्य तरसा वेगं निहन्तुमहमुत्सहे ॥ ७ ॥

१ परासुना—परागत प्राणेन । (विं०) २ गति—स्थिति । (गो०)

कुद्ध होने पर, मैं अपने तेज से अग्नि और सूर्य को भी दग्ध कर सकता हूँ और अपने वेग से वायु का वेग नष्ट कर सकता हूँ ॥ ७ ॥

तथा क्रुद्धं दशग्रीवं कृताञ्जलिरकम्पनः ।

भयात्सन्दिग्धया^१ वाचा रावणं याचते^२ अभयम् ॥ ८ ॥

रावण को इस प्रकार क्रुद्ध देख, अकम्पन बहुत डरा और हाथ जोड़ अस्पष्ट अक्षरों से युक्त शब्दों में, अर्थात् लड़खड़ाती ज़्वान से उसने अभयदान माँगा ॥ ८ ॥

दशग्रीवोऽभयं तस्मै प्रददौ रक्षसांवरः ।

स विश्रवधोऽब्रवीद्वाक्यमसन्दिग्धमकम्पनः ॥ ९ ॥

तब राक्षसश्रेष्ठ रावण ने अकम्पन को अभय प्रदान किया । तब रावण के अभयदान पर विश्वास कर, अकम्पन ने साफ साफ समस्त वृत्तान्त कहा ॥ ९ ॥

पुत्रो दशरथस्यास्ति सिंहसंहननो युवा ।

रामो नाम वृषस्कन्धो वृत्तायतमहाभुजः ॥ १० ॥

वीरः पृथुयशाः श्रीमानतुल्यवलविक्रमः ।

हतं तेन जनस्थानं खरश्च सहदूषणः ॥ ११ ॥

सिंह के समान सुन्दर शरीरावयव वाले, युवावस्था को प्राप्त, ऊँचे कन्धों वाले, गोल पवं लंबी भुजाओं वाले, वीर, महायशस्वी, सुखरूप, और अतुलित बल पराक्रम वाले श्रीरामचन्द्र ने, जो महाराज दशरथ के पुत्र हैं, जनस्थान में आ कर, खर और दूषण को मारा है ॥ १० ॥ ११ ॥

१ सन्दिग्धया—सन्दिग्धाक्षरया । (गो०) २ याचते—अयाचत । (गो०)

अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो राक्षसाधिपः ।

नागेन्द्र^१ इव निःश्वस्य वचनं चेदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

राज्ञससेश्वर रावण, अकम्पन के वचन सुन, सपेंद्र की तरह फुफकार छोड़ता हुआ बोला ॥ १२ ॥

स सुरेन्द्रेण संयुक्तो रामः सर्वामरैः सह ।

उपयातो जनस्थानं ब्रूहि कच्चिदकम्पन ॥ १३ ॥

हे अकम्पन ! तू यह तो बतला कि, क्या वह राम देवराज इन्द्र और सब देवताओं को साथ ले, जनस्थान में आया है ? ॥ १३ ॥

रावणस्य पुनर्वाक्यं निशम्य तदकम्पनः ।

आचचक्षे बलं तस्य विक्रमं च महात्मनः ॥ १४ ॥

रावण के इस प्रश्न के उत्तर में अकम्पन रावण से श्रीरामचन्द्र जी के बल विक्रम का बखान करता हुआ, पुनः बोला ॥ १४ ॥

रामो नाम महातेजाः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ।

दिव्यास्त्रगुणसम्पन्नः पुरन्दरसमो युधि ॥ १५ ॥

हे रावण ! श्रीरामचन्द्र बड़ा तेजस्वी और धनुषधारियों में श्रेष्ठ है । युद्ध में दिव्यास्त्रों के चलाने में उसकी इन्द्र को तरह सामर्थ्य है ॥ १५ ॥

तस्यानुरूपो बलवानरक्ताक्षो दुन्दुभिस्वनः ।

कनीयाँलक्ष्मणो नाम भ्राता शशिनिभाननः ॥ १६ ॥

चन्द्रमा के समान मुख वाला उसका छोटा भाई लक्ष्मण है । वह राम के समान बली है । उसके बोलने का शब्द नगाड़े के शब्द की तरह गम्भीर है और उसके दोनों नेत्र लाल रंग के हैं ॥ १६ ॥

१ नागेन्द्र—सपेंद्र । (गो०)

स तेन सह संयुक्तः पावकेनानिलो यथा ।

श्रीमानराजवरस्तेन जनस्थानं निपातितम् ॥ १७ ॥

जैसे पवन की सहायता से अग्नि वन को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार श्रीमान् राजश्रेष्ठ राम ने अपने भाई के साथ जनस्थान को उजाड़ा है ॥ १७ ॥

नैव देवा महात्मानो नात्र कार्या विचारणा ।

शरा रामेण तृत्सृष्टा रुक्मपुद्धाः पतत्रिणः ॥ १८ ॥

राम की सहायता को महानुभाव देवता नहीं आये थे । इस विषय में आप और कुछ सोच विचार न करें । क्योंकि श्रीरामचन्द्र ने उस युद्ध में सुवर्ण पुंख युक्त ऐसे बाण छोड़े थे ॥ १८ ॥

सर्पाः पञ्चाननाः^१ भूत्वा भक्षयन्ति स्म राक्षसान् ।

येन येन च गच्छन्ति राक्षसा भयकर्षिताः^२ ॥ १९ ॥

तेन तेन स्म पश्यन्ति राममेवाग्रतः स्थितम् ।

इत्थं विनाशितं तेन जनस्थानं तवानघ ॥ २० ॥

जो सर्प वन और मुँह फाड़ राक्षसों को खा गये । उन बाणों से भयभीत हो, राक्षस लोग जब भागते, तब जहाँ जहाँ वे जाते वहाँ वहाँ वे श्रीराम को सामने खड़ा पाते थे । हे अनघ ! इस प्रकार राम ने तुम्हारा जनस्थान घस्त किया ॥ १९ ॥ २० ॥

अकम्पनवचः श्रुत्वा रावणो वाक्यमब्रवीत् ।

जनस्थानं गमिष्यामि हन्तुं रामं सलक्ष्मणम् ॥ २१ ॥

अकम्पन का वचन सुन, रावण बोला—मैं राम और लक्ष्मण को मारने के लिये जनस्थान जाऊँगा ॥ २१ ॥

^१ पञ्चाननाः—विस्तृताननाः (गो०) ^२ भयकर्षिताः—भयपीडिताः । (गो०)

अथैवमुक्ते वचने प्रोवाचेदमकम्पनः ।

शृणु राजन्यथावृत्तं रामस्य बलपौरुषम् ॥ २२ ॥

रावण की यह बात सुन, अकम्पन बोला—हे राजन् ! श्रीरामचन्द्र जैसे चरित्रवान्, बली, और पुरुषार्थी हैं, सो मैं कहता हूँ; आप उसे सुनिये ॥ २२ ॥

असाध्यः^१ कुपितो रामो विक्रमेण महायशाः ।

आपगायाः सुपूर्णाया वेगं परिहरेच्छरैः ॥ २३ ॥

महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जब कुछ हों तब किसी में ऐसी शक्ति नहीं, जो पराक्रम से उनको जीत सके। वे बाणविद्या में ऐसे पद्धु हैं कि, जल से लबालब भरी नदी के प्रवाह के वेग को, वे अपने बाणों से रोक सकते हैं ॥ २३ ॥

सतारग्रहनक्षत्रं नभश्चाप्यवसादयेत्^२ ।

असौ रामस्तु मज्जन्तीं श्रीमानभ्युद्धरेन्महीम् ॥ २४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी तरैयों, नवग्रह, और सत्ताहसों नक्षत्रों सहित आकाशमण्डल को खण्ड खण्ड कर सकते हैं। इबती हुई पृथिवी को भी श्रीमान् रामचन्द्र उवार सकते हैं ॥ २४ ॥

भिञ्च्वा वेलां समुद्रस्य लोकानाप्नावयेद्विभुः ।

वेगं वाऽपि समुद्रस्य वायुं वा विधमेऽच्छरैः ॥ २५ ॥

और यदि वे चाहें तो समुद्र की वेलाभूमि (तट की भूमि) को तोड़ कर, सारे संसार को जलमग्न कर सकते हैं। (इसी प्रकार) वे समुद्र अथवा पवन का वेग अपने बाणों से रोक सकते हैं ॥ २५ ॥

^१ असाध्यः—अनिप्राप्तः । (गो०) ^२ अवसादयेत्—विशीणुकुर्यात् । (गो०)

३ विघ्नमेत्—दहेत् । (गो०)

संहृत्य वा पुनर्लोकान्विक्रमेण महायशाः ।

शक्तः स पुरुषव्याघ्रः सृष्टं पुनरपि प्रजाः ॥ २६ ॥

पुरुषश्रेष्ठ एवं महायशस्वी श्रीरामचन्द्र जी अपने पराक्रम से समस्त लोकों का संहार कर, फिर नयी सृष्टि रच सकते हैं ॥ २६ ॥

न हि रामो दशग्रीव शक्यो जेतुं त्वया युधि ।

रक्षसां वाऽपि लोकेन स्वर्गः पापजनैरिव ॥ २७ ॥

हे दशग्रीव! तुम या तुम्हारे राज्ञस युद्ध में राम को परास्त नहीं कर सकते । जैसे पापी लोग स्वर्ग नहीं पा सकते ॥ २७ ॥

न तं वध्यमहं मन्ये सर्वैर्देवासुरैरपि ।

अयं तस्य वधोपायस्तं १मैकमनाः२ शृणु ॥ २८ ॥

मेरी जान में तो सब देवता और असुर मिल कर भी उन्हें नहीं मार सकते । किन्तु उनके मारने का मैं उपाय बतलाता हूँ, उसे ध्यान दे कर, सुनिये ॥ २८ ॥

भार्या तस्योत्तमा लोके सीता नाम सुमध्यमा३ ।

इयामा४ समविभक्ताङ्गी स्त्रीरत्नं५ रत्नभूषिता ॥ २९ ॥

उनके साथ उनकी भार्या सीता है । वह संसार की समस्त खियों से चढ़ बढ़ कर है । उसकी पतली कमर है और उसके शरीर के आन्य सब अँग भी सुन्दर और सुडौल हैं । इस समय उसकी चढ़ती हुई जवानी है । वह खियों में श्रेष्ठ और रत्न जटित भूषणों से भूषित है ॥ २९ ॥

१ मम—मत्तः (गो०) २ एकमनाः—सावधानाः (गो०) ३ सुमध्यमा—
शोभन कटि विशिष्टं । (शि०) ४ इयामा—यावनमध्यस्था । (गो०) ५ स्त्रीरत्नं—
स्त्रीश्रेष्ठा । (गो०)

नैव देवी^१ न गन्धर्वी नाप्सरा नाऽपि दानवी ।
तुल्या सीमन्तिनी^२ तस्या मानुषीषु कुतो भवेत् ॥ ३० ॥

सौन्दर्य में उनकी खी का सामना न तो किसी देवता की कोई खी, न किसी गन्धर्व की कोई खी, न कोई अप्सरा और न किसी दानव की खी कर सकती है। फिर भला मनुष्य की खी तो उसके सौन्दर्य के समान हो ही कैसे सकती है ॥ ३० ॥

तस्यापहर भार्या त्वं प्रमथ्य तु महावने ।

सीतया रहितः कामी रामो हास्यति जीवितम् ॥ ३१ ॥

सो तुम उस महावन में जा, जैसे बने वैसे छलबल से रामचन्द्र की भार्या को हर लाओ। सीता रहित हो, रामचन्द्र जो कामी हैं, अपने प्राण (आप) छोड़ देंगे ॥ ३१ ॥

अरोचयत तद्वाक्यं रावणो राक्षसाधिपः ।

चिन्तयित्वा महावाहुरकम्पनमुवाच ह ॥ ३२ ॥

महावाहु राजसेश्वर रावण को अकम्पन का बतलाया हुआ यह उपाय पसंद आया, वह सोच विचार कर अकम्पन से बोला ॥ ३२ ॥

बाढं कालयं गमिष्यामि हेयकः सारथिना सह ।

आनयिष्यामि वैदेहीमिमां हृष्टो महापुरीम् ॥ ३३ ॥

बहुत अच्छा ! कल मैं अकेला सारथी को अपने साथ ले कर, जाऊँगा और जानकी को हर्षित हो, इस लड़ापुरी में ले आऊँगा ॥ ३३ ॥

१ देवी—देवती । (गो०) २ सीमन्तिनी—खी । (गो०)

अथैवमुक्त्वा प्रययौ खरयुक्तेन रावणः ।

रथेनादित्यवर्णेन दिशः सर्वा प्रकाशयन् ॥ ३४ ॥

दूसरे दिन रावण सूर्य के समान चमकते हुए रथ पर, जिसमें खचर जुते हुए थे, सबार हो, सब दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ, चला ॥ ३४ ॥

स रथो राक्षसेन्द्रस्य नक्ष त्रपथगो महान् ।

सञ्चार्यमाणः शुशुभे जलदे चन्द्रमा इव ॥ ३५ ॥

राक्षसराज का वह आकाशगामी महारथ, नक्षत्र मार्ग से चलता हुआ ऐसा शोभित हुआ, जैसे मेघमण्डल में चन्द्रमा शोभित होता है ॥ ३५ ॥

स मारीचाश्रमं प्राप्य ताटकेयमुपागमत् ।

मारीचेनार्चितो राजा भक्ष्यभोज्यैरमानुषैः ॥ ३६ ॥

रावण, ताढ़का के पुत्र मारीच के आश्रम में पहुँच, मारीच के पास गया । मारीच ने मनुष्यलोक में मिलना जिनका दुर्लभ था, ऐसे खाने पीने के पदार्थों को सामने रख रावण का आतिथ्य किया ॥ ३६ ॥

तं स्वयं पूजयित्वा तु आसनेनोदकेन च ।

अर्थोपहितया^१ वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३७ ॥

और मारीच ने स्वयं बैठने को आसन और पैर धोने को जल दे, रावण का सत्कार किया । तदनन्तर मारीच ने रावण से प्रयोजन की बात कही ॥ ३७ ॥

१ अमानुषैः — मनुष्यलोकदुर्लभैः । २ (गो०) अर्थोपहितया—प्रयोजनेन विशिष्टया । गो०)

कच्चित्सुकुशलं राज्ञ्लोकानां^१ राक्षसेश्वर ।

आशङ्के नाथ जाने त्वं यतस्तूर्णमिहागतः ॥ ३८ ॥

हे राजन् ! हे राक्षसेश्वर ! कहिये राक्षस लोग सकुशल तो हैं ?
हे नाथ ! हड्डबड़ा कर यहाँ आपके आने से, मुझे राक्षसों के सकुशल
होने में शङ्का होती है ॥ ३८ ॥

एवमुक्तो महातेजा मारीचेन स रावणः ।

ततः पश्चादिदं वाक्यमब्रवीद्वाक्यकोविदः ॥ ३९ ॥

मारीच द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर, महातेजस्वी और बात-
चीत करने में चतुर रावण बोला ॥ ३९ ॥

आरक्षो^२ मे हतस्तात रामेणाक्षिष्ठकर्मणा ।

जनस्थानमवध्यं तत्सर्वं युधि निपातितम् ॥ ४० ॥

बड़े कठिन कर्म करने वाले श्रीरामचन्द्र जी ने हमारे जनस्थान
के रक्षक खर दूषणादि सब राक्षसों को, जो किसी के मारे नहीं
मर सकते थे, युद्ध में मार डाला ॥ ४० ॥

तस्य मे कुरु सांचिद्यं^३ तस्य भार्यापहारणे ।

राक्षसेन्द्रवचः श्रुत्वा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

अतः श्रीराम की खी हर लाने के काम में तुमको मेरी सहायता
करनी चाहिये । रावण की यह बात सुन मारीच बोला ॥ ४१ ॥

आख्याता केन सीता सा मित्ररूपेण शत्रुणा ।

त्वया राक्षसशार्दूल को न नन्दति निन्दितः^४ ॥ ४२ ॥

१ लोकानां—राक्षसलोकानां । (गो०) २ आरक्षः—अन्तपालः । (गो०)

३ सांचिद्यं—साहाय्यं । (गो०) ४ निन्दितः—तिरस्कृताः । (गो०)

किस मित्ररूप शत्रु ने तुमको सीता का नाम बतलाया है ? हे राज्ञसशार्दूल ! (जिसने तुम्हें यह काम करने की सलाह दी है) उसने ऐसा कर, तुम्हारा निरस्कार किया है। वह कौन है, जो तुम्हारे ऐश्वर्य को देख प्रसन्न नहीं होता अर्थात् जिसने ऐसी बुरी सलाह तुम्हें दी है, वह तुम्हारे ऐश्वर्य से जलता है ॥ ४२ ॥

सीतामिहानयस्वेति को ब्रवीति ब्रवीहि मे ।

रक्षोलोकस्य सर्वस्य कः शृङ्गं^१ छेत्तुमिच्छति ॥ ४३ ॥

“सीता को यहाँ ले आओ” यह बात तुमसे किसने कही है ? यह मुझे बतलाओ कि, वह कौन है जो समस्त राज्ञसों के प्राधान्य को नष्ट करना चाहता है ? ॥ ४३ ॥

प्रोत्साहयति कश्चित्त्वां स हि शत्रुरसंशयः ।

आशीविषमुखाद्घटामुद्गतुं चेच्छति त्वया ॥ ४४ ॥

किसने तुम्हें इस काम के लिये प्रोत्साहित किया है ? जिसने तुम्हें इसके लिये प्रोत्साहित किया है, वह निस्सन्देह तुम्हारा शत्रु है । क्योंकि वह तुम्हारे हाथ से विषधर सर्प के मुख से, विषदन्त उखड़वाना चाहता है ॥ ४४ ॥

कर्मणा तेन केनाऽसि कापथं प्रतिपादितः ।

सुखसुमस्य ते राजन्प्रहृतं केन मूर्धनि ॥ ४५ ॥

यह काम तुमसे करवा कर कौन तुम्हें कुपथ में ले जाना चाहता है ? हे राजन् ! सुख से सोते हुए, तुम्हारे मस्तक पर किसने प्रहार किया है ? ॥ ४५ ॥

मारीच नीचे के श्लोक में श्रीराम को गन्धदूसती की उपमा देता है ।

^१ शृङ्गं—प्राधान्यं । (गो०)

विशुद्धवं शाभिजनाग्रहस्त-
 स्तेजोमदः संस्थितदोर्विषाणः ।
 उदीक्षितुं रावण नेह युक्तः
 संयुगे संयुगे राघवगन्धहस्ती^१ ॥४६॥

हे रावण ! शुद्धवंशोद्धव, विशुद्ध वंश ही जिनकी लंबी सूँड है, प्रताप जिनका मद है, और दोनों लंबी भुजाएँ ही जिनके दोनों दाँत हैं, उन राम रूपी मदमत्त हाथी से युद्ध में तुम उसके सामने भी जाने योग्य नहीं हो, लड़ना तो बात ही दूसरी है ॥ ४६ ॥

[नोट — गःधहस्ती — मदमत्त गज । गःधहस्ती उसे कहते हैं जिसकी गन्ध मात्र से अन्य हाथी भाग जाते हैं ।]

अब नीचे के श्लोक में मारीच श्रीरामचन्द्र की उपमा सिंह से देता है ।

असौ रणान्तः स्थितिसन्धिवालो^२

विदग्धरक्षोमृगहा नृसिंहः ।
 सुसस्त्वया बोधयितुं न युक्तः
 शराङ्गपूर्णो निशितासिदंष्ट्रः ॥ ४७ ॥

रणपटुता रूपी पूँछधारी और राक्षसरूपी हिरनों का शिकार करने वाले, तथा पैने पैने बाण रूपी दाँत वाले, रामरूपी पुरुष-सिंह को, जो सो रहे हैं, तुम जगाने योग्य नहीं हो ॥ ४७ ॥

नीचे के श्लोक में श्रीरामचन्द्र जी की उपमा पाताल से दी गयी है ।

चापावहारे भुजवेगपङ्के
 शरोर्मिमाले सुमहाहवौधे ।

^१ गन्धहस्ती — मदगजः यस्य गन्धमात्रेण अन्यगजाः पलायन्ते सग-
 न्धहस्ती । (गो०) ^२ वालो — लाङ्गूलं । (गो०)

न रामपातालमुखेऽतिथोरे

प्रस्कन्दितुं^१ राक्षसराज युक्तम् ॥ ४८ ॥

धनुष रूपो नकों से युक्त, भुजवेगरूपी दल दल से परिपूर्ण,
बाण रूपी लहरों से तरङ्गित और महासंग्रामरूपी प्रवाह वाले
श्रीरामरूपी घोर पाताल के मुख में कूदने की शक्ति, तुममें नहीं है।
अथवा ऐसे भयङ्कर पाताल के मुख में कूदना तुम्हें उचित नहीं है ॥ ४८ ॥

प्रसीद लङ्केश्वर राक्षसेन्द्र

लङ्कां प्रसन्नो भव साधु गच्छ ।

त्वं स्वेषु दारेषु रमस्व नित्यं

रामः सभार्यो रमतां वनेषु ॥ ४९ ॥

अतएव हे लङ्केश्वर ! तुम प्रसन्न हो (अर्थात् मेरा कहना मान
लो) और लङ्का पर प्रसन्न हो कर (अनुग्रह कर के), सुमार्गगमी
हो । सुमार्गगमी हो कर सदा अपनी धर्मपत्तियों के साथ विहार करो
और श्रीरामचन्द्र प्रसन्न हो वन में अपनो भार्या के साथ विहार
करें ॥ ४९ ॥

एवमुक्तो दशग्रीवो मारीचेन स रावणः ।

न्यवर्तत पुरीं लङ्कां विवेश च गृहोत्तमम् ॥ ५० ॥

इति एकत्रिंशः सर्ग ॥

मारीच ने जब इस प्रकार कह कर रावण को समझाया, तब
रावण लङ्का को लौट कर अपने श्रेष्ठभवन में चला गया ॥ ५० ॥

अरण्यकारण का इक्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

१ प्रस्कन्दितुं—पतितुं । (गो०) २ हे लङ्केश्वर ! त्वं प्रसीद अतएव लङ्का
प्रसन्न प्रमादको भव । अतएव साधु सुमार्गंगच्छ प्रामुहि सुमार्गमेवाहत्वं स्वेषुदारेष
नित्यं रमस्व । स्वभार्यो रामः वनेषु रमताम् । (शि०)

द्वात्रिशः सर्गः

—*—

ततः शूर्पणखा दृष्टा सहस्राणि चतुर्दश ।

इतान्येकेन रामेण रक्षसां भीमकर्मणाम् ॥ १ ॥

दूषणं च खरं चैव हतं त्रिशिरसा सह ।

दृष्टा पुनर्महानादं ननाद जलदो यथा ॥ २ ॥

तदनन्तर जब शूर्पणखा ने देखा कि, अकेले राम ने चौदह हजार भीमकर्मा राक्षसों को मार डाला और दूषण, खर तथा त्रिशिरा भी मारे गये; तब वह मेघ की तरह गम्भीर गर्जना करने लगी ॥ १ ॥ २ ॥

सा दृष्टा कर्म रामस्य कुतमन्यैः सुदुर्बरम् ।

जगाम परमोद्विग्रा लङ्घां रावणपालिताम् ॥ ३ ॥

जो काम दूसरों से कभी नहीं हो सकता था, उस काम को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा किया हुआ देख, शूर्पणखा बहुत घबड़ानी और रावण की लङ्घा को गयी ॥ ३ ॥

सा दर्दर्श विमानाग्रे^१ रावणं दीप्ततेजसम् ।

उपोपविष्टं सचिवैर्महद्विरिव वासवम् ॥ ४ ॥

शूर्पणखा ने बड़े तेज से युक्त रावण को पुष्पक विमान के अग्र भाग में मंत्रियों सहित उसी प्रकार बैठा देखा, जिस प्रकार इन्द्र देवताओं सहित बैठते हैं ॥ ४ ॥

१ विमानाग्रे—पुष्पक विमानाग्रे । (गो०) २ महद्विः—देवैः । (गो०)

आसीनं सूर्यसङ्काशे काञ्चने परमासने ।

रुक्मवेदिगतं प्राज्यं ज्वलन्तमिव पावकम् ॥ ५ ॥

सूर्य के समान चमकते हुए सुवर्णनिर्मित श्रेष्ठसिंहासन पर बैठने से, रावण की शोभा वैसो हो रही थी, जैसी कि, सुवर्ण भूषित वेदी पर, प्रज्वलित अग्नि की होती है ॥ ५ ॥

देवगन्धर्वभूतानामृषीणां च महात्मनाम् ।

अजेयं समरे शूरं व्यात्ताननमिवान्तकम् ॥ ६ ॥

युद्ध में, देवता, गन्धर्व, भूत, ऋषि, व महात्माओं से अजेय (न जीते जाने योग्य) शूरवीर और काल की तरह मुख खोले ॥ ६ ॥

देवासुरविमर्देषु^१ वज्राशनिकृतत्रणम् ।

ऐरावतविषणाग्रैरुद्धृष्टकिणवक्षसम् ॥ ७ ॥

देवासुर संग्राम में वज्र के लगने के कारण घाव से युक्त, और छाती में ऐरावत गज के दाँतों के घाव के चिन्हों से भूषित ॥ ७ ॥

विशद्गुजं दशग्रीवं दर्शनीयपरिच्छदम् ।

विशालवक्षसं वीरं राजलक्षणशोभितम् ॥ ८ ॥

बीस भुजाओं और दस सीस वाला, देखने योग्य, छूत्र चँचर सहित, विशाल छानी वाला, शूर, राजलक्षणों से शोभित ॥ ८ ॥

स्त्रिघवैदूर्यसङ्काशं तप्तकाञ्चनकुण्डलम् ।

सुभुजं शुक्लदशनं महास्यं पर्वतोपमम् ॥ ९ ॥

चमकीले पञ्चे की तरह शरीर की कान्ति से युक्त, विशुद्ध सुवर्ण के कुण्डल पहिने हुए, लंबी बाहों और बड़े मुख वाला और पर्वत के समान लंबा ॥ ९ ॥

^१ विमर्देषु—युद्धेषु । (गो०)

विष्णुचक्रनिपातैश्च शतशो देवसंयुगे ।

अन्यैः शस्त्रप्रहारैश्च महायुद्धेषु ताडितम् ॥ १० ॥

सैकड़ों बार देवताओं के साथ लड़ते समय विष्णु के चक्र से तथा अन्य अनेक महायुद्धों में शस्त्रों से घायल, ॥ १० ॥

आहताङ्गं समस्तैश्च देवप्रहरणैस्तथा ।

अक्षोभ्याणां समुद्राणां क्षोभणं क्षिप्रकारिणम् ॥ ११ ॥

तथा देवताओं के प्रहार से जिसके समस्त अंग घायल थे, अद्वैत अनेक समुद्रों को भी लुध करने वाला तथा सब कामों को शीघ्र करने वाला, ॥ ११ ॥

क्षेप्तारं पर्वतेन्द्राणां सुराणां च प्रमर्दनम् ।

उच्छेत्तारं च धर्माणां परदाराभिर्मर्शनम् ॥ १२ ॥

बड़े बड़े पर्वतों को उखाड़ कर फेंकने वाला, देवताओं को मर्दन करने वाला, सब धर्मों की जड़ काटने वाला, परख्तीगामी ॥ १२ ॥

सर्वदिव्यास्त्रयोक्तारं यज्ञविघ्नकरं सदा ।

पुरीं भोगवतीं प्राप्य पराजित्य च वासुकिम् ॥ १३ ॥

समस्त दिव्यास्त्रों को चलाने वाला, सदा यज्ञों में विज्ञ डालने वाला, भोगपुरी में जा, वासुकि को पराजित कर, ॥ १३ ॥

तक्षकस्य प्रियां भार्यां पराजित्य जहार यः ।

कैलासपर्वतं गत्वा विजित्य नरवाहनम् ॥ १४ ॥

तक्षक को युद्ध में पराजित कर, उसकी प्यारी स्त्री को हर लाने वाला, कैलास पर जा, कुवेर को जीत कर, ॥ १४ ॥

विमानं पुष्पकं तस्य कामगं वै जहार यः ।

वनं चैत्ररथं दिव्यं नलिनीं^१ नन्दनं वनन् ॥ १५ ॥

विनाशयति यः क्रोधादेवोद्यानानि वीर्यवान् ।

चन्द्रसूर्यौ महाभागावुत्तिष्ठन्तौ^२ परन्तपौ ॥ १६ ॥

उनका इच्छाचारी पुष्पक विमान द्वीनने वाला, क्रुद्ध हो दिव्य चैत्ररथ नामक वन को, तथा कुवेर की नलिनी नामक पुष्करिणी को और देवताओं के नन्दनादि उद्यानों की नाश, करने वाला, पराक्रमी, उदय होते हुए सूर्य चन्द्र को ॥ १५ ॥ १६ ॥

निवारयति बाहुभ्यां यः शैलशिखरोपमः ।

दश वर्षसहस्राणि तपस्तप्त्वा महावने ॥ १७ ॥

दोनों बाहों से निवारण करने वाला, पर्वतशिखर की तरह लंबा, महावन में दस हज़ार वर्ष तप कर, ॥ १७ ॥

पुरा स्वयंभुवे धीरः शिरांस्युपजहार यः ।

देवदानवगन्धर्वपिशाचपतगोरगैः ॥ १८ ॥

अभयं यस्य संग्रामे मृत्युतो^३ मानुषाद्वते ।

मन्त्रैरभिष्टुर्तु पुण्यमध्वरेषु^४ द्विजातिभिः ॥ १९ ॥

इविर्धानेषु यः सोममुपहन्ति महावलः ।

आप्तयज्ञहरं^५ क्रूरं ब्रह्मग्नं दुष्टचारिणम् ॥ २० ॥

^१ नलिनीं—कुवेरस्य पुष्करिणीं । (गो०) ^२ उत्तिष्ठन्तौ—उद्यन्तौ । (गो०)

^३ मृत्युतः—मृत्योः । (गो०) ^४ अध्वरेषु—यागेषु । (गो०) ^५ आप्तयज्ञहरं—आप्तानदक्षिणाकालं प्राप्तान्यज्ञान् हरतीतितथा । (गो०)

पूर्वकाल में ब्रह्मा जी को अपने मस्तकों को काट कर चढ़ाने वाला, देव, दानव, गन्धर्व, पिशाच, पक्षी और सर्पों से युद्ध में मृत्यु को प्राप्त न होने वाला; मनुष्यों का तिरस्कार कर, उनके द्वारा मारे जाने का वरदान, न माँगने वाला, यज्ञों में मंत्रों से स्तुति किये गये ब्राह्मणों के पवित्र सेवा को नष्ट करने वाला, महाबली, दक्षिणा देने के समय यज्ञ का ध्वंस करने वाला, नृशंस, ब्रह्महत्यारा, दुष्टचारी ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

कर्कशं निरनुक्रोशं^१ प्रजानामहिते रतम् ।

रावणं सर्वभूतानां सर्वलोकभयावहम् ॥ २१ ॥

कर्कश, दयाशून्य, प्रजाजनें को अहित करने वाला, सब प्राणियों और सब लोकों को भयभीत करने वाला जो रावण था, ॥ २१ ॥

राक्षसी भ्रातरं शूरं सा ददर्श महाबलम् ।

तं दिव्यवस्त्राभरणं दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥ २२ ॥

उस महाबली शूर, अपने भाई को शूर्पणखा ने देखा। वह रावण सुन्दर वस्त्र पहिने हुए था और सुन्दर मालाओं से विभूषित था ॥ २२ ॥

आसने सूपविष्टं च कालकालरमिवोद्यतम् ।

राक्षसेन्द्रं महाभागं पौलस्त्यकुलनन्दनम् ॥ २३ ॥

वह आसन पर भली भौति बैठा हुआ था और उस समय वह मृत्यु के मृत्यु की तरह उद्यत सा देख पड़ता था। ऐसे राक्षसराज, महाभाग और पौलस्त्यनन्दन ॥ २३ ॥

१ निरनुक्रोशं - निर्दयं । (गो०) २ कालकालं - मृत्योरपि मृत्युं । (गो०)

रावणं शत्रुहन्तारं मन्त्रिभिः परिवारितम् ।

अभिगम्याब्रवीद्वाक्यं राक्षसी भयविहला ॥ २४ ॥

शत्रुहन्ता, और मन्त्रियों के बीच बैठे हुए रावण के पास जा शूर्पणखा ने भय से व्याकुल हो कहा, ॥ २४ ॥

तमब्रवीदीप्तविशाललोचनं

प्रदर्शयित्वा^१ भयमोहमूर्छिता ।

सुदारुणं वाक्यमधीतचारिणी

महात्मना शूर्पणखा विरूपिता ॥ २५ ॥

इति द्वात्रिंशः सर्गः ॥

श्रीरामचन्द्र जी द्वारा विरूपित (शक्त विगड़ी हुई) शूर्पणखा अपने कर्णे हुए कानें और नाक को दिखला चमकते हुए विशाल नेत्रों वाले रावण से भय और मोह से मोहित हो, निडर सी हो, कठोर बचन बोली ॥ २५ ॥

अरण्यकाशड का वत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रयस्तिशः सर्गः

—*—

ततः शूर्पणखा दीनारू रावणं लोकरावणम् ।

अमात्यमध्ये संकुद्धारू परुषं वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

^१ प्रदर्शयित्वा—स्वं वैरूपमितिशेषः । (गो०) २ दीना—रामपरिभूतत्वात् । (गो०) ३ संकुद्धा—स्वपरिभवदश्वेषि आतुर्निश्चलतया संकुद्धा । (गो०)

तदनन्तर मंत्रियों के बीच बैठे हुए और संसार को रुलाने वाले रावण पर शूर्पणाका कुद्ध हुई (कुद्ध इसलिये कि, खरदूषण आदि के मारे जाने पर भी वह हाथ पर हाथ धरे बैठा है) और उसने उससे कठोर वचन कहे ॥ १ ॥

प्रमत्तः कामभोगेषु स्वैरवृत्तोऽ निरङ्कुशः२ ।
समुत्पन्नं भयं घोरं बोद्धव्यं नावबुध्यसे ॥ २ ॥

हे रावण ! तू अत्यन्त मतवाला हो, सदा कामपरवश बना रहता है । तूने नीति मर्यादा त्याग दी है । अतएव जो घोर विपत्ति इस समय सामने है और जिसे तुझे जानना चाहिये, उससे तू बेखबर है ॥ २ ॥

सक्तं ग्राम्येषु३ भोगेषु कामवृत्तं४ महीपतिम् ।
लुब्धं न बहु मन्यन्ते शमशानाग्निमिव प्रजाः ॥ ३ ॥

देख, जो राजा सदा स्त्री मैथुनादि भोगों में आसक्त, स्वेच्छाचारी और लोभी होता है, उस राजा को, प्रजाजन शमशान की आग की तरह बहुत नहीं मानते अर्थात् आदर नहीं करते ॥ ३ ॥

स्वयं कार्याणि यः काले नानुतिष्ठति पार्थिवः ।
स तु वै सह राज्येन तैश्च कार्यैर्विनश्यति ॥ ४ ॥

जो राजा समय पर अपने कार्यों को स्वयं नहीं करता, वह केवल अपने उन कार्यों ही को नष्ट नहीं करता, बल्कि अपने राज्य को भी चौपट कर डालता है ॥ ४ ॥

१ स्वैरवृत्तः—स्वतन्त्रः । (गो०) २ निरङ्कुशः—नीतिमर्यादा रहितः । (शि०)

३ ग्राम्येषु—मैथुनादिषु । (गो०) ४ कामवृत्त—यथेच्छव्यापारं । (गो०)

१ अयुक्तचारं २ दुर्दर्शमस्वाधीनं^३ नराधिपम् ।

वर्जयन्ति नरा दूरान्नदीपङ्कमिव द्विपाः ॥ ५ ॥

जो राजा अयोग्य कार्य करने वाला है, जो समय पर राजसभा में आ कर प्रजाजनें को दर्शन नहीं देता और जो अपनी रानियों के अधीन रहता अथवा दूसरे की कही बातों पर सहसा विश्वास कर लिया करता है; उस राजा को प्रजाजन उसी प्रकार दूर से त्याग देते हैं, जिस प्रकार हाथी नदी के दलदल को दूर से त्याग देते हैं ॥ ५ ॥

ये न रक्षन्ति ४ विषयमस्वाधीना^५ नराधिपाः ।

ते न वृद्ध्या प्रकाशन्ते गिरयः सागरे यथा ॥ ६ ॥

जो राजा अपने हाथ से निकले हुए और पराये हाथ में गये हुए अपने राज्य की रक्षा (अर्थात् अपने अधिकार में) नहीं कर सकते; उन राजाओं की सम्पत्ति की वृद्धि समुद्रस्थित पर्वत की तरह नहीं होती ॥ ६ ॥

आत्मवद्विर्विगृह्य त्वं देवगन्धर्वदानवैः ।

अयुक्तचारश्चपलः कथं राजा भविष्यसि ॥ ७ ॥

एक तो तू चञ्चल है, दूसरे तू यत करने में असावधान है, तीसरे तू दूतों के सञ्चार से हीन है (अर्थात् तेरे चर सर्वत्र नियुक्त नहीं हैं) फिर देवता, गन्धर्व और दानवों से बैर कर, तू किस प्रकार राज्य कर सकता है ॥ ७ ॥

१ अयुक्तचारं — अनियोजितचारं । (गो०) २ दुर्दर्शँ — उचितकाले सभायां प्रजादधां नप्रदान रहित । (गो०) ३ अस्वाधीनं — पत्न्यादिपरतंत्रं परप्रत्यनेय वृद्धिवा (गो०) ४ विषयं — स्वराज्यं । (गो०) ५ अस्वाधीनं — पूर्वं स्वाधीन देशं पश्चात् परायन्त । (रा०)

त्वं तु बालस्वभावश्च बुद्धिहीनश्च राक्षस ।

ज्ञातव्यं तु न जानीषे कथं राजा भविष्यसि ॥ ८ ॥

तू बालक की तरह विवेकशून्य और बुद्धिहीन है । इसीसे तुझे जो बात जाननी चाहिये उसे भी तू नहीं जानता, भला फिर किस तरह अपने राज्य की रक्षा कर सकेगा ? ॥ ८ ॥

येषां चारश्च कोशश्च नयश्च जयतांवर ।

अस्वाधीना नरेन्द्राणां प्राकृतैस्ते जनैः समाः ॥ ९ ॥

हे जीतनेवालों में श्रेष्ठ ! जिन राजाओं के अधीन उनके चर (जासूस), धनागार और राजनीति नहीं है, (अर्थात् जो राजनीति स्वयं न जान कर, अपने मंत्रियों के ऊपर निर्भर हैं) वे राजा साधारण जनों के समान हैं ॥ ९ ॥

यस्मात्पश्यन्ति दूरस्थान्सर्वानर्थान्वराधिपाः ।

चारेण तस्मादुच्यन्ते राजानो दीर्घचक्षुषः ॥ १० ॥

राजा लोग दूर के समस्त वृत्तान्तों को चरों (जासूसों) को नियुक्त कर, उनके द्वारा मानों (स्वयं) देखते रहते हैं । इसीसे वे “दीर्घचक्षु” “दूर दृष्टि वाले”, कहलाते हैं ॥ १० ॥

अयुक्तचारं मन्ये त्वां प्राकृतैः सचिवैर्वृतम् ।

स्वजनं तु जनस्थानं^१ हतं यो नावबुध्यसे ॥ ११ ॥

मैं जानती हूँ कि, तूने कहीं भी जासूस नियत नहीं किये और तू साधारण बुद्धि वाले मंत्रियों में उठा बैठा करता है । इसीसे तुझे जनस्थानवासी अपने कुटुम्बियों के नष्ट होने का कुछ भी हाल नहीं मालूम ॥ ११ ॥

^१ जनस्थान—जनस्थानस्थितं । (गो०)

चतुर्दशं सहस्राणि रक्षसां क्रूरकर्मणाम् ।

हतान्येकेन रामेण खरश्च सहदूषणः ॥ १२ ॥

खर और दूषण के सहित चौदह हज़ार क्रूरकर्मा (कठोर कर्म करने वाले) राक्षसों को अकेले एक श्रीराम ने मार डाला ॥ १२ ॥

क्रृषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्र दण्डकाः ।

धर्षितं च जनस्थानं रामेणाक्षिष्ठकर्मणा ॥ १३ ॥

(इतना ही नहीं) अक्षिष्ठकर्मा राम ने ऋषियों को अभय (निर्भय) कर दिया, दण्डकवन में शान्ति स्थापित कर दी और जनस्थान को उजाड़ डाला ॥ १३ ॥

त्वं तु लुब्धः प्रमत्तश्च पराधीनश्च रावण ।

विषये स्वे समुत्पन्नं भयं यो नावबुध्यसे ॥ १४ ॥

तू कामलोल्लुप, मदमत्त और पराधीन होने के कारण, अपने ऊपर आती हुई विपत्ति को नहीं समझता ॥ १४ ॥

तीक्ष्णमल्पप्रदातारं प्रमत्तं गर्वितं शठम् ।

व्यसने सर्वभूतानि नाभिधावन्ति पार्थिवम् ॥ १५ ॥

जो राजा क्रूर स्वभाव वाला, थोड़ा देने वाला अर्थात् कृपण, मदमत्त, अभिमानी और धूर्त होता है, उस राजा को विपत्ति के समय, कोई भी सहायता नहीं देता ॥ १५ ॥

अतिमानिनमग्राहय॑मात्म॒सम्भावितं नरम् ।

क्रोधनं३ व्यसने४ हन्ति स्वजनोऽपि महीपतिम् ॥ १६ ॥

१ अप्राह्यं सज्जिरितिशेषः । (गो०) २ आत्मना—स्वेनैववहुमानंप्राप्तः । (गो०)
३ क्रोधनं—अस्थाने क्रोधवन्तं । (गो०) ४ व्यसने—व्यसनेकाले । (गो०)

जो राजा अत्यन्त अभिमानी होता है, जिसे सज्जन लोग पसंद नहीं करते, जो स्वयं अपने को बड़ा प्रतिष्ठित समझता है, जो अनुचित क्रोध करता है, ऐसे राजा के ऊपर दुःख पड़ने पर, उसके निकट सम्बन्धी भी उसका वध करते हैं ॥ १६ ॥

नानुतिष्ठति कार्याणि भयेषु न विभेति च ।

क्षिप्रं राज्याच्युतो दीनस्तुणैस्तुल्यो भविष्यति ॥ १७ ॥

जो राजा अपने कर्तव्य का यथावत् पालन नहीं करता, भय उपस्थित होने पर भी भयभीत नहीं होता, ऐसा राजा शीघ्र राज्याच्युत होने के कारण दीन हो, तिनके के समान अर्थात् तुच्छ हो जाता है ॥ १७ ॥

शुष्कैः काष्ठैर्भवेत्कार्यं लोष्टैरपि च पांसुभिः ।

न तु स्थानात्परिभ्रष्टैः कार्यं स्याद्गुधाधिपैः ॥ १८ ॥

सूखी लकड़ी, ढेला और धूल से भी अनेक कार्य हो सकते हैं; किन्तु राज्यभृष्ट राजा से कोई काम नहीं हो सकता ॥ १८ ॥

उपभुक्तं यथा वासः स्नजो वा मृदिता यथा ।

एवं राज्यात्परिभ्रष्टः समर्थोऽपि नरर्थकः ॥ १९ ॥

जैसे पहिना हुआ कपड़ा और मर्दन की हुई माला दूसरे के काम की नहीं, वैसे ही राज्यभृष्ट राजा सामर्थ्यवान हो कर भी निरर्थक समझा जाता है ॥ १९ ॥

अप्रमत्तश्च यो राजा सर्वज्ञो विजितेन्द्रियः ।

कृतज्ञो धर्मशीलश्च स राजा तिष्ठते चिरम् ॥ २० ॥

और जो राजा इन्द्रियों को अपने वश में कर के, सावधान रहता और अपने तथा दूसरे राज्यों का समस्त वृत्तान्त जानता रहता है,

जो कृतज्ञ (किये हुए उपकार को मानने वाला) और धर्म में रत रहता है, वह बहुत काल तक राजपद पर स्थित रहता है ॥ २० ॥

न यनाभ्यां प्रसुप्तोऽपि जागर्ति न यच्छुषा ।

व्यक्तक्रोधप्रसादश्च स राजा पूज्यते जनैः ॥ २१ ॥

जो राजा आँखों को बंद किये सेते रहने पर भी नीति-शास्त्र रूपी आँखों से जागता रहता है, जिसका क्रोध और प्रसन्नता यथा समय प्रकट होती है अथवा जिसका क्रोध और प्रसन्नता व्यर्थ नहीं जाती, उस राजा का लोग सम्मान करते हैं ॥ २१ ॥

त्वं तु रावण दुर्बुद्धिर्गुणैरेतैर्विवर्जितः ।

यस्य तेऽविदितश्चारै रक्षसां सुमहान्वधः ॥ २२ ॥

हे रावण ! तू बुद्धिहीन होने के कारण इन सद्गुणों से रहित है । इसीसे तो तुझे इतने बड़े राक्षसों के संहार का जासूसों द्वारा कुछ भी वृत्तान्त न जान पड़ा ॥ २२ ॥

परावमन्ता^१ विषयेषु सङ्गते

न देशकालप्रविभागतत्त्ववित् ।

अयुक्तबुद्धिर्गुणदोषनिश्चये

विपच्चराज्यो न चिराद्विपत्स्यसे ॥ २३ ॥

तू शत्रुघ्नों की उपेक्षा करता है और भेग विलास में मस्त रहता है । इसीसे तुझे देश काल के विभागों का तत्व नहीं पालूम और इसीसे तेरी बुद्धि में गुण दोष विवेचन की सामर्थ्य नहीं है । अतएव तुझे शीघ्र ही विपद्ग्रस्त और राज्यभ्रष्ट होना पड़ेगा ॥ २३ ॥

^१ परावमन्ता—शत्रुषुपैक्षावान् । (गो०)

इति स्वदोषान्परिकीर्तिंस्तया

समीक्ष्य बुद्ध्या क्षणदाचरेश्वरः ।

धनेन दर्पेण बलेन चान्वितो

विचिन्तयामास चिरं स रावणः ॥ २४ ॥

इति अर्यस्त्रिशः सर्गः ॥

धन, बल, और अभिमान से युक्त राजसेन्द्र रावण, शूर्पणखा के बतलाए हुए दोषों को बुद्धि से विचार कर, बहुत देर तक मन ही मन सोचता रहा ॥ २४ ॥

अरण्यकाण्ड का तेतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

चतुर्थिशः सर्गः

—;*;—

ततः शूर्पणखां क्रुद्धां ब्रुवन्तीं परुषं वचः ।

अमात्यमध्ये संक्रुद्धः परिप्रच्छ रावणः ॥ १ ॥

तदनन्तर क्रोध में भर कठोर वचन कहने वाली शूर्पणखा से मंत्रियों के बीच बैठे हुए रावण ने, अत्यन्त क्रुध हो पूँछा ॥ १ ॥

कथं रामः कथंवीर्यः किंरूपः किंपराक्रमः ।

किमर्थं दण्डकारण्यं प्रविष्टः स दुरासदम् ॥ २ ॥

राम कौन है ? किस प्रकार का उसका बल है ? उसका रूप और पराक्रम कैसा है ? ऐसे दुस्तर दण्डकवन में वह क्यों आया है ॥ २ ॥

आयुधं किं च रामस्य निहता येन राक्षसाः ।
खरश्च निहतः संख्ये दूषणखिशिरास्तथा ॥ ३ ॥

उसने किस आयुध से खर, दूषण और त्रिशिरा सहित १४ हजार राक्षसों को युद्ध में मारा ॥ ३ ॥

इत्युक्ता राक्षसेन्द्रेण राक्षसी क्रोधमूर्छिता ।
ततो रामं यथातत्त्वमात्म्यातुमुपचक्रमे ॥ ४ ॥

जब राक्षसराज रावण ने इस प्रकार कहा, तब शूर्पणखा मारे क्रोध के संज्ञाहीन हो गयी और श्रीरामचन्द्र जो का यथार्थ वृत्तान्त कहना आरम्भ किया ॥ ४ ॥

दीर्घवाहुर्विशालाक्षश्चीरकृष्णाजिनाम्बरः ।
कंदर्पसमरूपश्च रामो दशरथात्मजः ॥ ५ ॥

वह बोली — दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र दीर्घ वाहु, विशाल नयन चीर और काले सूग का चर्म धारण किये हुए हैं, वे कामदेव के समान सुन्दर हैं ॥ ५ ॥

शक्रचापनिर्भं चापं विकृष्य कनकाङ्गदम्^१ ।
दीप्तानिक्षिपति नाराचान्सर्पानिव महाविषान् ॥ ६ ॥

उनका धनुष, इन्द्र के धनुष के समान है और उसकी मूठ में जगह जगह सुवर्ण के बंद लगे हुए हैं, उस धनुष को खींच कर, चमचमाते और तेज विष वाले सर्पों के समान तोरों को वे चलाते हैं ॥ ६ ॥

१ कनकाङ्गदम्—कनकमयपट्टवंधं । (गो०)

नाददानं शरान्घोरान् मुञ्चन्त शिलीमुखान् ।

न कार्मुकं विकर्षन्तं रामं पश्यामि संयुगे ॥ ७ ॥

युद्ध में जब वे बाण छोड़ते थे, तब मैं यह नहीं देख पायी कि,
वे कब तरकस में से तीर निकालते, कब उसे धनुष पर रखते और
कब धनुष को खींच उसे छोड़ते थे ॥ ७ ॥

हन्यमानं तु तत्सैन्यं पश्यामि शरवृष्टिभिः

इन्द्रेणोवोत्तमं सस्यमाहतं त्वश्मवृष्टिभिः ॥ ८ ॥

परन्तु जिस प्रकार इन्द्र के बरसाये ओलों से अनाज के खेत
नष्ट होते हैं, उसी प्रकार उनकी बाणवृष्टि से राज्ञों की सेना का
मारा जाना अवश्य मैं देखती थी ॥ ८ ॥

रक्षसां भीमरूपाणां सहस्राणि चतुर्दश ।

निहतानि शरैस्तीक्ष्णैस्तेनैकेन पदातिना ॥ ९ ॥

उन चौदह हज़ार भयङ्कर राज्ञों को तीक्ष्ण बाणों से अकेले
और पैदल रामचन्द्र ने मार डाला ॥ ९ ॥

अर्धाधिकमुहूर्तेन खरश्च सहदूषणः ।

ऋषीणामभयं दत्तं कृतक्षेमाश्च दण्डकाः ॥ १० ॥

तीन घड़ी में रामचन्द्र ने खर और दूषण सहित उन १४ हज़ार
राज्ञों को मार कर, दण्डकवन में राज्ञों का उपद्रव शान्त कर,
ऋषियों को अभय कर दिया ॥ १० ॥

एका कथश्चिन्मुक्ताऽहं परिभूय महात्मना ।

स्त्रीवधं शङ्कमानेन रामेण विदितात्मना ॥ ११ ॥

उन विदितात्मा एवं महावलवान् रामचन्द्र ने, स्त्रीवध करना
अनुचित जान, केवल मुझे किसी तरह छोड़ दिया ॥ ११ ॥

भ्राता चास्य महातेजा गुणतस्तुल्यविक्रमः ।

अनुरक्तश्च भक्तश्च^१ लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ १२ ॥

रामचन्द्र का छोटा भाई लक्ष्मण, पराक्रमी और महातेजस्वी है। गुणों में तथा पराक्रम में वह अपने भाई ही के समान है। वह अपने भाई में अनुरागवान् भी है और उनकी सेवा में भी लगा रहता है ॥ १२ ॥

अमर्षी^२ दुर्जयो जेता विक्रान्तो बुद्धिमान्बली ।

रामस्य दक्षिणो वाहुर्नित्यं प्राणो वहिश्चरः ॥ १३ ॥

लक्ष्मण अपने बड़े भाई के प्रति अपराध करने वाले का अपराध सह नहीं सकता। वह स्वयं किसी से जीता भी नहीं जा सकता। वह वड़ा पराक्रमी बुद्धिमान् और बलवान् है। वह रामचन्द्र का इहना हाथ अथवा शरीर के बाहर रहने वाला प्राण है। अर्थात् अत्यन्त प्रिय है ॥ १३ ॥

रामस्य तु विशालाक्षी पूर्णेन्दुसद्वशानना ।

धर्मपत्नी प्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते रता ॥ १४ ॥

रामचन्द्र जी की जो धर्मपत्नी है उसके बड़े बड़े नेत्र हैं उसका चेहरा पूर्णिमासी के चन्द्रमा की तरह सुन्दर है। वह रामचन्द्र को अत्यन्त प्रिय है और सदा रामचन्द्र जी के हितसाधन में और प्रिय कामों के करने में तत्पर रहती है ॥ १४ ॥

सा सुकेशी सुनासोरः सुरूपा च यशस्विनी ।

देवतेव वनस्यास्य राजते श्रीरिवापरा ॥ १५ ॥

१ भक्तश्च—तत्कार्यभजनशीलः । (गो०) २ अमर्षी—रामापराध सहन शीलः । (रा०)

उस यशस्विनी रामचन्द्र जी की भार्या के केश नासिका, ऊरु और रूप अति उत्तम हैं। वह उस वन की अधिष्ठात्री देवी और दूसरी लक्ष्मी की तरह वहाँ शोभा को प्राप्त होती है ॥ १५ ॥

तप्तकाञ्चनवर्णभा रक्ततुङ्गनखी शुभा ।

सीता नाम वरारोहा वैदेही तनुमध्यमा ॥ १६ ॥

तपाये सोने की तरह तो उसके शरीर का वर्ण है। उसके नख लाल और उभरे हुए हैं। उस पतली कमर वाली सुन्दरी का नाम सीता है और वह विदेहराज की पुत्री है। वह शुभ लक्षणों वाली है (अर्थात् स्त्रियों के लिये जो शुभ लक्षण सामुद्रिक शाख में बतलाये गये हैं, उनसे वह युक्त है) ॥ १६ ॥

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किन्नरी ।

नैवंरूपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ॥ १७ ॥

उसके सौन्दर्य के टक्कर की न तो कोई देवी है, न कोई गन्धर्वी है, न कोई यक्षिणी है न कोई किन्नरी है। इस धराधाम पर तो मैंने ऐसी सुन्दरी लूटी इसके पहले कभी नहीं दंखी थी ॥ १७ ॥

यस्य सीता भवेद्दर्या यं च हृष्टा परिष्वजेत् ।

अतिजीवेत्स सर्वेषु लोकेष्वपि पुरन्दरात् ॥ १८ ॥

वह सीता जिसकी भार्या हो और जिसे वह प्रसन्न हो, अपनी द्वाती से लगा ले, वह पुरुष सब लोगों ही से नहीं, किन्तु इन्द्र से भी बढ़ कर सुखी हो, जीवन व्यतीत करे ॥ १८ ॥

सा सुशीला वपुःश्लाघ्या रूपेणाप्रतिमा भुवि ।

तवानुरूपा भार्या स्यात्त्वं च तस्यास्तथा पतिः ॥ १९ ॥

वह सुशीला, प्रशंसनीय शरीर वाली और इस भूतल पर
अनुपमरूप वाली सीता तेरी ही भार्या होने योग्य है और तू ही उसका
पति होने योग्य है। अथवा तेरे ही योग्य वह भार्या है और तू ही
उसका योग्य पति है ॥ १६ ॥

तां तु विस्तीर्णजघनां पीनश्रोणिपयोधराम् ।

भार्यार्थं च तवानेतुमुच्चताहं वराननाम् ॥ २० ॥

इसीसे मैं उस विशाल जांघेंवाली और उभड़े हुए कुचों वाली
सुन्दरी को तेरी भार्या बनाने के लिये, ले आने की गयी थी ॥ २० ॥

विरूपिताऽस्मि क्रौरेण लक्ष्मणेन महाभुज ।

तां तु दृष्टाऽन्य वैदेहीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ २१ ॥

किन्तु हे महाभुजा वाले ! उस निर्दयी लक्ष्मण ने मेरे दोनों कान और
मेरी नाक काट डाली । उस पूर्ण चन्द्रवदनी वैदेही को देखते ही ॥ २१ ॥

मन्मथस्य शराणां वै त्वं विधेयो भविष्यसि ।

यदि तस्यामभिप्रायो भार्यार्थं तब जायते ।

शोघ्रमुद्ध्रियतां पादो जयार्थमिह दक्षिणः ॥ २२ ॥

तू कामदेव के बाणों का लक्ष्य बन जायगा । यदि तू उसे
अपनी खीं बनाना चाहता हो, तो शोघ्र अपने विजय (अर्थात् कार्य
सिद्धि) के लिये अपना दहिना पैर उठा ॥ २२ ॥

[नोट - यदि किसी कार्य को सिद्धि के लिये जाना हो, तो चलने के
समय सब से प्रथम दहिना पैर उठा कर चले ।]

रोचते यदि ते वाक्यं ममैतद्राक्षसेश्वर ।

क्रियतां निर्विशङ्केन वचनं मम रावण ॥ २३ ॥

हे राक्षसेश्वर ! यदि मेरा कहना तुझे पसन्द हो, तो मैंने जो
कहा है, उसके अनुसार शङ्का त्याग कर, कार्य आरम्भ कर ॥ २३ ॥

विज्ञायेहात्मशक्तिं च हियतामबला दलात् ।

सीता सर्वानवद्याङ्गी भार्यर्थं राक्षसेश्वर ॥ २४ ॥

हे राक्षसेश्वर ! पहले अपने बल पौरुष का विचार कर, तदनन्तर उस सर्वाङ्गसुन्दरी अबला सीता को अपनी छोटी बनाने के लिये, बलपूर्वक हर ला ॥ २४ ॥

निशम्य रामेण शरैरजिह्वगै-

इताञ्जनस्थानगतान्निशाचरान् ।

खरं च बुद्ध्वा निहतं च दूषणं

त्वमत्र कृत्यं ^१प्रतिपत्तुमर्हसि ॥ २५ ॥

इति चतुर्थिंशः सर्गः ॥

हे रावण ! खरदूषण सहित जनस्थानवासी राक्षसों का रामचन्द्र के बाणों से वध हुआ है, यह जान कर, अब जो कुछ करना हो, सो समझ बूझ कर, तू कर ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का चौतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पञ्चत्रिंशः सर्गः ।

—*—

ततः शूर्पणखावाक्यं तच्छ्रुत्वा रोमहर्षणम् ।

सचिवानभ्यनुज्ञाय कार्यं बुद्ध्वा जगाम सः ॥ १ ॥

शूर्पणखा के ऐसे रोमाञ्चकारी वचनों को सुन, सचिवों को बिदा कर तथा कर्तव्य निश्चित कर, रावण जाने को तैयार हुआ ॥ १ ॥

तत्कार्यमनुगम्याथ यथावदुपलभ्य च ।

दोषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलावलम् ॥ २ ॥

वह मन ही मन अपने कर्तव्यकर्म को विचारता और उसके गुण दोषों के बलावल को सोचता हुआ, चला जाता था ॥ २ ॥

इति कर्तव्यमित्येव कृत्वा निश्चयमात्मनः ।

स्थिरबुद्धिस्ततो रम्यां यानशालामुपागमत् ॥ ३ ॥

आगे के कर्तव्य को मन में निश्चित कर और स्थिरबुद्धि हो वह अपने रमणीक गाढ़ीखाने में गया ॥ ३ ॥

यानशालां ततो गत्वा प्रच्छन्नो राक्षसाधिपः ।

सूतं संचोदयामास रथः संयोज्यतामिति ॥ ४ ॥

बुपचाप गाढ़ीखाने में जा, राक्षसेश्वर ने सारथी को रथ जोत कर तैयार करने की आज्ञा दी ॥ ४ ॥

एवमुक्तः क्षणेनैव सारथिर्लघुविक्रमः ।

रथं संयोजयामास तस्याभिमतमुक्तमम् ॥ ५ ॥

रावण की आज्ञा के अनुसार फुर्तीले सारथी ने, रावण का वह उत्तम रथ, जो उसे पसंद था, त्रण भर में जोत कर तैयार किया ॥ ५ ॥

काश्चनं रथमास्थाय कामगं रक्तभूषितम् ।

पिशाचवदनैर्युक्तं खरैः कनकभूषणैः ॥ ६ ॥

रावण उस इच्छाचारी, सुवर्णरचित तथा रत्नविभूषित रथ में, जिसमें पिशाच तुल्य मुख वाले खच्चर जुते थे, बैठा ॥ ६ ॥

मेघप्रतिमनादेन स तेन धनदानुजः ।

राक्षसाधिपतिः श्रीमान्ययौ नदनदीपतिम् ॥ ७ ॥

चलते समय मेघ तुल्य शब्द करने वाले उस रथ पर, कुवेर का छोटा भाई राक्षसेश्वर श्रीमान् रावण सवार हो, समुद्र की ओर रवाना हुआ ॥ ७ ॥

स श्वेतवालव्यजनः श्वेतच्छत्रो दशाननः ।

स्तिर्ग्नवैदूर्यसङ्काशस्तमकाञ्चनकुण्डलः ॥ ८ ॥

उस समय रावण श्वेत छत्र और श्वेत चँवर से शोभायमान हो रहा था । रावण के शरीर की कान्ति वैदूर्य मणि की तरह थी, और वह कानों में बढ़िया सोने के कुण्डल पहिने हुए था ॥ ८ ॥

विशद्गुजो दशग्रीवो दर्शनीयपरिच्छदः ।

त्रिदशारिमुनीन्द्रग्नो दशशीर्ष इवाद्रिराट् ॥ ९ ॥

उसके दस मुख, बीस भुजा थीं और उसका देखने योग्य अन्य सामान था । वह देवताओं और मुनियों का धातक था और दस सिरों से युक्त होने के कारण, वह दसशिखर वाले पर्वत जैसा देख पड़ता था ॥ ९ ॥

कामगं रथमास्थाय शुशुभे राक्षसेश्वरः ।

विद्युन्मण्डलवान्मेघः सबलाक इवाम्बरे ॥ १० ॥

उस इच्छाचारी रथ में वैठा हुआ रावण ऐसा शोभायमान होता था जैसा कि, विजली से युक्त और बगलों की पंक्ति से भूषित बादल आकाश में शोभित होता है ॥ १० ॥

सशैलं सागरानूपं^१ वीर्यवानवलोकयन् ।

नानापुष्पफलैर्वृक्षैरनुकीर्णं सहस्रशः ॥ ११ ॥

उस पराक्रमी रावण ने जाते हुए, पहाड़ युक्त समुद्र तट, (अथवा समुद्र का पहाड़ी तट) जहाँ पर हज़ारों फूले फले वृक्ष लगे थे, देखा ॥ ११ ॥

शीतमङ्गलतोयाभिः^२ पद्मिनीभिः समन्ततः ।

विशालैराश्रमपदैर्वेदिमद्वि समावृतम् ॥ १२ ॥

शीतल और निर्मल जल से भरे और चारों ओर कमल पुष्पों से सुशोभित तालाबों, तथा चारों ओर चबूतरों से घिरे हुए बड़े बड़े आश्रमों से वह देश शोभित था ॥ १२ ॥

कदल्या ढकिः^३ संबाधं नालिकेरोपशोभितम् ।

सालैस्तालैस्तामालैश्च पुष्पितैस्तरुभिर्वृतम् ॥ १३ ॥

केलों का बन चारों ओर लगा था, भोज्य अज्ञ की राशि एकत्र थी । नारियल के वृक्ष शोभायमान् थे । शाल, ताल, तमाल आदि नाना प्रकार के फूले हुए पेड़ लगे थे ॥ १३ ॥

नागैः सुपर्णैर्गन्धवैः किन्नरैश्च सहस्रशः ।

अजैः^४ वैखानसैः^५ माषैः^६ वालखिल्यैर्मरीचिष्यैः^७ ॥ १४ ॥

१ सागरानूपं—समुद्रतीरं । (गो०) २ मङ्गलतोयाभिः—शुभजलाभिः । (गो०) ३ आढकिः—सूर्योपयुक्तधान्यस्तम्बः । (गो०) ४ अजैः—अयोनिजैः । (गो०) ५ वैखानसैः—ब्रह्मनखजैः । (गो०) ६ माषैः—माषगोत्रजैः । (गो०) ७ मरीचिष्यैः—रविकिरणपानव्रतनिष्टैः । (गो०)

नाग, गरुड़, गन्धर्व और सहस्रों किन्नरों से वह स्थान परिपूर्ण था । अयोनिज वैद्वानस, (अर्थात् ब्रह्मपुत्र) माष गेत्रज, बालखिल्य, सूर्य की किरणें पी कर अनुष्टान करने वाले तपस्वियों ॥ १४ ॥

अत्यन्तानियताहरैः शोभितं परमर्षिभिः ।

जितकामैश्च सिद्धैश्च चारणैरुपशोभितम् ॥ १५ ॥

तथा अत्यन्त अल्प आहार करने वाले महाषियों से वह स्थान सुशोभित था । काम को जीतने वाले सिद्ध एवं चारण उस स्थान को शोभित कर रहे थे ॥ १५ ॥

दिव्याभरणमाल्याभिर्दिव्यरूपाभिरावृतम् ।

क्रीडारतिविधिज्ञाभिरप्सरोभिः सहस्रशः ॥ १६ ॥

वहाँ पर, दिव्य आभूषण और दिव्य पुण्यहारों से भूषित, दिव्य रूप वालीं और क्रीड़ा व रति की विधि जानने वालीं हज़ारों अप्सराएँ भी थीं ॥ १६ ॥

सेवितं देवपत्नीभिः श्रीमतीभिः श्रिया वृतम् ।

देवदानवसङ्घैश्च चरितं त्वमृताशिभिः ॥ १७ ॥

वहाँ पर देवताओं को शोभायुक्त, सुथरी स्त्रियाँ भी धूम फिर रही थीं । अमृत पीने वाले देवताओं तथा दानवों के दल के दल वहाँ विचर रहे थे ॥ १७ ॥

हंसक्रौञ्चपुवा^१कीर्णं सारसैः सम्प्रणादितम् ।

वैद्वृद्यप्रस्तरं^२ रम्यं स्निग्धं सागरतेजसा^३ ॥ १८ ॥

१ पुवाः—जलकुक्कुटाः । (गो०) २ वैद्वृद्यप्रस्तरं—वैद्वृद्यमयाःप्रस्तराः ।

(गो०) ३ सागरतेजता—सागरोर्मिवैभवेन स्निग्धंसाद्रं शीतलम् । (रा०)

वह स्थान, हंस, कौच, जलकुकुट (अथवा मेंडक) और सारसों से परिपूर्ण था। वैद्यर्यमणि की शिला वहाँ विद्धी थीं, समुद्र की लहरों के हिलोरों से वह स्थान सदा ही रमणीक और शीतल बना रहता था ॥१८॥

पाण्डराणि विशालानि दिव्यमाल्ययुतानि च ।

तूर्यगीताभिजुष्टानि विमानानि समन्ततः ॥ १९ ॥

रावण ने सफेद, बड़े बड़े और दिव्य पुष्पों की मालाओं से सजे हुए, विमानों को, जिनमें गाना बजाना हो रहा था, वहाँ पर हर तरफ उड़ते हुए देखा ॥ १९ ॥

तपसा जितलोकानां कामगान्यभिसम्पत्तन्^१ ।

गन्धर्वाप्सरसश्वै ददर्श धनदानुजः ॥ २० ॥

जिन लोगों ने अपने तप के फल से अनेक लोकों में जाने का अधिकार प्राप्त कर लिया है, उनके विमान कुवेर के भाई रावण को रास्ते में मिले। कुवेर के छोटे भाई अर्थात् रावण ने, गन्धर्व और-आप्सराओं को भी वहाँ देखा ॥ २० ॥

निर्यासरसमूलानां^२ चन्दनानां सहस्रशः ।

वनानि पश्यन्सौम्यानि ग्राणतृसिकराणि च ॥ २१ ॥

वहाँ पर रावण ने सुगंध से नासिका को तृप्त करने वाले हज़ारों चन्दन के वृक्षों तथा हींग के वृक्षों के बन देखे ॥ २१ ॥

अगरुणां च मुख्यानां वनान्युपवनानि^३ च ।

तककोलानां^४ च जात्यानां^५ फलानां च सुगन्धिनाम् ॥२२

१ अभिसम्पत्तन्—मागंबशात् प्राप्नुवन् । (गो०) २ निर्यासरसमूलानां—हिंगुरुप निर्यासरसयुक्तमूलानां । (गो०) ३ वनानि—अकृत्तिमाणि । (गो०) ४ उपवनानि—कृत्तिमाणि । (गो०) ५ तककोलानां—गन्धद्रव्याणां । (गो०) ६ जात्यानां—जातिभवानां । (गो०)

अगर के बनों (अकृत्रिम) और उपबनों (कृत्रिम) को, और उत्तम फलों सहित, तथा सुगन्धित फलों से लदे अच्छी जाति के तकोल नामक वृक्षों को रावण ने रास्ते में देखा ॥ २२ ॥

पुष्पाणि च तमालस्य गुल्मानि १मरिचस्य च ।

मुक्तानां च समूहानि शुष्यमाणानि २तीरतः ॥ २३ ॥

तमाल के फूलों को, कालीमिर्च के छाटे वृक्षों को, मेतियों के ढेर को, जो समुद्र के तट पर पड़े सूख रहे थे, रावण ने देखा ॥ २३ ॥

शङ्खानां प्रस्तरं^३ चैव प्रवालनिचयं^४ तथा ।

काञ्चनानि च शैलानि राजतानि च सर्वशः ॥ १४ ॥

शङ्खों के ढेर और मूँगों के ढेर और सोने तथा चाँदी के पहाड़ों को, जो चारों तरफ थे, उसने देखा ॥ २४ ॥

प्रस्तवाणि मनोज्ञानि प्रसन्नानि हृदानि च ।

धनधान्योपपन्नानि स्त्रीरत्नैः शोभितानि च ॥ २५ ॥

उसने मनोहर भरने तथा निर्मल जल के कुण्ड देखे । फिर ऐसे नगर देखे, जो धन धान्य और सुन्दर लियों से परिपूर्ण थे ॥ २५ ॥

हस्त्यश्वरथगाढानि नगराण्यवलोकयन् ।

तं समं सर्वतः स्तिंग्यं मृदुसंस्पर्शमारुतम् ॥ २६ ॥

उनमें हाथीं घोड़े भरे हुए थे । वे घरों की पंक्तियों से युक्त थे । ऐसे कितने ही नगर रावण ने देखे । रावण ने, शोतल, मन्द-सुगन्ध पवन सहित समुद्र का तट, जो स्वर्ग जैसा सुन्दर जान पड़ता था देखा ॥ २६ ॥

१ मरिचस्य—मरीचस्य । (गो०) २ तीरतः—तीरे । (गो०) ३ प्रस्तरं—
समूहं । (गो०) ४ निचयं—समूहं । (गो०)

अनूपं सिन्धुराज्यस्य ददर्श त्रिदिवोपमम् ।

तत्रापश्यत्स मेघाभं न्यग्रोध मृषिभिर्वृतम् ॥ २७ ॥

रावण चलते, चलते वहाँ पहुँचा जहाँ एक बड़ा भारी बरगद का पेड़ था और जो मेघ के समान बड़ा और मुनियों से सेवित था ॥ २७ ॥ *

समन्ताद्यस्य ताः शाखाः शतयोजन मायताः ।

यस्य हस्तिनमादाय महाकायं च कच्छपम् ॥ २८ ॥

उसकी शाखाएं चारों ओर सौ योजन (चार सौ कोस) के घेरे में कैली हुई थीं । किसी समय महाबलवान गरुड़ जो एक बड़े भारी हाथी और कक्षुए को ॥ २८ ॥

भक्षार्थं गरुडः शाखामाजगाम महाबलः ।

तस्य तां सहसा शाखां भारेण पतगोत्तमः ॥ २९ ॥

लेकर खाने के लिये उस पेड़ की शाखा पर आ बैठे थे । गरुड़ जी तथा उन दोनों जानवरों के बीच से उसकी शाखा सहसा (टूट गयी) ॥ २९ ॥

सुपर्णः पर्णबहुलां वभञ्ज च महाबलः ।

तत्र वैखानसा माषा बालखिल्या मरीचिपाः ॥ ३० ॥

अजा वभूवधूम्राश्च सङ्गताः परमर्षयः ।

तेषां दयार्थं गरुडस्तां शाखां शतयोजनाम् ॥ ३१ ॥

जगामादाय बेगेन तौ चौभौ गजकच्छपौ ।

एकपादेन धर्मात्मा भक्षयित्वा तदामिषाम् ॥ ३२ ॥

वह शाखा जो टूटी थी, उसमें बहुत पत्ते लगे हुए थे । इसी शाखा पर वैखानस, माष, मरीचिप, बालखिल्य, अज और

* २७ वे इलोक के प्रथम पाद का अर्थ २६ वे इलोक के अर्थ में सम्मिलित है ।

धूम्र आदि बड़े बड़े ऋषि इकट्ठे थे । इन महार्षियों पर अनुग्रह कर गरुड़ जी ने उस सौ योजन वाली शाखा को एक पैर से और उन दीनों जन्तुओं को दूसरे पैर से पकड़ा । फिर वहाँ से बड़े वेग से गरुड़ जी चले गये । दूसरे पैर से गज और कच्छप को दबा, गरुड़ ने उनका माँस खाया ॥ ३०॥३१॥३२ ॥

निषादविषयं हत्वा शाखया पतगोत्तमः ।

प्रहर्षमतुलं लेभे मोक्षयित्वा महामुनीन् ॥ ३३ ॥

फिर उस शाखा से निषादों के देश का संहार कर और उन मुनियों को बचा कर वे बहुत प्रसन्न हुए ॥ ३३ ॥

स तेनैव प्रहर्षेण द्विगुणीकृतविक्रमः ।

अमृतानयनार्थं वै चकार मतिमान्मतिम् ॥ ३४ ॥

उस हर्ष के कारण मतिमान गरुड़ जी का पराक्रम दूना हो गया और उन्होंने अमृत लाने के लिए उद्योग किया ॥ ३४ ॥

अयोजालानि निर्मथ्य भित्त्वा रत्नपयं गृहम् ।

महेन्द्रभवनाद्गुप्तमाजहारामृतं ततः ॥ ३५ ॥

गरुड़ जी लोहे के जाल को काट और रत्ननिर्मित घर को फोड़, इन्द्र के घर में सुरक्षित रखे हुए अमृत को ले आये ॥ ३५ ॥

तं महर्षिगणैर्जुष्टं सुपर्णं कृतलक्षणम् ।

नाम्ना सुभद्रं न्यग्रोधं दर्दशं धनदानुजः ॥ ३६ ॥

सो रावण, उस गरुड़ चिन्हित, तथा महर्षिगण सेवित सुभद्रा नामक वट वृक्ष को देखता हुआ ॥ ३६ ॥

तं तु गत्वा परं पारं समुद्रस्य नदीपतेः ।

ददर्शश्रमपेकान्ते रम्ये पुण्ये वनान्तरे ॥ ३७ ॥

तत्र कृष्णाजिनधरं जटावल्कलधारिणम् ।

ददर्श नियताहारं मारीचं नाम राक्षसम् ॥ ३८ ॥

समुद्र के उस पार जा कर रावण ने एकान्त, पवित्र और रमणीक वन प्रदेश में कृष्ण-मृग-चर्म को ओढ़े हुए और जटाजूट सिर पर रखाये, नियमित आहार करने वाले मारीच नामक राक्षस को देखा ॥३७॥३८॥

स रावणः समागम्य विधिवत्तेन रक्षसा ।

मारीचेनार्चितो राजा^१सर्वकामैरमानुषैः ॥ ३९ ॥

रावण को देख, मारीच ने ऐसी भोग्य वस्तुओं से, जो मनुष्यों को मिलनी दुर्लभ हैं, विधिपूर्वक उसका सत्कार किया ॥ ३९ ॥

तं स्वयंपूजयित्वा तु भोजनेनोदकेन च ।

अर्थोपहितया वाचा मारीचो वाक्यमब्रवीत् ॥ ४० ॥

मारीच ने भोजन के लिये भोज्य पदार्थ और पीने के लिये जल स्वयं दे, रावण को पूजा कर, यह अर्थयुक्त वचन कहा ॥ ४० ॥

कच्चित्सुकुशलं राजललङ्घायां राक्षसेश्वर ।

केनार्थेन पुनस्त्वं वै तूर्णमेवमिहागतः ॥ ४१ ॥

हे राक्षसेश्वर ! कहिये आपकी लङ्घा में सब कुशल तो हैं। आपके पुनः इतनी जलदी यहाँ आने का क्या कारण है ॥ ४१ ॥

१ सर्वकामैः— सर्वभोग्यवस्तुभिः । (गो०)

एवमुक्तो महातेजा मारीचेन स रावणः ।

तं तु पश्चादिदं वाक्यमन्त्रवीद्वाक्यकोविदः ॥ ४२ ॥

इति पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥

जब मारीच ने यह कहा, तब वचन बोलने में निपुण महातेजस्वी रावण ने इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥ ४२ ॥

अररत्यकारणे का पैतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ

—*—

षट् त्रिंशः सर्गः

—*—

मारीच श्रूयतां तात वचनं मम भाषतः ।

आर्तोऽस्मि मम चार्तस्य भवान्हि परमा गतिः ॥ १ ॥

हे तात मारीच ! मैं जो कहता हूँ उसे तुम सुनो । इस समय मैं बहुत दुःखी हूँ । तुम ही मेरा इस दुःख से निस्तार कर सकते हो ॥ १ ॥

जानीषे त्वं जनस्थाने यथा भ्राता खरो मम ।

दृष्टग्राश्च महाबाहुः स्वसा शूर्पणखा च मे ॥ २ ॥

त्रिशिराश्च महातेजा राक्षसः पिशिताशनः ।

अन्ये च बहवः शूरा लघुलक्षा^१निशाचराः ॥ ३ ॥

वसन्त मन्त्रियोगेन नित्यवासं च राक्षसाः ।

वाधमाना महारण्ये मुनीन्वै धर्मचारिणः ॥ ४ ॥

तुम उस स्थान को तो जानते ही हो, जिस स्थान में मेरा भाई खर और महाबाहु दूषण मेरी बहिन शूरपणखा महातेजस्वी और मांस भोजी त्रिशिरा राक्षस तथा वहुत से अन्य शूरवीर, युद्ध में उत्साही राक्षस लोग, मेरी आङ्गा से वसते थे । वे सब राक्षस महावन में धर्मचारी ऋषियों के अनुष्ठान में विघ्न डाला करते थे ॥२॥३॥४॥

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां भीमकर्मणाम् ।

शूराणां लब्धलक्षणाणां खरचित्तानुवर्तिनाम् ॥ ५ ॥

इन सब राक्षसों की संख्या १४ हजार थी । ये सब के सब भयङ्कर कर्म करने वाले, शूरवीर युद्ध करने में उत्साही और खर की मर्जी के मुताविक काम करने वाले थे ॥५॥

ते त्विदानीं जनस्थाने वसमाना महाबलाः ।

सङ्गताः परमायत्ता रामेण सह संयुगे ॥ ६ ॥

वे महावली इन दिनों जनस्थान में रहते थे । वे श्रीरामचन्द्र के साथ जूझ मरे ॥६॥

नानाप्रहरणोपेतः खरप्रमुखराक्षसाः ।

तेन सञ्चातरोषेण रामेण रणमूर्धनि ॥ ७ ॥

विविध भाँति के आयुध में खर प्रमुख राक्षस गण युद्धक्षेत्र में उपस्थित हुए थे । श्रीरामचन्द्र ने क्रोध में भर उस युद्धक्षेत्र में, ॥७॥

अनुकृत्वा परुषं किञ्चिच्छ्वरैव्यपारितं धनुः ।

चतुर्दश सहस्राणि रक्षसामुग्रतेजसाम् ॥ ८ ॥

निहतानि शरैस्तीक्ष्णैर्मातुषेण पदातिना ।

खरञ्च निहतः संख्ये दूषणश्च निपातितः ॥ ९ ॥

एक भी कठोर वचन न कह कर, बाण छोड़ना आरम्भ कर दिया और १४,००० उग्रतेजा राक्षसों को मनुष्य श्रीरामचन्द्र ने पांव पियादे ही पैने बाणों से मार डाला। इस युद्ध में खर और दूषण भी मारे गये ॥ ८ ॥ ६ ॥

हतश्च त्रिशिराश्चापि निर्भया दण्डकाः कृताः ।

पित्रा निरस्तः क्रुद्धेन सभार्यः क्षीणजीवितः ॥१०॥

और त्रिशिरा को भी मार कर, राम ने दण्डक-चन-वासियों को निर्भय कर दिया। राम का आचरण ठीक नहीं जान पड़ता। क्योंकि उस ज्ञाण जीवन राम को पिता ने क्रोध कर खी सहित घर से निकाल दिया है ॥ १० ॥

स हन्ता तस्य सैन्यस्य रामः क्षत्रियपांसनः ।

दुःशीलः कर्कशस्तीक्ष्णो मूर्खो लुब्धोऽजितेन्द्रियः ॥११॥

वही दुःशील, कठोर हृदय, तोदण, मूर्ख, लोभी, अजितेन्द्रिय और त्रिव्यु-कुल-कलङ्क इस राक्षस-सेना का मारने वाला है ॥ ११ ॥

त्यक्त्वा धर्ममधर्मात्मा भूतानामहिते रतः ।

येन वैरं विनारण्ये सत्त्वमाश्रित्य केवलम् ॥१२॥

वह धर्म को त्याग और अधर्म का अवलंबन कर, सदा प्राणियों का अहित किया करता है। उसने अपने बल के घमंड में आ, विना वैर ही ॥ १२ ॥

कर्णनासापहरणाद्गिनी मे विश्विता ।

तस्य भार्या जनस्थानात्सीतां सुरसुतोपमाम् ॥१३॥

मेरी बहिन के कान नाक काट कर उसे विश्वप कर दिया। अतः जनस्थान से उसकी देवकन्या तुल्य सुन्दरी भार्या सीता की ॥ १३ ॥

आनयिष्यामि विक्रम्य सहायस्तत्र मे भव ।

त्वया हयहं सहायेन पार्श्वस्थेन महावल ॥१४॥

भ्रातुभिश्चसुरान्युद्धे समग्रान्नाभिचिन्तये ।

तत्सहायो भव त्वं मे समर्थो हयसि राक्षस ॥१५॥

ज़बरदस्ती हर लाऊँगा सो तुम इस काम में मेरी सहायता करो । हे महावल ! यदि तू मेरा सहायक बन मेरे पास रहे और मेरे भाई मेरे सहायक हों, तो मैं सारे देवताओं को भी कुछ नहीं गिनता । अतः हे राक्षस ! तू मेरो सहायता कर, क्योंकि तू सहायता करने में समर्थ है ॥ १४ ॥ १५ ॥

वीर्ये युद्धे च दर्पे च न हयस्ति सद्वशस्तव ।

उपायशो महाज्ञारः सर्वमायाविशारदः ॥१६॥

बल में, लड़ने में और दर्प में तेरे तुल्य दूसरा नहीं है । तू उपाय का जानने वाला है, बड़ा शूरबीर है तथा सब माया जानने वाला है ॥ १६ ॥

एतदर्थमहं प्राप्तस्त्वत्समीपं निशाचर ।

शृणु तत्कर्म साहाय्ये यत्कार्यं वचनान्मम ॥१७॥

हे निशाचर ! इसी लिये मैं तेरे पास आया हूँ । हे मारीच ! जिस प्रकार तुम्हें मेरी सहायता करनी पड़ेगी, सो मैं बतलाता हूँ । उसे तू सुन ॥१७॥

सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतविन्दुभिः ।

आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे चर ॥१८॥

तू चाँदी की बूँदों से युक्त सोने का हिरन बन कर, श्रीरामचन्द्र के आश्रम में जा कर सीता के सामने चरना ॥१८॥

त्वां तु निःसंशयं सीता दृष्टा तु मृगरूपिणम् ।
गृह्यतामिति भर्तारं लक्ष्मणं चाभिधास्यति ॥१९॥

ऐसे मृग का रूप धारण किये हुए तुझको देख, सीता निश्चय ही अपने स्वामी श्रीरामचन्द्र तथा लक्ष्मण से कहेगी कि, इस हिरण को पकड़ लाओ ॥ १९ ॥

ततस्तयोरपाये तु शून्ये सीतां यथासुखम् ।
निरावाधो हरिष्यामि राहुश्नदप्रभामिव ॥२०॥

जब वे तुझे पकड़ने को आश्रम से दूर चले जायेंगे, तब मैं आश्रम में जा बिना किसी वाधा के सीता को उसी प्रकार हर लाऊँगा, जिस प्रकार राहु चन्द्रमा की प्रभा को हरता है ॥ २० ॥

ततः पश्चात्सुखं रामे भार्याहरणकर्षिते ।
विश्रब्धः^१ प्रहरिष्यामि कृतार्थेनान्तरात्मना^२ ॥२१॥

तदनन्तर भार्या के हर जाने से श्रीरामचन्द्र जी शोक के मारे निर्बल हो जायेंगे । तब मैं कृतार्थ हो निर्भयता पूर्वक और धैर्य धारण कर तथा सहज में राम को पकड़ लूँगा ॥ २१ ॥

तस्य रामकथां श्रुत्वा मारीचस्य महात्मनः ।
शुष्कं समयवद्वक्त्रं परित्रिस्तो वभूव ह ॥ २२ ॥

रावण के मुख से श्रीरामचन्द्र की चर्चा सुन, महात्मा मारीच का मुख सूख सा गया और वह बहुत ही भयभीत हो गया ॥ २२ ॥

ओष्ठौ परिलिङ्गशुष्कौ नेत्रैरनिमिषैरिव ।
मृतभूत इवर्तस्तु रावणं समुदैक्षत ॥ २३ ॥

१ विश्रब्धः—निःशङ्कः । (गो०) २ अन्तरात्मना—अन्तस्थ धैर्येण । (गो०)

वह मारे चिन्ता के अपने सूखे ओंठों को चाटने लगा और उसके नेत्र कुद्द देर तक खुले के खुले हो रहे गये (अर्थात् भपके नहीं) वह मृतक की तरह आर्त हो, रावण की ओर निहारने लगा ॥ २३ ॥

स रावणं त्रस्तविषष्णचेता
महावने रामपराक्रमज्ञः ।
कृताञ्जलिस्तत्त्वमुवाच वाक्यं
हितं च तस्मै हितमात्मनश्च ॥२४॥
इति षट्त्रिंशः सर्गः ॥

वह (मारीच) पहले ही से अर्थात् महावन में खरदूषण के वध की घटना होने के पूर्व श्रीरामचन्द्र जी के पराक्रम को जानता था । अतः वह हाथ जोड़ कर, रावण से अपने और रावण के हत की बात बोला ॥ २४ ॥

अरण्यकाण्ड का छत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

सप्तत्रिंशः सर्गः ।

तच्छ्रुत्वा राक्षसेन्द्रस्य वाक्यं वाक्यविशारदः ।
प्रत्युवाच महाप्राज्ञो मारीचो राक्षसेश्वरम् ॥ १ ॥

महाप्राज्ञ राक्षसराज के यह वचन सुन, वाक्य बोलने में पटु मारीच ने उससे कहा ॥ १ ॥

सुलभाः पुरुषा राजन्सततं प्रियवादिनः ।

अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ २ ॥

हे राजन् ! मुँहसोहली बात कहने वाले लोग बहुत सहज में मिल सकते हैं; किन्तु सुनने में अप्रिय और यथार्थ में हितकारी वचनों के कहने और सुनने वाले लोग संसार में कम मिलते हैं ॥ २ ॥

न नूनं बुध्यसे रामं महावीर्यं गुणोन्नतम् ।

अयुक्तचारश्चपलो महेन्द्रवरुणोपमम् ॥ ३ ॥

निश्चय हो तू बड़े पराक्रमी, श्रेष्ठ गुणों वाले तथा इन्द्र वरुण के तुल्य रामचन्द्र जी को नहीं जानता है। क्योंकि एक तो तूने जासूस जगह जगह नियत नहीं किये, जो तुझे ठीक ठीक वृत्तान्त बतलाते रहें, दूसरे तू चञ्चल स्वभाव का है ॥ ३ ॥

अपि स्वस्ति भवेत्तात् सर्वेषां धुवि रक्षसाम् ।

अपि रामो न संकुद्धः कुर्यात्तिलोकमराक्षसम् ॥ ४ ॥

क्या रामचन्द्र से वैर बांध कर, राक्षसकुल का कल्याण हो सकता है ? कहीं कुद्ध हो कर रामचन्द्र इस भूलोक को राक्षसहीन न कर डालें ॥ ४ ॥

अपि ते जीवितान्ताय नोत्पन्ना जनकात्मजा ।

अपि सीतानिमित्तं च न भवेद्वयसनं मम ॥ ५ ॥

क्या जानकी का जन्म तुम्हारा नाश करने को तो नहीं हुआ ? कहीं सीता के लिये मुझे भारी सङ्कट में न फँसना पड़े ॥ ५ ॥

अपि त्वमीश्वरं प्राप्य कामवृत्तं^१ निरङ्कुशम् ।

न विनश्येत्पुरी लङ्का त्वया सह सराक्षसा ॥ ६ ॥

तु भ स्वेच्छाचारी निरङ्कुश स्वामी को पा कर, कहीं समस्त राक्षसों सहित लङ्कापुरी नष्ट न हो जाय ॥ ६ ॥

त्वद्विधः कामवृत्तो हि दुःशीलः २ पापमन्त्रितः ।

अत्मानं स्वजनं राष्ट्रं स राजा हन्ति दुर्मतिः ॥ ७ ॥

तेरे जैसा यथेच्छाचारी, दुःशील, बुरे विचारों वाला, दुष्ट राजा, केवल अपने आप ही को नहीं, बल्कि आत्मीय जनों सहित अपने राष्ट्र को भी चौपट कर डालता है ॥ ७ ॥

न च पित्रा परित्यक्तो नामर्यादः कथञ्चन ।

न लुब्धो न च दुःशीलो न च क्षत्रियपांसनः ॥ ८ ॥

न तो श्रीरामचन्द्र को उनके पिता ने निकाला है, न वे कभी मर्यादा की उल्लंघन करने वाले ही हैं। न वे लोभी हैं, न दुष्ट स्वभाव हैं और न क्षत्रिय-कुल-कलङ्क हैं ॥ ८ ॥

न च धर्मगुणैर्हीनः कौशल्यानन्दवर्धनः ।

न तीक्ष्णो न च भूतानां सर्वेषामहिते रतः ॥ ९ ॥

कौशल्या के आनन्द को बढ़ाने वाले रामचन्द्र धर्म और सद्गुणों से रहित नहीं हैं। न वे उग्र स्वभाव ही के हैं और न वे प्राणियों को सताते हैं, बल्कि वे तो सब के हितैषी हैं ॥ ९ ॥

वश्चितं पितरं दृष्टा कैकेया सत्यवादिनम् ।

करिष्यामीति धर्मात्मा तात प्रवजितो वनम् ॥ १० ॥

^१ कामवृत्त — यथेच्छाच्यापारं । (गो०) २ पापमन्त्रितं — पापं दुष्टं मंत्रितं विचारो यस्यसः । (गो०)

रामचन्द्र जी, अपने सत्यवादी पिता को, कैकेयी द्वारा ठगा हुआ देख, पिता की प्रतिज्ञा को सत्य करने के लिये बन में चले आये हैं ॥ १० ॥

कैकेयाः प्रियकामार्थं पितुर्दशरथस्य च ।

हित्वा राज्यं च भोगांश्च प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ ११ ॥

उन्होंने कैकेयी और अपने पिता दशरथ को प्रसन्न करने के लिये राज्य और राजसी भोगों को छोड़, इस दण्डकबन में प्रवेश किया है ॥ ११ ॥

न रामः कर्कशस्तात्^१ नाविद्वान्नाजितेन्द्रियः ।

अनुतं दुःश्रुतं चैव नैव त्वं वक्तुमर्हसि ॥ १२ ॥

हे रावण ! न तो राम कठोर हृदय हैं, न मूर्ख हैं और न अजितेन्द्रिय ही हैं । न वे भूठ और कर्ण-कटु बचन बोलने वाले हैं । उनके लिये तुमको ऐसा न कहना चाहिये ॥ १२ ॥

रामो विग्रहवान्धर्मः साधुः सत्यपराक्रमः ।

राजा सर्वस्य लोकस्य देवानां मघवानिव ॥ १३ ॥

राम तो धर्म की साक्षात् मूर्ति हैं, वे वडे साधु और सत्यपराक्रमी हैं । जिस प्रकार इन्द्र देवताओं के नायक हैं, उसी प्रकार राम भी सब लोगों के नायक हैं ॥ १३ ॥

कथं त्वं तस्य वैदेहीं रक्षितां स्वेन रतेजसा ।

इच्छसि प्रसभं हर्तुं प्रभामिव विवस्वतः ॥ १४ ॥

१ कर्कशः—कठिन हृदयः । (गो०) २ स्वेन तेजसा—पातिव्रत्य वैभवेन ।

उन राम की सीता को, जो अपने पतिव्रता धर्म से आप ही सुरक्षित हैं, तुम किस प्रकार सूर्य की प्रभा की तरह बरजोरी हरना चाहते हो ? ॥ १४ ॥

शरार्चिषमनाधृष्यं चापखङ्गेष्यं रणे ।

रामाश्रिं सहसा दीप्तं न प्रवेष्टुं त्वमर्हसि ॥ १५ ॥

बाण रूपी ज्वाला से युक्त, स्पर्श के अयोध्य, धनुष रूपी इंधन से युक्त जलती हुई राम रूपी, आग में कूदने का दुर्साहस तुमको न करना चाहिये ॥ १५ ॥

धनुव्यादितदीप्तास्यं शरार्चिषमर्षणम् ।

चापपाशधरं वीरं शत्रुसैन्यप्रहारिणम् ॥ १६ ॥

राज्यं सुखं च सन्त्यज्य जीवितं चेष्टमात्मनः ।

नात्यासादयितुं तात रामान्तकमिहार्हसि ॥ १७ ॥

धनुष का चढ़ाना ही जिसका खुला हुआ प्रदीप मुख है । बाण ही जिसका प्रकाश है और न सहने योग्य धनुर्वाण धारण किये हुए, शत्रुसैन्य विनाशकारी राम रूपी काल का सामना कर, तुम राज्यसुख, अपने जीवन और अपने इष्ट से क्यों हाथ धोना चाहते हो ॥ १६ ॥ १७ ॥

अपमेयं हि तत्त्वेजो यस्य सा जनकात्मजा ।

न त्वं समर्थस्तां हर्तुं रामचापाश्रयां बने ॥ १८ ॥

जिन रामचन्द्र की भार्या सीता है, उनके तेज की तुलना नहीं है । जो सीता रामचन्द्र के धनुष के बल से रक्षित है, उन्हें तुम हरने की सामर्थ्य अपने में नहीं रखते ॥ १८ ॥

तस्य सा नरसिंहस्य सिंहोरस्कस्य भामिनी ।

प्राणेभ्योऽपि प्रियतरा भार्या नित्यमनुव्रता ॥ १९ ॥

पुरुषसिंह और सिंह जैसे वक्षःस्थल वाले रामचन्द्र, अपनी पतिव्रता भार्या को, अपने प्राणों से बढ़ कर प्यारी समझते हैं ॥ १९ ॥

न सा धर्षयितुं शक्या मैथिल्योजस्विनः प्रिया ।

दीपस्येव हुताशस्य शिखा सीता सुमध्यमा ॥ २० ॥

वह सूक्ष्म कठि वाली सीता प्रज्ञवलित अग्नि शिखा के समान है । रामचन्द्र जी की प्यारी मैथिली को हर लाने की सामर्थ्य किसी में नहीं है ॥ २० ॥

किमुद्यममिमं व्यर्थं कृत्वा ते राक्षसाधिप ।

दृष्टश्चेत्त्वं रणे तेन तदन्तं तव जीवितम् ॥ २१ ॥

हे राक्षसेश्वर ! तुम यह वृथा उद्योग क्यों करते हो ? यदि कहीं तुम राम के सामने पड़ गये, तो युद्ध में फिर तुम जीते नहीं बचोगे ॥ २१ ॥

जीवितं च सुखं चैव राज्यं चैव सुदुर्लभम् ।

यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कृथा रामविप्रियम् ॥ २२ ॥

राज्य, सुख और यह जीवन, संसार में महादुर्लभ वस्तुएं हैं । यदि इन वस्तुओं को चिरकाल तक उपभोग करने की इच्छा हो, तो रामचन्द्र से विगाड़ मत करो ॥ २२ ॥

न सर्वैः सचिवैः सार्धं विभीषणपुरोगमैः ।

मन्त्रयित्वा तु धर्मिष्ठैः कृत्वा निश्चयमात्मनः ॥ २३ ॥

जान पड़ता है, तुमने सीता के हरने का निश्चय, अपने सब सचिवों तथा धर्मिष्ठ विभीषणादि कुदुम्बियों से परामर्श किये बिना ही कर डाला है ॥ २३ ॥

देषाणां च गुणानां च सम्प्रधार्य बलावलम् ।

आत्मनश्च बलं ज्ञात्वा राघवस्य च तत्वतः ।

हिताहितं विनिश्चित्य क्षमं त्वं कर्तुमर्हसि ॥ २४ ॥

तुमको उचित है कि, दोषों और गुणों की विशेषता और न्यूनता तथा अपने और श्रीरामचन्द्र जी के बलावल का तथा हिताहित का यथार्थ विचार कर, जो अच्छा जान पड़े, सा करो ॥ २४ ॥

अहं तु मन्ये तव न क्षमं रणे

समागमं कोशलराजसुनुना ।

इदं हि भूयः शृणु वाक्यमुक्तम्

क्षमं च युक्तं च निशाचरेश्वर ॥ २५ ॥

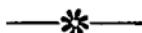
इति सप्तत्रिंशः सर्गः ॥

हे राजसेश्वर ! मेरी जान में तो कोशलराज के पुत्र के साथ तुम्हारा युद्ध छेड़ना सर्वथा अनुचित है। फिर भी मैं तुम्हारी भलाई के लिये और कई एक युक्तियुक्त बातें कहता हूँ, उनको तुम सुनो ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का सैंतोसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।



अष्टत्रिंशः सर्गः



कदाचिदप्यहं वीर्यात्पर्यटन्पृथिवीमिमाम् ।

बलं नागसहस्रस्य^१धारयन्पर्वतोपमः ॥ १ ॥

हे रावण ! किसी समय में अपने पराक्रम के अभिमान में चूर,
इस पृथिवीमण्डल पर घूमता था । मेरे पर्वत के समान शरीर में
एक हजार हाथियों का बल था ॥ १ ॥

नीलजीमूतसङ्काशस्तमकाञ्चनकुण्डलः ।

भयं लोकस्य जनयन्किरीटी परिधायुधः ॥ २ ॥

व्यचरं दण्डकारण्ये ऋषिमांसानि भयक्षन् ।

विश्वामित्रोऽथ धर्मात्मा मद्वित्रस्तो महामुनिः ॥ ३ ॥

मेरे शरीर की कान्ति नोले रंग के बादल के समान थी । कानों
में तपाये हुए सोने के कुण्डल पहिने, मस्तक पर किरीट धारण किये
और हाथ में परिधि लिये हुए, तथा लोगों को भय उपजाता हुआ; मैं
दण्डकवन में घूम घूम कर, ऋषियों का मांस खाता था । अनन्तर
धर्मात्मा महाष विश्वामित्र मेरे भय से भीत हो, ॥ २ ॥ ३ ॥

स्वयं गत्वा दशरथं नरेन्द्रमिदमब्रवीत् ।

अद्य रक्षतु मां रामः पर्वकाले^२ समाहितः ॥४॥

१ नागो गजः । (गो०) २ पर्वकाले—यागकाले । (रा०)

मारीचान्मे भयं घोरं समुत्पन्नं नरेश्वर ।
इत्येवमुक्तो धर्मात्मा राजा दशरथस्तदा ॥५॥

स्वयं महाराज दशरथ के पास जा, उनसे यह बात बोले, हे नरेश्वर ! मारीच का मुझे बहुत डर लगता है, अतः श्रीरामचन्द्र जी को मेरे पास रह कर, यज्ञकाल में मेरी रक्षा करनी होगी । ऐसा मुनि का वचन सुन, धर्मात्मा महाराज दशरथ ने, ॥५॥५॥

प्रत्युवाच महाभागं विश्वामित्रं महामुनिम् ।
बालो द्वादशवर्षोऽयमकृताख्यं राघवः ॥६॥

महाभाग और महामुनि विश्वामित्र से उत्तर में कहा— श्रीरामचन्द्र जी अभी बारह वर्ष की उम्र के बालक हैं और अख्य विद्या भी इनको नहीं आती ॥ ६ ॥

कामं^१ तु मम यत्सैन्यं मया सह गमिष्यति ।
बलेन चतुरङ्गेण स्वयमेत्य निशाचरान् ॥७॥
वधिष्यामि मुनिश्वेष्ट शत्रूस्तव यथेष्पितम् । *
इत्येवमुक्तः स मुनी राजानमिदमब्रवीत् ॥८॥

अतः हे मुनिश्वेष्ट ! (यह तो आपके साथ नहीं जायगे, किन्तु) आपका काम करने के लिये मैं स्वयं अपनी बड़ी चतुरङ्गिनी सेना सहित चल कर, आपके शत्रु निशाचरों का आपकी इच्छा के अनुसार वध करूँगा । महाराज के ये वचन सुन, विश्वामित्र जी ने महाराज से यह कहा ॥ ७ ॥ ८ ॥

१ कामं—भृशं । (गो०) *पाठ्न्तरे—“मनसेष्पितान् ।”

रामान्नान्यद्वलं लोके पर्यासं तस्य रक्षसः ।
देवतानामपि भवान्समरेष्वभिपालकः ॥१॥
आसीत्तव कृतं कर्म त्रिलोके विदितं नृप ।
काममस्तु महत्सैन्यं तिष्ठत्विह परन्तप ॥१०॥

यद्यपि आप युद्ध में देवताओं के भी रक्षक होने में समर्थ हैं और आपके वीरत्वपूर्ण कार्य तीनों लोकों में विख्यात हैं, तथापि श्रीरामचन्द्र को छोड़ और किसी में इतना बल नहीं, जो उस राक्षस का सामना कर सके। अतः हे परन्तप ! आप अपनी चतुरझिनी सेना को यहीं रहने दीजिये ॥ ६ ॥ १० ॥

बालोऽप्येष महातेजाः समर्थस्तस्य निश्रहे ।
गमिष्ये राममादाय स्वस्ति तेस्तु परन्तप ॥११॥

यह महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र बालक हुए तो क्या, यही उस राक्षस का निश्रह करने में समर्थ हैं। अतः हे परन्तप ! आपका मङ्गल हो, मैं राम को अपने साथ ले जाऊँगा ॥ ११ ॥

एवमुक्त्वा तु स मुनिस्तमादाय नृपात्मजम् ।
जगाम परमप्रीतो विश्वामित्रः स्वमाश्रमम् ॥१२॥

महर्षि विश्वामित्र यह कह कर और श्रीरामचन्द्र जी को अपने संग ले, परम प्रसन्न होते हुए अपने सिद्धाश्रम में आये ॥१२॥

तं तदा दण्डकारण्ये यज्ञमुहिश्य दीक्षितम् ।
बभूवोपस्थितो रामश्चित्रं विस्फारयन्धनुः ॥ १३ ॥

१ विस्फारयन्धनुः—रामः चित्रधनुः विस्फारयन् नयन् सन् रक्षणाय समीपं प्राप्तो बभूवेत्यर्थः । (गो०)

तदनन्तर जब महर्षि विश्वामित्र ने यज्ञ-दीक्षा ली, तब श्रीराम-चन्द्र जी अपने विचित्र धनुष को ले, विश्वामित्र जी के यज्ञ की रक्षा के लिये उनके पास उपस्थित हुए ॥ १३ ॥

अजातव्यञ्जनः^१ श्रीमान्पद्मपत्रनिभेक्षणः ।

एकवस्त्रधरो^२ धन्वी शिखी^३ कनकमालया ॥१४॥

शोभयन्दण्डकारण्यं दीप्तं स्वेन तेजसा ।

अदृश्यत ततो रामो बालचन्द्र इवोदितः ॥१५॥

उस समय बालरूप श्रीमान् रामचन्द्र जिनके पद्मपत्र के समान नेत्र थे, जो ब्रह्मचर्यव्रत धारण किये हुए थे, जिनके हाथ में धनुष था, जिनकं सिर पर कुलाचित शिखा थी और जो सुवर्ण की माला गले में पहिने हुए थे, अपने प्रदीप तेज से दगड़कवन को सुशोभित करते हुए, ऐसे देख पड़ते थे; जैसे उदयकाल में द्वितीया का चन्द्रमा शोभायुक्त देख पड़ता है ॥ १४ ॥ १५ ॥

ततोऽहंमेघसङ्काशस्तमकाञ्चनकुण्डलः ।

बली दत्तवरो दर्पादाजगाम तदाश्रमम् ॥१६॥

तब मैं (कृष्ण) मेघाकार, सौने के कुण्डल पहिने हुए और वर प्रभाव से बल के मद में मत्त हो, विश्वामित्र जी के आश्रम में गया ॥ १६ ॥

तेन दृष्टः प्रविष्टोऽहं सहसैवोद्यतायुधः ।

मां तु दृष्टाधनुः सज्यमसम्भ्रान्तश्चकार सः ॥१७॥

१ अजातव्यञ्जनः — अनुत्पन्नयौवन लक्षणः । (गो०) २ एकवस्त्रधरः — ब्रह्मचर्यवतेस्थितः । (गो०) ३ शिखी—कुष्ठोचितशिखायुधः । (गो०)

निर्भय अथवा सावधान राम ने मुझे हथियार लिये हुए आते देख, तुरन्त हर्षित हो अपने धनुष पर रोदा चढ़ाया ॥ १७ ॥

अवजानन्हं मोहाद्वालोऽयमिति राघवम् ।

विश्वामित्रस्य तां वेदिमभ्यधावं कृतत्वरः ॥ १८ ॥

परन्तु मैंने मूर्खतावश राम को बालक समझा और मैं विश्वामित्र की बेदी की ओर फुर्ती के साथ दौड़ा ॥ १९ ॥

तेन मुक्तस्ततो बाणः शितः शत्रुनिर्वर्णः ।

तेनाहं त्वाहतः क्षिप्तः समुद्रे शतयोजने ॥ १९ ॥

यह देख, रामचन्द्र ने शत्रुओं के मारने वाले एक पैने वाण को चला, मुझे वहाँ से सौ योजन दूर समुद्र में फैक दिया ॥ २० ॥

नेच्छता^१ तात मां हन्तुं तदा वीरेण रक्षितः ।

रामस्य शरवेगेन निरस्तोऽहमचेतनः^२ ॥ २० ॥

हे तात ! वीर रामचन्द्र की इच्छा उस समय मेरा बध करने की न थी, इसीसे उन्होंने मेरा बध न कर, मेरे प्राण बचाये । मैं राम के शरवेग से इतनी दूर फैके जाने के कारण मूर्छित हो गया ॥ २० ॥

पातितोऽहं तदा तेन गम्भीरे सागराम्भसि ।

प्राप्य संज्ञां चिरात्तात लङ्घां प्रति गतः पुरीम् ॥ २१ ॥

मैं इस गहरे समुद्र में आकर गिरा । फिर हे तात ! बहुत देर बाद जब मैं सचेत हुआ और लङ्घापुरी में गया ॥ २१ ॥

^१ नेच्छता—अनिच्छता । (गो०) ^२ अचेतनः—मूर्छितः । (गो०)

एवमस्मि तदा भुक्तः सहायास्तु निपातिताः^१ ।
अकृतात्मेण वालेन रामेणाक्षिष्ठकर्मणा ॥ २२ ॥

इस तरह मैं तो उस समय बच गया, किन्तु मेरे सहायक अन्य सब राज्ञसों को कठिन कार्य करने वाले श्रीरामचन्द्र ने, जो उस समय अख्य-सञ्चालन-विद्या में निपुण भी न थे, और बालक ही थे, मार डाला ॥ २२ ॥

तन्मया वार्यमाणस्त्वं यदि रामेण विग्रहम् ।

करिष्यस्यापदं घोरां क्षिप्रं प्राप्त्यसि रावण ॥ २३ ॥

इसीसे मैं तुम्हें मना कर रहा हूँ, यदि तिस पर भी तुम रामचन्द्र से लंडाई छेड़ोगे, तो घोर विपत्ति में पड़, शीघ्र ही नष्ट हो जाओगे ॥ २३ ॥

क्रीडारतिविधिज्ञानां समाजोत्सवशालिनाम् ।

रक्षसां चैव सन्तापमनर्थं चाहरिष्यसि^२ ॥ २४ ॥

तुम ! क्रीड़ा और रति की विधि को जानने वाले और सभाधों के उत्सवों को देखने वाले राज्ञसों के सन्ताप के कारण बन अनर्थ बटोरोगे ॥ २४ ॥

हर्म्यप्रासादसम्बाधां^३ नानारत्नविभूषिताम् ।

द्रक्ष्यसि त्वं पुरीं लङ्कां विनष्टां मैथिलीकृते ॥ २५ ॥

सीता को हर कर तुम मन्दिर और अटा अटारियों से पूर्ण और नाना रक्षों से भूषित लङ्का को नष्ट हुआ देखोगे ॥ २५ ॥

१ निपातिताः—हताः । (गो०) २ आहरिष्यसि — यत्नेन सम्पादयिष्यसि ।
(गो०) ३ सम्बाधां—निविडां । (गो०)

अकुर्वन्तोऽपि पापानि शुचयः^१ पापसंश्रयात् ।
परपापैर्विनश्यन्ति मत्स्या नागहृदे^२ यथा ॥ २६ ॥

जो लोग पाप नहीं करते, वे भी पापी जनों के संसर्ग से नष्ट हो जाते हैं । जैसे सर्पयुक्त जल के कुण्ड की मछलियाँ सर्पों के संसर्ग से (गरुड़ द्वारा) नष्ट होती हैं ॥ २६ ॥

दिव्यचन्दनदिग्धाङ्गान्दिव्याभरणभूषितान् ।
द्रक्ष्यस्यभिहतान्भूमौ तव दोषात्तु राक्षसान् ॥ २७ ॥

तुम अपनी करतूत से, दिव्य चन्दन से चर्चित और दिव्य वस्त्राभूषण से सुसज्जित शरीर वाले राक्षसों की भूमि पर मर कर पड़े हुए देखोगे ॥ २७ ॥

३हतदारान्सदारांश्च दश विद्रवतो दिशः ।
हतशेषानशरणान्४द्रक्ष्यसि त्वं निशाचरान् ॥ २८ ॥

हे रावण ! तुम युद्ध से बचे हुए रक्तक रहित अर्थात् अनाथ राक्षसों को या तो लियों को त्यागे हुए अथवा साथ लिये हुए दशों दिशाओं में भागते हुए देखोगे ॥ २८ ॥

शरजालपरिक्षिप्तामग्निज्वालासमावृताम् ।
प्रदग्धभवनां लङ्घां द्रक्ष्यसि त्वं न संशयः ॥ २९ ॥

बाणजाल से घिरी हुई और अग्निशिखा से पीड़ितं, भस्म गृहों से युक्त लङ्घा को, तुम निसन्देह देखोगे ॥ २९ ॥

१ शुचयः—अपापा । (गो०) २ नागहृदे—सर्पहृदे । (गो०) ३ हतदारान्—
त्यक्षदारान् । (गो०) ४ अशरणान्—रक्षकरहितान् । (गो०)

परदाराभिमर्शात् नान्यत्पापतरं महत् ।

प्रमदानां सहस्राणि तव राजन्परिग्रहः ॥ ३० ॥

हे रावण ! पराई खी को हरने से बढ़ कर कोई दूसरा पाप नहीं है । फिर तुम्हारे रजवास में तो हज़ारों लियाँ मौजूद हैं ॥ ३० ॥

भव स्वदारनिरतः स्वकुलं रक्ष राक्षस ।

मानमृद्धिं च राज्यं च जीवितं चेष्टमात्मनः ॥ ३१ ॥

अतः तुम उन्हीं अपनी लियों पर प्रीति करो और अपने कुल की, राक्षसों के मान की, राज्य की और अपने अभीष्ट जीवन की रक्षा करो ॥ ३१ ॥

कलत्राणि च सौम्यानि मित्रवर्गं तथैव च ।

यदीच्छसि चिरं भोक्तुं मा कृथा रामविप्रियम् ॥ ३२ ॥

यदि तुम परम सुन्दरी लियों और इष्ट मित्रों के साथ बहुत दिनों तक सुख भोगना चाहते हो, तो राम से विगाड़ मत करो ॥ ३२ ॥

निवार्यमाणः सुहृदा मया भृशं

प्रसहय सीतां यदि धर्षयिष्यसि ।

गमिष्यसि क्षीणवलः सवान्धवो

यमक्षयं रामशरात्जीवितः ॥ ३३ ॥

इति अष्टूर्त्रिशः सर्गः ॥

१ रामविप्रियम्—रामापराधं । (गो०) २ प्रसह्य—बलाकृत्य मामना-दृत्येत्यर्थः । (गो०)

हे रावण ! मैं तुम्हारा हितैषी मित्र हूँ। यदि इस पर भी तुम बरजोरी सीता को हरोगे, तो तुम भाईबंदों सहित क्षीणबल हो, राम के बाणों से मारे जा कर, यमपुरी सिधारोगे ॥३३॥

अरण्यकाण्ड का अड़तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनचत्वारिंशः सर्गः

—*—

एवमस्मि तदा मुक्तः कथंचित्तेन संयुगे ।

इदानीमपि यद्गृत्तं तच्छुणुष्व निस्तरम्^१ ॥ १ ॥

हे रावण ! उस समय मैं जैसे बचा सो तुमसे बतलाया, अब मैं आगे का हाल कहता हूँ, सो तुम मुझे बीच में टोंके बिना सुनो ॥ १ ॥

राक्षसाभ्यामहं द्वाभ्यामनिर्विणस्तथा कृतः ।

सहितो मृगरूपाभ्यां प्रविष्टो दण्डकावनम् ॥ २ ॥

(श्रीरामचन्द्र जी से बैर हो जाने के कारण) मैं अन्य दो मृग रूपी राक्षसों को अपने साथ ले दण्डकावन में गया, किन्तु इस बार भी मुझे परास्त होना पड़ा ॥ २ ॥

दीप्तजिह्वो महाकायस्तीक्ष्णदंष्ट्रो महाबलः ।

व्यचरं दण्डकारण्यं मांसभक्षो महामृगः ॥ ३ ॥

१ निस्तरम्—मध्ये वाक्यविच्छेदकरणेन शृणुत्यर्थः । (गो०)

२ अनिर्विणः—निवेदरहितः । (गो०)

उस समय अग्निशिखा को तरह तो मेरी जिहा लपलपाती थी और मेरे दांत बड़े पैने थे । मैं एक बड़े बलवान् मृग जैसा रूप धारण किये हुए था और मांस खाता हुआ दण्डकवन में धूम रहा था ॥३॥

अग्निहोत्रेषु तीर्थेषु चैत्यवृ क्षेषु रावण ।

अत्यन्तघोरो व्यचरं तापसान्सम्प्रधर्षयन् ॥ ४ ॥

हे रावण ! अग्निहोत्र के स्थानों में, तीर्थों में, और पूज्य वृक्षों के निकट जा, मैं अत्यन्त भयङ्कर रूप धारण कर, तपस्त्रियों को उत्पीड़ित किया करता था ॥ ४ ॥

निहत्य दण्डकारण्ये तापसान्धर्मचारिणः ।

रुधिराणि पिवंस्तेषां तथा मांसानि भक्षयन् ॥ ५ ॥

दण्डकवन में, धर्मचारी तपस्त्रियों का वध कर, उनका रक्त पीता और उनका मांस खाता था ॥ ५ ॥

ऋषिमांसाशनः क्रूरस्त्रासयन्वनगोचरान् ।

तथा रुधिरमत्तोऽहं विचरन्धर्मदृष्टकः ॥ ६ ॥

ऋषियों का मांस खाने वाला मैं अत्यन्त निष्ठुर बन, बनवासी ऋषियों को दुःख देता था । इस प्रकार रक्तपान से मतवला हो, मैं धर्म को नष्ट करता हुआ, दण्डकवन में विचरता था ॥ ६ ॥

आसादयं^३ तदा रामं तापसं धर्मचारिणम् ।

वैदेहीं च महाभागां लक्ष्मणं च महारथम् ॥ ७ ॥

तदनन्तर मैंने तपस्त्रियों के धर्म का पालन करने में निरत रामचन्द्र, भाष्यवती सीता और महारथी लक्ष्मण को भी सताया ॥ ७ ॥

तापसं नियताहारं सर्वभूतहिते रतम् ।
सोऽहं वनगतं रामं परिभ्रूय^१ महाबलम् ॥ ८ ॥

तपस्वी रामचन्द्र का, जो नियमित भोजन करने वाले हैं और जो सब प्राणियों की भलाई में तत्पर रहते हैं तथा जो महाबलवान् एवं वन में रहते हैं, मैंने फिर तिरस्कार किया ॥ ८ ॥

तापसोऽयमिति ज्ञात्वा पूर्ववैरमनुस्मरन् ।

अभ्यधावं हि संक्रुद्धस्तीक्ष्णशृङ्गो मृगाकृतिः ॥ ९ ॥

जिधासुरकृतप्रद्वस्तं प्रहारमनुस्मरन् ।

तेन मुक्ताख्यो बाणाः शिताः शत्रुनिवर्हणाः ॥ १० ॥

विकृष्य बलवच्चापं सुपर्णानिलनिस्वनाः ।

ते बाणा वज्रसङ्काशाः खुमुक्ता रक्तभोजनाः ॥ ११ ॥

मैंने समझा रामचन्द्र एक साधारण तपस्वी हैं। अतः पहले के बैर को स्मरण कर तथा क्रोध में भर, मैं मृग का रूप धारण किये हुए, नुकीले सींगों को आगे कर और उनके पराक्रम को जान कर भी, उनको मार डालने की इच्छा से, उन पर झपटा। तब उन्होंने शत्रुनाशकारी तीन पैने बाण, जो गरुड़ या पवन की तरह बड़े वेगवान्, वज्र के तुल्य श्रेष्ठ और हृषिर पीनेवाले थे, धनुष को कान तक खींच कर छोड़े ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

आजग्नुः सहिताः सर्वे त्रयः सन्नतपर्वणः ।

पराक्रमज्ञो रामस्य शरो दृष्टभयः पुरा ॥ १२ ॥

उनको अपनी ओर आते देख मैं तो भागा। क्योंकि मैं राम के पराक्रम को जानता था और पहले से भयभीत भी था ॥ १२ ॥

*समुक्रान्तस्ततो मुक्तस्तावुभौ राक्षसौ हतौ ।

शरेण मुक्तो रामस्य कथश्चित्प्राप्य जीवितम् ॥१३॥

किन्तु मेरे दोनों साथी उन बाणों के लगने से मारे गये । मैंने किसी प्रकार रामचन्द्र के बाण से अपनी रक्षा की और प्राण बचाये ॥ १३ ॥

इह प्रवाजितो^१ युक्तः२ तापसोऽहं समाहितः३ ।

वृक्षे वृक्षे च पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम् ॥ १४ ॥

अब मैं और सब दुष्टताओं की त्याग, मन को अपने वश में कर, तपस्त्रियों के लिये उपयोगी आचरण करने में तत्पर हूँ । किन्तु अब भी मुझे चीर और काले मृग का चर्म धारण किये हुए, रामचन्द्र प्रत्येक वृक्ष में देख पड़ते हैं ॥ १४ ॥

गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम् ।

अपि रामसहस्राणि भीतः पश्यामि रावण ॥ १५ ॥

हे रावण ! जैसे हाथ में फांसी लिये यमराज देख पड़ें, वैसे ही मुझे हाथ में धनुष लिये राम देख पड़ते हैं । सो एक दो राम नहीं, ऐसे राम मुझे सहस्रों देख पड़ते हैं; जिनसे मुझे बड़ा डर लगता है ॥ १५ ॥

रामभूतमिदं सर्वमरणं प्रतिभाति मे ।

राममेव हि पश्यामि रहिते राक्षसाधिष ॥ १६ ॥

१ प्रवाजितोः—कृत सकलदुवृत्तं परित्यात् । (गो०) २ युक्तः—उच्चिताचरणः । (गो०) ३ समाहितः नियतमनसः । (गो०) * शाठान्तरे “समुद्रभ्रान्तः” ।

और तो क्या, यह सारा वन ही मुझे राममय देख पड़ता है। हे राजसनाथ ! जब मैं देखता हूँ, तब मुझे राम ही देख पड़ते हैं। रामरहित स्थान तो मुझे देख ही नहीं पड़ता ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा स्वप्रगतं राममुद्भ्रमामि विचेतनः ।

रकारादीनि नामानि रामत्रस्तस्य रावण ॥ १७ ॥

मैं स्वप्रमें राम को देख घबड़ा कर मूर्छित हो जाता हूँ। हे रावण ! और तो क्या, जिन नामों के आदि में रकार होता है उनके सुनने से भी मुझे डर लगता है ॥ १७ ॥

रक्षानि च रथाश्चैव त्रासं सञ्ज्ञनयन्ति मे ।

अहं तस्य प्रभावज्ञो न युद्धं तेन ते क्षमम् ॥ १८ ॥

रत्न और रथ शब्दों के आदि में रकार होने के कारण ये शब्द भी मुझे भयभीत कर देते हैं। मैं रामचन्द्र के प्रभाव को जानता हूँ। इसीसे कहता हूँ कि, तुम रामचन्द्र से लड़ने में समर्थ नहीं हो ॥ १८ ॥

बलिं वा नमुचिं वाऽपि हन्याद्धि रघुनन्दनः ।

रणे रामेण युध्यस्व क्षमां वा कुरु राक्षस ॥ १९ ॥

रामचन्द्र में राजा बलि और नमुचि को भी मारने की शक्ति है। इस पर भी तुम्हारी इच्छा हो तो तुम चाहे उनसे लड़ो अथवा न लड़ो ॥ १९ ॥

न ते रामकथा कार्या यदि मां द्रष्टुमिच्छसि ।

वहवः साधवो लोके युक्ता धर्ममनुष्ठिताः ॥ २० ॥

किन्तु यदि तुम मुझे जीता जागता देखना चाहते हो, तो मेरे सामने राम की चर्चा भी मत करो। ऐसे अनेक साधु और धर्माचरणयुक्त लोग इस संसार में हो गये हैं ॥ २० ॥

परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः ।

सोऽहं तवापराधेन विनश्येयं निशाचर ॥ २१ ॥

जिन्हें दूसरों के किये अपराधों के कारण सकुटुम्ब नष्ट हो जाना पड़ा है । सो क्या मुझे भी तुम्हारे अपराध के लिये अपना नाश करवाना पड़ेगा ॥ २१ ॥

कुरु यत्ते क्षमं तत्त्वमहं त्वा नानुयामि ह ।

रामश्च हि महातेजा महासत्त्वो महावलः ॥ २२ ॥

तुम्हें अब जैसा सूझ पड़े वैसा तुम करो, किन्तु मैं तुम्हारे साथ नहीं चलूँगा । क्योंकि रामचन्द्र वडे तेजस्वी, पराक्रमी और वडे बलवान् हैं ॥ २२ ॥

अपि राक्षसलोकस्य न भवेदन्तको हि सः ।

यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः ॥ २३ ॥

अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाक्षिण्ठकर्मणा ।

अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः ॥ २४ ॥

कहीं ऐसा न हो कि, राक्षसों का नाम निशान तक न रह जाय । यद्यपि जनस्थान का रहने वाला खर, शूर्पणखा के लिये अक्षिण्ठकर्मा रामचन्द्र द्वारा मारा गया ; तथापि यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो, हे रावण ! तुम्हीं बतलाओ, इसमें रामचन्द्र का क्या अपराध है ? ॥ २३॥२४ ॥

इदं वचो बन्धुहितार्थिना मया

यथोच्यमानं यदि नाभिपत्स्यसे ।

सवान्धवस्त्यक्ष्यसि जीवितं रणे
हतोऽद्य रामेण शरैरजिह्वगैः ॥ २५ ॥
इति एकोनचत्वारिंशः सर्गः ॥

तुम मेरे बन्धु हो, इसीसे मैंने तुम्हारो भलाई के लिये ही ये सब बातें तुमसे कही हैं। यदि तुम मेरी बातों को न मानोगे, तो (स्मरण रखना) तुम सपरिवार रामचन्द्र के बाणों से युद्ध में मारे जाओगे ॥ २५ ॥

अरण्यकाण्ड का उन्तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

चत्वारिंशः सर्गः

—*—

मारीचेन तु तद्वाक्यं क्षमं युक्तं निशाचरः ।
उक्तो न प्रतिज्ञाह मर्तुकाम इवौषधम् ॥ १ ॥

युक्तियुक्त और मानने योग्य बचनों को सुन कर भी, रावण वैसे ही न माना, जैसे अपना मरण चाहने वाला आदमी औषध (का प्रभाव) नहीं मानता ॥ १ ॥

तं पथ्यहितवक्त्तारं मारीचं राक्षसाधिपः ।
अब्रवीत्परुषं वाक्यमयुक्तं कलाचोदितः ॥ २ ॥

उस समय, मृत्यु से ब्रेरित रावण ने हितकर और युक्तियुक्त बचन कहने वाले मारीच से ऊटपटांग और कठोर बचन कहे ॥ २ ॥

यत्किलैतदयुक्तार्थं मारीच भयि कथ्यते ।
वाक्यं निष्फलमर्त्यर्थमुप्तं बीजमिवोषरे ॥ ३ ॥

हे मारीच ! तुमने जो यह मेरी इच्छा के विरुद्ध वचन मुझसे कहे, सो ठीक नहीं हैं और ऊसर भूमि में बीज फैक देने के समान निष्फल हैं ॥ ३ ॥

त्वद्वाक्यैर्न तु मां शक्यं भेत्तुं रामस्य संयुगे^१ ।
पापशीलस्य मूर्खस्य मानुषस्य विशेषतः ॥ ४ ॥

तुम्हारे ये वचन मेरी राम के विषय की धारणा को अन्यथा नहीं कर सकते । अर्थात् सीताहरण सम्बन्धी भावी युद्ध से मेरा मन नहीं फेर सकते । मैं उस पापी, मूर्ख और विशेष कर मनुष्य राम से नहीं डरता, ॥ ४ ॥

यस्त्यक्त्वा सुहृदो राज्यं मातरं पितरं तथा ।
खीवाक्यं प्राकृतं^२ श्रुत्वा वनमेकपदे^३ गतः ॥ ५ ॥

जिसने अपने सुहृदों को, राज्य को और माता पिता को छोड़, केवल खी के निःसार वचनों से वनवास करना तुरन्त अङ्गीकार कर लिया ॥ ५ ॥

अवश्यं तु मया तस्य संयुगे खरघातिनः ।
प्राणैः प्रियतरा सीता हृतव्या तव सन्निधौ ॥ ६ ॥

मैं तो युद्ध में खर का वध करने वाले उस राम की प्राणों से भी अधिक प्यारी भार्या को अवश्य हरँगा ॥ ६ ॥

^१ रामस्यसंयुगे रामस्यविषये । (गो०) ^२ प्राकृत—असारं । (गो०)
^३ एकपदे—उत्तरक्षणे । (गो०)

एवं मे निश्चिता बुद्धिर्हदि मारीच वर्तते ।

न व्यावर्तयितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥ ७ ॥

मारीच ! इस विषय में मेरे मन की ऐसी दृढ़ धारणा है कि,
देवताओं सहित इन्द्र भी उसे नहीं पलट सकते ॥ ७ ॥

दोषं गुणं वा संपृष्टस्त्वमेवं वक्तुमर्हसि ।

अपायं वाऽप्युपायं वा कार्यस्यास्य विनिश्चये ॥ ८ ॥

यदि मैंने तुमसे इस विषय में कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय
करने को गुण दोष पूँछे होते, तो ये सब बातें तुम कह सकते थे ॥ ८ ॥

संपृष्टेन तु वक्तव्यं सचिवेन विपश्चिता ।

उद्यताञ्जलिना राज्ञे य इच्छेद्रूतिमात्मनः ॥ ९ ॥

जो मंत्री चतुर और ऐश्वर्य के अभिलाषी होते हैं, वे राजा द्वारा
कोई बात पूँछी जाने पर हाथ जोड़ कर उचित उत्तर देते हैं ॥ ९ ॥

वाक्यमपतिकूलं तु मृदुपूर्वं हितं शुभम् ।

उपचारेण^२ युक्तं च वक्तव्यो वसुधारिषः ॥ १० ॥

क्योंकि राजा से बड़े सम्मान के साथ, अनुकूल, कोमल,
हितयुक्त और शुभ वचन ही कहने चाहिये ॥ १० ॥

सवामदं^३ तु यद्वाक्यं मारीच हितमुच्यते ।

नाभिनन्दति तद्राजा मानार्हो मानवर्जितम् ॥ ११ ॥

हे मारीच ! हितकर भी वचन यदि तिरस्कार पूर्वक कहा जाय, तो
माननीय राजा उस मानवर्जित वचन को सुन, प्रसन्न नहीं होते ॥ ११ ॥

^१ भूति—ऐश्वर्य ॥ (गो०) ^२ उपचारेणयुक्त—षड्मानेनपुरस्कृतं ।

(गो०) ^३ सवामदं—तिरस्कारसहित । (गो०)

पञ्च रूपाणि राजानो धारयन्त्यमितौजसः ।

अग्नेरिन्द्रस्य सोमस्य वरुणस्य यमस्य च ॥ १२ ॥

अमित तेज वाला राजा, अग्नि, इन्द्र, चन्द्र, यम और वरुण, इन पाँच देवताओं का रूप धारण करता है ॥ १२ ॥

औष्ठयं^१ तथा विक्रमं च सौम्यं^२ दण्डं^३ प्रसन्नताम् ।

धारयन्ति महात्मानो राजानः क्षणदाचर ॥ १३ ॥

इसीसे राजा में, अग्नि का मुख्य गुण उषणत्व अर्थात् तीक्ष्णता, इन्द्र का मुख्य गुण पराक्रम, चन्द्रमा का मुख्य गुण आल्हादकरत्व (देखने से देखने वालों को प्रसन्नता उत्पन्न करने वाला) यम का मुख्य गुण दण्ड अर्थात् दुष्टों का निश्रह और वरुण का मुख्य गुण प्रसन्नता पाये जाते हैं ॥ १३ ॥

तस्मात्सर्वास्ववस्थासु मान्याः^४ पूज्याश्च^५ पार्थिवाः ।

त्वं तु धर्मविज्ञाय केवलं मोहमास्थितः^६ ॥ १४ ॥

अतः सब अवसरों में राजा का मन से सम्मान और वाणी से सत्कार करना चाहिये । तूने राजधर्म को त्याग कर, अज्ञान का आश्रय लिया है (अर्थात् तू राजधर्म नहीं जानता और मूर्ख है) ॥ १४ ॥

अभ्यागतं मां दौरात्म्यात्पर्षं वक्तुमिच्छसि ।

गुणदोषौ न पृच्छामि क्षमं चात्मनि राक्षस ॥ १५ ॥

१ औष्ठयं—तैक्ष्णयं । (गो०) २ सौम्यं—आल्हादकरत्वं । (गो०)

३ दण्डं—दुष्टनिश्रहं । (गो०) ४ मान्याः—मनसापूज्याः । (गो०) ५ पूज्याः—वाचा बहुमन्तव्याः । (गो०) ६ धर्म—राजधर्म । (गो०) ७ मोहं—अज्ञानं । (गो०)

इसीसे तेरे घर में अतिथि रूप में आने पर भो तूने दुर्जनतावश मुझसे ऐसे कठोर वचन कहे हैं। मैं (अपने भावी कर्तव्य के) न तो तुझसे गुण और दोष ही पूँछता हूँ और न अपनी भलाई (का उपाय) ॥१५॥

मयोक्तं तव चैतावत्सम्प्रत्यमितविक्रम ।

अस्मिस्तु त्वं महाकृत्ये साहाय्यं कर्तुमर्हसि ॥ १६ ॥

हे अमित विक्रमी ! मेरा तो तुझसे इतना ही कहना है कि, सीताहरण के इस महाकार्य में तू मेरी सहायता कर ॥ १६ ॥

शृणु तत्कर्म साहाय्ये यत्कार्यं वचनान्मम ।

सौवर्णस्त्वं मृगो भूत्वा चित्रो रजतविन्दुभिः ॥ १७ ॥

मेरे कथनानुसार मेरी सहायता तुझे किस प्रकार करनी होगी सो भी मैं कहता हूँ, सुन । तू सोने और चांदी की बुन्दकियों-दार हिरन बन कर ॥ १७ ॥

आश्रमे तस्य रामस्य सीतायाः प्रमुखे^१ चर ।

प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

रामाश्रम में जा और वहाँ सीता के सामने (घास) चरने लग । फिर सीता को लुभा कर, जहाँ इच्छा हो वहाँ चला जा ॥ १८ ॥

त्वां तु मायामृगं दृश्वा काश्वनं जातविस्मया ।

आनयैनमिति क्षिप्रं रामं वक्ष्यति मैथिली ॥ १९ ॥

तेरे सोने के बनावटी मृग रूप को देख सीता को आश्चर्य होगा और वह राम से तुरन्त मृग को पकड़ लाने को कहेगी ॥ १९ ॥

^१ प्रमुखे—अग्रे । (गो०)

अपक्रान्ते तु काकुत्स्थे दूरं यात्वा व्युदाहर ।
हा सीते लक्ष्मणेत्येवं रामवाक्यानुरूपकम् ॥ २० ॥

जब राम आश्रम से निकल तेरा पीछा करे, तब तू दूर जा कर,
ठीक रामचन्द्र जी की बोली में “हा सीते” “हा लक्ष्मण” कह कर
चिल्लाना ॥२०॥

तच्छ्रुत्वा रामपदवीं^१ सीतया च प्रचोदितः ।

अनुगच्छति सम्भ्रान्तः सौमित्रिरपि सौहृदात् ॥ २१ ॥

तब ऐसा शब्द सुन सीता लक्ष्मण को भेजेगी और लक्ष्मण
भाई के प्रेम से राम के मार्ग का अनुसरण करेंगे ॥२१॥

अपक्रान्ते च काकुत्स्थे लक्ष्मणे च यथासुखम्^२ ।

आनयिष्यामि वैदेहीं सहस्राक्षः शचीमिव ॥ २२ ॥

राम और लक्ष्मण के आश्रम से चले जाने पर, मैं बिना प्रयास
ही सीता को उसी प्रकार ले आऊँगा, जिस प्रकार इन्द्र शची को
ले आये थे ॥ २२ ॥

एवं कृत्वा त्विदं कार्यं यथेष्टं गच्छ राक्षस ।

राज्यस्याधीं प्रयच्छामि मारीच तव सुव्रत ॥ २३ ॥

हे राक्षस ! बस मेरा इतना काम कर चुकने पीछे, तू जहाँ
चाहे वहाँ चले जाना । (इस काम के पारिश्रमिक में), हे सुव्रत
मारीच ! मैं तु के अपना आधा राज्य दूँगा ॥२३॥

गच्छ सौभ्यं शिवं^३ मार्गं^४ कार्यस्यास्य विवृद्धये ।

अहं त्वानुर्जमिष्यामि सरथो दण्डकावनम् ॥ २४ ॥

^१ पदवीं—मार्ग । (गो०) ^२ यथासुखं—यत्वंबिना । (गो०) ^३ शिवं—
मनोहरं । (गो०) ^४ मार्गं—मृगसम्बन्धरूपं मार्गं । (गो०)

हे सौम्य ! तुम इस कार्य को पूरा करने के लिये मृगों के चलने के मनोहर मार्ग से चलो । मैं भी रथ सहित तुम्हारे पीछे दण्डकवन में आता हूँ ॥ २४ ॥

प्राप्य सीतामयुद्धेन वश्वित्वा तु राघवम् ।
लङ्घां प्रति गमिष्यामि कृतकार्यः सह त्वया ॥ २५ ॥

इस प्रकार छलवल से बिना युद्ध किये ही राम की सीता को पा कर, मैं कृतकार्य हो, तेरे साथ लङ्घा की ओर चल दूँगा ॥ २५ ॥

न चेत्करोषि मारीच हन्मि त्वामहमद्य वै ।
एतत्कार्यमवश्यं मे बलादपि^१ करिष्यसि ।
राज्ञो हि प्रतिकूलस्थो न जातु सुखमेधते ॥ २६ ॥

यदि तू मेरा यह काम न करेंगा, तो मैं तुझे अभी मार डालूँगा । तुझे मेरा यह काम अपनी इच्छा न रहते भी अवश्य करना होगा । क्योंकि कोई आदमी राजा के विरुद्ध आचरण कर, सुखी नहीं रह सकता ॥ २६ ॥

आसाद्य तं जीवितसंशयस्ते
मृत्युर्ध्रुवो हयद्य मया विरुद्ध्य ।
एतद्यथावत्प्रतिगृहये^२ बुद्ध्या
यदत्र पथ्यं कुरु तत्था त्वम् ॥ २७ ॥

इति चत्वारिंशः सर्गः ॥

^१ बलादपि—अनिच्छनानि । (गो०) ^२ प्रतिगृह्य—निश्चित्य । (गो०)

राम के पास जाने से तो तुझे अपने बचने की केवल शङ्का मात्र ही है। किन्तु मेरी इच्छा के विरुद्ध आचरण करने से तेरी मौत निश्चित ही है। अतः इन दोनों बातों को सोच विचार कर, तुझे अपने लिये जो हितकर जान पड़े, सो अब कर ॥२७॥

अरण्यकाण्ड का चालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकचत्वारिंशः सर्गः

—*—

आज्ञसोऽराजवद्वाक्यं प्रतिकूल निशाचरःः ।

अब्रवीत्पृष्ठं वाक्यं मारीचो राक्षसाधिपम् ॥ १ ॥

जब प्रतिकूल बचन कहने पर राक्षसनाथ रावण ने राजाओं की तरह इस प्रकार आज्ञा दी, तब मारीच ने निर्भीक हो उससे ये कठोर बचन कहे ॥१॥

केनायमुपदिष्टस्ते विनाशः पापकर्मणा ।

सपुत्रस्य सराष्ट्रस्य सामात्यस्य निशाचर ॥ २ ॥

हे राक्षस ! किस पापी ने तुम्हें यह उपदेश दिया है, जिससे तुम अपने राज्य, मंत्रियों और पुत्रों सहित नाश की प्राप्त हो ॥२॥

कस्त्वया सुखिना राजन्नाभिनन्दति पापकृत् ।

केनेदमुपदिष्टं ते मृत्युद्वारमुपायतः^१ ॥ ३ ॥

^१ उपायतः—व्याजेन । (गो०)

वह कौन पापी है, जो तुम्हें सुखी देख सुखी नहीं है ?
किसने उपाय के छल से यह तुम्हारी मौत का उपाय तुमको
सुझाया है ? ॥३॥

शत्रवस्तव सुव्यक्तं हीनवीर्या निशाचराः ।

इच्छन्ति त्वां विनश्यन्तमुपरुद्धं बलीयसा ॥ ४ ॥

हे राज्ञसनाथ ! यह तो स्पष्ट ही है कि, तुम्हारे शत्रु बलहीन
हो गये हैं, इसीसे वे चाहते हैं कि, कोई बलवान आ कर, तुम्हें घेर
ले और तुम्हें नष्ट कर डाले ॥ ४ ॥

केनेदमुपदिष्टं ते क्षुद्रेणाहितवादिना ।

यस्त्वामिच्छति नश्यन्तं स्वकुतेन निशाचर ॥ ५ ॥

हे रावण ! वह कौन नीच और तुम्हारा अहितकारी शत्रु है, जो तुम्हें
यह शिक्षा दे, तुम्हारा नाश तुम्हारे ही हाथों करवाना चाहता है ॥५॥

वध्याः खलु न हन्यन्ते सचिवास्तव रावण ।

ये त्वामुत्पथमारुद्धं न निगृह्णन्ति सर्वशः ॥ ६ ॥

हे रावण ! सचिव अवश्य ही अवध्य हैं । किन्तु वे सचिव अवश्य
मार डालने योग्य हैं, जो तुम्हें कुमार्ग पर चलने से नहीं रोकते ॥६॥

अमात्यैः कामवृत्तो हि राजा कापथमाश्रितः ।

निग्राहयैः सर्वथा सद्विनं निग्राहयो निगृहयसे ॥ ७ ॥

जब राजा यथेच्छाचारी हो कुमार्गगमी होने लगे, तब मंत्रियों
का यह कर्तव्य है कि, वे उसे सर्वप्रकार रोकें, किन्तु तुम्हें कौन
रोके । तुम तो किसी का कहना मानते ही नहीं ॥ ७ ॥

धर्ममर्थं च कामं च यशश्च जयतांवर ।

स्वामिप्रसादात्सचिवाः प्राप्नुवन्ति निशाचर ॥८॥

हे निशाचर ! हे विजय करने वालों में श्रेष्ठ ! मंत्रियों को अपने अपने स्वामी की प्रश्नता ही से धर्म अर्थ काम और यश की प्राप्ति होती है ॥ ८ ॥

विपर्यये तु तत्सर्थं व्यर्थं भवति रावण ।

व्यसनं स्वामिवैगुण्यात्प्राप्नुवन्तीतरे जनाः ॥ ९ ॥

और स्वामी के अप्रसन्न होने पर, हे रावण ! सब ही व्यर्थ हो जाता है । स्वामी के अप्रसन्न होने से इतर जनों को दुःख होता है ॥ ९ ॥

राजमूलोहि धर्मश्च जयश्च जयतांवर ।

तस्मात्सर्वास्ववस्थासु रक्षितव्या नशधिपाः ॥ १० ॥

हे जयतांवर ! धर्म व विजय का मूल राजा ही है, अथवा राजा ही प्रजाओं के धर्म व विजय का मूलकारण है । इसी लिये हर दशा में राजा लोगों की रक्षा करनी चाहिये ॥ १० ॥

राज्यं पालयितुं शक्यं न तीक्ष्णेन^१ निशाचर ।

न चापिप्रतिकूलेन^२ नाविनीतेन^३ राक्षस ॥ ११ ॥

हे निशाचर ! जो राजा अत्याचारी होने के कारण प्रजा जनों को अप्रसन्न रखता है और अपनी इन्द्रियों को बश में नहीं कर सकता ॥ ११ ॥

ये तीक्ष्णमन्त्राः^४ सचिवा भज्यन्ते सह तेन वै ।

विषमे^५ सुरगाः शीघ्रा मन्दसारथयो यथा ॥ १२ ॥

^१ तीक्ष्णेन—क्रूरदण्डेन । (गो०) ^२ प्रतिकूलेन—प्रजाविरुद्धेन । (गो०)

^३ अविनीतेन—इन्द्रियज्ञयरहितेन । (गो०) ^४ तीक्ष्णमन्त्राः—तीक्ष्णोपाय प्रयोक्तारः । (गो०) ^५ विषमे—निम्नोक्त व्रदेशे । (गो०) ^६ मन्द—अपदु । (गो०)

उग्र उपायों से काम लेने वाले मंत्री उस राजा के साथ अपने किये का फल उसी प्रकार भोगते हैं, जिस प्रकार ऊँची नीची ज़मीन पर तेज़ी के साथ घोड़े हाँकने वाला नौसिखुआ सारथी । (अर्थात् ऊबड़ खाबड़ सड़क पर तेज़ी के साथ रथ दौड़ाने से केवल घोड़ों ही को कष्ट नहीं होता ; किन्तु सारथी को भी कष्ट भेलना पड़ता है) ॥१२॥

बहवः साधवो लोके युक्ता^१ धर्मनुष्ठिताः ।
परेषामपराधेन विनष्टाः सपरिच्छदाः ॥ १३ ॥

हे रावण ! अनेक धर्मज्ञ जो धर्मनुष्ठान में तत्पर और नीति-मार्ग का अनुसरण करते थे, दूसरों के अपराध से अपने परिवार सहित नष्ट हो चुके हैं) ॥ १३ ॥

स्वामिना प्रतिकूलेन प्रजास्तीक्ष्णेन रावण ।
रक्ष्यमाणा न वर्धन्ते मेषा गोमायुना यथा ॥ १४ ॥

हे रावण ! उग्रस्वभाव और प्रतिकूलाचरणसम्पन्न राजा से रक्षित प्रजा की उन्नति वैसे ही नहीं होती, जैसे सियारों से रक्षित भेड़ों को उन्नति नहीं होती ॥१४॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः ।
येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः ॥ १५ ॥

जिन राक्षसों के तुम जैसे कूर स्वभाव, निर्बुद्धि और अजितेन्द्री राजा हो, वे राक्षस अवश्य ही नष्ट हो जायगे ॥ १५ ॥

तदिदं काकतालीयं^१ घोरमासादितं मया ।

अत्रैव शोचनीयस्त्वं ससैन्यो विनशिष्यसि ॥ १६ ॥

अस्तु, मैं तो इस घोर काम में हाथ डालने से मारा जाऊँगा ही (इसका मुझे सोच नहीं) सोच तो मुझे इसका है कि, तुम ससैन्य नष्ट होगे ॥१६॥

मां निहत्य तु रामश्च न चिरात्त्वां वधिष्यसि ।

अनेन कृतकृत्योऽस्मि म्रिये यदरिणा हतः ॥ १७ ॥

मुझे क्या ? मैं यहाँ न मर कर यदि शत्रु (राम) के ही हाथ से मरऊँगा तो (शत्रु के द्वारा मारे जाने के कारण) कृतकृत्य भी हो जाऊँगा; पर (याद रखो) राम तुम्हें भी अविलंब मार डालेंगे ॥१७॥

दर्शनादेव रामस्य हतं मामुपधारय ।

आत्मानं च हतं विद्धि हृत्वा सीतां सवान्धवम् ॥१८॥

तू निश्चय जान कि, जहाँ राम के सामने मैं गया कि, मैं मारा-गया (अथवा रामदर्शन ही से तू मुझे मरा समझ ले) । साथ ही सीता को हरने से तू भी अपने को परिवार सहित मरा हुआ समझ ले ॥१८॥

आनयिष्यसि चेत्सीतामाश्रमात्सहितो मया ।

नैव त्वमसि नाहं च नैव लङ्घा न राक्षसाः ॥ १९ ॥

मान लो, यदि तुम सीता को रामाश्रम से हर भी लाये और मैं भी जीता जागता बच गया, तो भी तुम्हारी, मेरी, लङ्घा की और लङ्घावासी राक्षसों की कुशल नहीं ॥१९॥

निवार्यमाणस्तु मया हितैषिणा
 न मृष्यसे वाक्यमिदं निशाचर ।
 परेतकल्पा हि गतायुषो नरा
 हितं न गृह्णन्ति सुहृद्दीरीरितम् ॥ २० ॥

इति एकचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे रावण ! मैं तेरा हितैषो हूँ । मेरे मना करने पर भी तू मेरी इन बातों पर कान नहीं देता । सो ठीक ही है, क्योंकि जिन लोगों की आयु समाप्त होने वाली होती है, वे प्रेततुल्य हो जाते हैं, और अपने मित्रों के हितकारी बचनों को नहीं माना करते ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का इकतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

द्विचत्वारिंशः सर्गः

—;*;—

एवमुक्त्वा तु बचनं मारीचो रावणं ततः ।

गच्छावेत्यब्रवीदीनो^१ भयाद्रात्रिचरप्रभोः ॥ १ ॥

मारीच ने राजसराज रावण से ऐसे कठोर बचन तो कहे, किन्तु उसके भय से भीत हो, साथ ही घबड़ा कर यह भी कहा कि, अच्छा मैं चलता हूँ ॥ १ ॥

दृष्ट्वा हं पुनस्तेन शरचापासिधारिणा ।

मद्वधोद्यतशस्त्रेण विनष्टं जीवितं च मे ॥ २ ॥

किन्तु यदि मेरे मारने को धनुर्वाण एवं खड़ लिये हुए रामचन्द्र
मुझे फिर दिखलाई पड़े, तो मेरा प्राण गया हुआ ही समझना ॥ २ ॥

न हि रामं पराक्रम्य जीवन्प्रतिनिवर्तते ।

वर्तते प्रतिरूपोऽसौ यमदण्डहतस्य ते ॥ ३ ॥

क्योंकि कोई भी पुरुष रामचन्द्र के सामने जा, अपने पराक्रम
से जीता जागता नहीं लौट सकता । क्योंकि रामचन्द्र यमदण्ड के
समान हैं । सो तुम और मैं दोनों ही मारे जायगे ॥ ३ ॥

किन्तु शक्यं मया कर्तुमेवं त्वयि दुरात्मनि ।

एष गच्छास्यहं तात स्वस्ति तेऽस्तु निशाचर ॥ ४ ॥

तुम जैसे दुरात्मा पर मेरा क्या वश है । अस्तु, हे तात !
हे निशाचर ! तेरा मङ्गल हो, ले मैं अब चलता हूँ ॥ ४ ॥

प्रहृष्टस्त्वभवत्तेन वचनेन स रावणः ।

परिष्वज्य सुसंश्लिष्टमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥

मारीच का यह वचन सुन, राक्षेश्वर रावण अत्यन्त प्रसन्न हुआ
और उसका गाढ़ आलिंगन कर, उससे यह वचन बोला ॥ ५ ॥

एतच्छौण्डीर्य^१युक्तं ते मन्त्रन्दादिव भाषितम् ।

इदानीमसि मारीचः पूर्वमन्यो निशाचरः ॥ ६ ॥

हे मारीच ! अब तुमने वीरतायुक्त बात मेरे मन के अनुसार
कही है । अब मैंने जाना कि, तुम मारीच हो । पहिले तो मैं तुम्हें
एक साधरण राक्षस समझता था ॥ ६ ॥

आरुहचतामयं शीघ्रं रथो रत्विभूषितः ।

मया सह तथा युक्तः पिशाचवदनैः खरैः ॥ ७ ॥

अब तुम इस रत्विभूषित और पिशाच-मुख वाले खरों से युक्त रथ पर मेरे साथ सवार हो लो ॥७॥

प्रलोभयित्वा वैदेहीं यथेष्टं गन्तुपर्हसि ।

तां शून्ये प्रसभं सीतामानयिष्यामि मैथिलीम् ॥ ८ ॥

और सीता को लुभा कर फिर जहाँ चाहो वहाँ चले जाना ।
इस समय मैं सूनी पा, सीता को हर लाऊँगा ॥८॥

ततो रावणमारीचौ विमानमिव तं रथम् ।

आरुहच ययतुः शीघ्रं तस्मादाश्रममण्डलात् ॥ ९ ॥

तदनन्तर मारीच और रावण विमान जैसे रथ पर सवार हुए
और तुरन्त उस आश्रम से रवाना हुए ॥९॥

तथैव तत्र पश्यन्तौ पत्तनानि वनानि च ।

गिरींश्च सरितः सर्वा राष्ट्राणि नगराणि च ॥ १० ॥

जाते हुए उन दोनों ने रास्ते में अनेक ग्रामों, बड़ों, पर्वतों,
नदियों राष्ट्रों और नगरों को देखा * ॥ १० ॥

समेत्य दण्डकारण्यं राघवस्याश्रमं ततः ।

दर्दश सहमारीचो रावणो राक्षसाधिपः ॥ ११ ॥

तदनन्तर दण्डकवन में जा, राक्षसराज रावण और मारीच
ने श्रीरामाश्रम को देखा ॥ ११ ॥

*लोगों का अनुमान है कि, वर्तमान बंबई नगर का टापू ही मारीच के रहने का स्थान था ।

अवतीर्य रथात्समात्तः काश्चनभूषणात् ।

हस्ते गृहीत्वा मारीचं रावणो वाक्यमब्रवीत् ॥ १२ ॥

तदनन्तर सुवर्णं भूषित रथ से उतर, रावण ने मारीच का हाथ पकड़ उससे कहा ॥१२॥

एतद्रामाश्रमपदं दृश्यते कदलीवृतम् ।

क्रियतां तत्सखे शीघ्रं यदर्थं वयमागताः ॥ १३ ॥

केले के बृक्षों से घिरा हुआ यही रामचन्द्र का आश्रम है; अब हे मित्र ! जिस काम के लिये हम लोग आये हैं, उसे झट पट कर डालो ॥१३॥

स रावणवचः श्रुत्वा मारीचो राक्षसस्तदा ।

मृगो भूत्वाऽऽश्रमद्वारि रामस्य विच्चार ह ॥ १४ ॥

तब रावण का यह वचन सुन, मारीच राक्षस मृग बन कर, रामाश्रम के द्वार पर विचरने लगा ॥१४॥

स तु रूपं समास्थाय महदद्रूतदर्शनम् ।

मणिप्रवरशृङ्गाग्रः सितासितमुखाकृतिः ॥ १५ ॥

उस समय मारीच ने अपना बड़ा अद्भुत मृग का रूप बनाया। नीलम की तो उसके सींगों की नींके थीं और मुख की रंगत कुछ सफेद और कुछ काली थी ॥१५॥

रक्तपद्मोत्पलमुख इन्द्रनीलोत्पलश्रवाः ।

किञ्चिदभ्युन्नतग्रीव इन्द्रनीलदलाधरः ॥ १६ ॥

मुख लाल कमल जैसा था और कान श्याम कमल के समान थे। गर्दन कुछ उठी हुई और शरीर का निचला भाग नील कमल की तरह बैजनी रंग का था ॥१६॥

कुन्देनदुवज्रसङ्काशमुदरं चास्य भास्वरम्
मधूकनिभपार्वथपद्मकिञ्जलकसन्निभः ॥ १७ ॥

उसका पेट नीले कमल के रंग का और हीरा की तरह चमकता था । महुआ के पुष्प के रंग की तरह रंग की उसकी दोनों कोखे थीं और कमल की कैसर के रंग जैसे रंग की उसकी छवि थी ॥ १७ ॥

वैद्यूर्यसङ्काशखुरस्तनुजङ्घः सुसंहतः ।
इन्द्रायुधसवणेन पुच्छेनोर्ध्वं विराजता ॥ १८ ॥

पन्ने के रंग जैसे रंग के उसके खुर, उसकी जांघे पतली और सब सन्धियाँ भरी हुई थीं; और इन्द्रधनुष जैसे रंग की पूँछ को वह उठाये हुए था ॥ १८ ॥

मनोहरःस्तिर्थवर्णो रक्षनानाविधैर्वृतः ।
क्षणेन राक्षसो जातो मृगः परमशोभनः ॥ १९ ॥

वह देखने में बड़ा मनोहर, सचिक्कन रंग का था । और तरह तरह के रक्तों के रंगों से उसका शरीर सजा हुआ था । वह मारीच क्षणभर में परम शोभायमान मृग बन गया था ॥ १९ ॥

वनं प्रज्वलयन्तरम्यं रामाश्रमपदं च तत् ।
मनोहरं दर्शनीयं रूपं कृत्वा स राक्षसः ॥ २० ॥

वह राक्षस मारीच देखने योग्य मनोहर रूप धारण कर, उस वन और रमणीक श्रीरामाश्रम को शोभित करने लगा ॥ २० ॥

प्रलोभानार्थं वैदेहया नानाधातुविचित्रितम् ।
विचरन्गच्छते तस्माच्छाद्वलानि समन्ततः ॥ २१ ॥

वह, जानकी जी को लुभाने के लिये नाना प्रकार की धातुओं
जैसे रंगों से विचित्र रूप धारण कर, हरी हरी दूब चरता हुआ,
श्रीरामचन्द्र जी के आश्रम में चारों ओर घूमने लगा ॥ २१ ॥

रूप्यैर्बिन्दुशतैश्चित्रो भूत्वा स प्रियदर्शनः ।

विटपीनां किसलयान्भड्कत्वादन्विचचार ह ॥ २२ ॥

चांदो के रंग की सैकड़ों बूँदों से विभूषित होने के कारण
वह बहुत ही भला मालूम पड़ता था और बृक्षों के कोमल पत्तों
को चरता हुआ घूमता था ॥ २२ ॥

कदलीगृहकं गत्वा कर्णिकारानितस्ततः ।

समाश्रयन्मन्दगतिः सीतासन्दर्शनं तथा ॥ २३ ॥

वह धीमी चाल से इधर उधर घूमता हुआ कभी केले के और
कभी कनैर की कुंजों की ओर जाता, जिससे सीता की दृष्टि में
वह पड़ जाय ॥ २३ ॥

राजीवचित्रपृष्ठः स विरराज महामृगः ।

रामाश्रमपदाभ्याशे विचचार यथासुखम् ॥ २४ ॥

वह, कमल पुष्प के रंग जैसी विचित्र पीठ को दिखलाता
श्रीराम के आश्रम में सुखपूर्वक (मनमाना) घूमने लगा ॥ २४ ॥

पुनर्गत्वा निवृत्तश्च विचचार मृगोत्तमः ।

गत्वा मुहूर्तं त्वरया पुनः प्रतिनिवर्तते ॥ २५ ॥

वह मृगोत्तम बार बार आश्रम में जाता और बार बार लौट
आता था । फिर कुछ ही देर बाद वह आश्रम में जाता और थोड़े ही
देर बाद वहाँ से फिर लौट आता था । इस प्रकार वह मृग आश्रम
में घूम फिर रहा था ॥ २५ ॥

विक्रीडंश कचिद्गमौ पुनरेव निषीदति ।

आश्रमद्वारपागम्य मृगयूथानि गच्छति ॥ २६ ॥

वह कुछ काल तक कुलेल करता और फिर जग्न भर विश्राम करता । फिर आश्रम के द्वार पर आ कर मृगों के झुंडों में चला जाता ॥ २६ ॥

मृगयूथेरनुगतः पुनरेव निवर्तते ।

सीतादर्शनमाकाङ्क्षन्नराक्षसो मृगतां गतः ॥ २७ ॥

और मृगों के झुंडों के पीछे पीछे हो लेता और फिर लैट आता था । उस राक्षस ने जानकी के दर्शन की इच्छा से मृग का रूप धारण किया था ॥ २७ ॥

परिभ्रमति चित्राणि मण्डलानि विनिष्पतन् ।

समुद्रीक्ष्य च तं सर्वे मृगा ह्यन्ये वनेचराः ॥ २८ ॥

वह चित्र विचित्र मण्डलाकार गतियों से (अर्थात् चक्र कर लगा कर) धूम रहा था । उसको देख हिरन तथा अन्य वनचर जन्मतु ॥ २८ ॥

उपागम्य समाध्राय विद्रवन्ति दिशो दश ।

राक्षसः सोऽपि तान्वन्यान्मृगान्मृगवधे रतः ॥ २९ ॥

उसके पास आ कर उसके शरीर को सूँघते और सूँघ कर इधर उधर भाग जाते थे । वह पशुधाती राक्षस भी ॥ २९ ॥

प्रच्छादनार्थं भावस्य न भक्षयति संस्पृशन् ।

तस्मिन्ब्रेव ततः काले वैदेही शुभलोचना ॥ ३० ॥

अपना भाव छिपाने के लिये उनको छू कर के भी वह उनको खाता न था । उस समय सुधर नेत्रों वाली सीता जी ॥ ३० ॥

कुसुमापचयव्यग्रा पादपानभ्यवर्तत ।

कर्णिकारानशोकांश्च चूतांश्च मदिरेक्षणा ॥ ३१ ॥

जानकी जी फूल तोड़ने में व्यथ कभी कनैर, कभी अशोक और कभी आम के बुद्धों के नीचे घूम रही थीं ॥३१॥

कुसुमान्यपचिन्वन्ती चचार रुचिरानना ।

अनर्हाऽरण्यवासस्य सा तं रक्षमयं मृगम् ॥ ३२ ॥

बनवास करने के अयोग्य, सुन्दर मुख्खाली सीता जी ने फूल तोड़ने के लिये इधर उधर घूमते समय उस रक्षमय मृग को देखा ॥३२॥

मुक्तामणिविचित्राङ्गं ददर्श परमाङ्गना ।

सा तं रुचिरदन्तोष्टी रूप्यधातुतनूरुहम् ॥ ३३ ॥

सुन्दर दाँतों और अधर वाली जानकी जी ने उस मणि मुक्ताओं से सर्वाङ्ग-विभूषित और रूपैके रोओं से चमकते हुए मृग को ॥३३॥

विस्मयोत्फुल्लनयना सस्नेहं समुदैक्षत ।

स च तां रामदयितां पश्यन्यायामयो मृगः ॥ ३४ ॥

आश्चर्य चकित हो बड़े प्यार से देखा । वह बनावटी हिरन भी श्रीरामचन्द्र की प्यारी जानकी को देखता रहा ॥३४॥

विचचार पुनश्चित्रं दीपयन्निव तद्वनम् ।

अदृष्टपूर्वं तं दृष्ट्वा नानारत्नमयं मृगम् ।

विस्मयं परमं सीता जगाम जनकात्मजा ॥ ३५ ॥

इति द्विचत्वारिंशः सर्गः ॥

फिर वह विश्विन मृग उस बन को सुशोभित करता हुआ वहाँ घूमने लगा। उस अपूर्व पवं अनेक रक्षमय मृग को देख, जनकदुलारी जामकी जी को बड़ा आश्चर्य हुआ ॥३५॥

अरण्यकाण्ड का व्यालीसर्वी सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रिचत्वारिंशः सर्गः

—*—

सा तं संप्रेक्ष्य सुश्रोणी कुसुमान्यपचिन्वती ।
हैमराजतवर्णाभ्यां पाश्वाभ्यामुपशोभितम् ॥ १ ॥

फूलों को चुनती हुई सीता जी ने उस मृग को देखा, जो सोने और रुपे के रंग वाली कोखीं से सुशोभित था ॥ १ ॥

प्रहृष्टा चानवद्याङ्गी मृष्ट॑हाटक॒वर्णिनी ।
भर्तारमभिचक्रन्दृ लक्ष्मणं चापि सायुधम् ॥ २ ॥

सुन्दर अंगों वाली तथा विशुद्ध सुवर्ण जैसे रंग के शरीरवाली सीता, उस हिरन को देख, अति आनन्दित हुई और आयुध ले कर आने के लिये श्रीराम और लक्ष्मण को उच्च स्वर से बुलाया ॥२॥

तयाऽऽहूतौ नरव्याघ्रौ वैदेह्या रामलक्ष्मणौ ।
वीक्षमाणौ तु तं देशं तदा ददृशतुर्मृगम् ॥ ३ ॥

१ मृष्ट—शुद्ध । (गो०) २ हाटक—सुवर्ण । (गो०) ३ भिचक्रन्द—
बलवैराङ्ग्यत । (गो०)

सीता जी के इस प्रकार पुकारने पर पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण उस ओर ताकते हुए बहाँ गये और उन्होंने भी उस मृग को देखा ॥३॥

शङ्कमानस्तु तं दृष्टा लक्ष्मणो रामब्रवीत् ।
तमेवैनमहं मन्ये मारीचं राक्षसं मृगम् ॥ ४ ॥

उस मृग को देख, लक्ष्मण के मन में सन्देह उत्पन्न हुआ और उन्होंने श्रीरामचन्द्र जी से कहा—मुझे तो मृगरूपधारी यह निशाचर मारीच जान पड़ता है ॥४॥

चरन्तो मृगयां हृष्टाः पापेनोपाधिना^१ वने ।
अनेन निहता राजनराजानः कामरूपिणा ॥ ५ ॥

हे राम ! इस पापी दुष्ट राज्ञस ने मृगरूप धारण कर के परम हर्षित हो, शिकार खेलने को वन में आये हुए अनेक राजाओं को मारा है ॥५॥

अस्य मायाविदो मायामृगरूपमिदं कृतम् ।
भानुमत्पुरुषव्याघ गन्धर्वपुरसन्निभम् ॥ ६ ॥

इस मायावो ने, इस समय माया के बल से मृग का रूप धारण किया है । हे पुरुषसिंह ! सूर्य की तरह (अथवा) गन्धर्वनगर की तरह यह मृग परम दीसि युक्त जान पड़ता है ॥ ६ ॥

मृगो ह्येवंविधो रत्नविचित्रो नास्ति राघव ।
जगत्यां जगतीनाथ मायैषा हि न संशयः ॥ ७ ॥

^१ उपाधिना—मृगरूपछलेन । (१०)

हे पृथिवीनाथ ! हे राघव ! इस धरणीतल पर तो इस प्रकार का रह्ने से भूषित विचित्र मृग कोई है नहीं । अतः निस्सन्देह यह सब बनावट है ॥ ७ ॥

एवं ब्रुवाणं काकुत्स्थं प्रतिवार्य शुचिस्मिता ।

उवाच सीता संहृष्टा चर्मणा हृतचेतना ॥ ८ ॥

द्विष्वेषधारी मृग को देखने से हतबुद्धि हुई सीता, लक्ष्मण को बोलने से रोक कर और परम प्रसन्न हो एवं मुसकरा कर, श्रीरामचन्द्र जी से बोलीं ॥ ८ ॥

आर्यपुत्राभिरामोऽसौ मगो हरति मे मनः ।

आनयैनं महाबाहो क्रीडार्थं नो भविष्यति ॥ ९ ॥

हे आर्यपुत्र ! यह परम मनोहर मृग मेरे मन को हरे लेता है । सो हे महाबाहो ! इसे तुम ले आओ । मैं इसके साथ खेला करूँगी ॥ ९ ॥

इहाश्रमपदेऽस्माकं बहवः पुण्यदर्शनाः ।

मृगाश्वरन्ति सहिताः सृमराश्वमरास्तथा ॥ १० ॥

ऋक्षाः पृष्ठसङ्घाश्व वानराः किञ्चरास्तथा ।

विचरन्ति महाबाहो रूपश्रेष्ठा मनोदराः ॥ ११ ॥

हे महाबाहो ! हमारे इस आश्रम में बहुत से मनोहर एवं श्रेष्ठ रूपवाले मृग, सृमर ऋच्छ, पृष्ठ, वानर और किञ्चरादि जातियों के अनेक जीव धूमा फिरा करते हैं ॥ १० ॥ ११ ॥

न चास्य सद्वशो राजन्दृष्टपूर्वो भृगः पुरा ।

तेजसा^१ क्षमया^२ दीप्त्या^३ यथाऽयं मृगसत्तमः ॥ १२ ॥

^१ तेजस—वर्णेन । (गो०) ^२ क्षमया—अत्वरया । (गो०) ^३ दीप्त्या—
शरीर प्रकाशोन । (गो०)

किन्तु हे राजन् ! जैसा रंग और जैसी अमर्द इस उत्तम हिरन में
है और जैसा यह शान्त स्वभाव है, वैसा हिरन तो मैंने दूसरा
पहले कभी नहीं देखा ॥१२॥

नानावर्णविचित्राङ्गो रत्नविन्दुसमाचितः ।

द्योतयन्वनमव्यग्र शोभते शशिसन्निभः ॥ १३ ॥

इसका सारा शरीर कैसा रंग बिरंगा है, वीत बीच में रङ्गों की
विंदुकी कैसी शोभा दे रही हैं। यह मृग चन्द्रमा के समान वन-
भूमि को शान्तभाव से कैसा प्रकाशित कर रहा है ॥ १३ ॥

अहो १रूपमहो लक्ष्मीः२ स्वरसंपच्च शोभना ।

मृगोऽद्भुतो विचित्राङ्गो हृदयं हरतीव मे ॥ १४ ॥

आहा ! देखो तो इसके शरीर का रंग और कान्ति कैसी अच्छी
है और कैसा मनोहर इसका शब्द है। हे राम ! यह रंग बिरंगा
अद्भुत हिरन मेरे मन को हरे लेता है ॥ १४ ॥

यदि ग्रहणमभ्येति जीवन्नेव मृगस्तव ।

आश्र्यभूतं भवति विस्मयं जनयिष्यति ॥ १५ ॥

यदि तुम कहीं इसे जीता ही पकड़ लेते, तो यह एक बड़ा आश्र्य-
प्रद पदार्थ आश्रम में रह कर, विस्मय उत्पन्न किया करता ॥ १५ ॥

समाप्तवनवासानां राज्यस्थानां च नः पुनः ।

अन्तःपुरविभूषार्थो मृग एष भविष्यति ॥ १६ ॥

फिर बनवास की अवधि बीतने पर जब हम लोग अयोध्या
चलेंगे ; तब यह मृग हमारे रनवास की शोभा होगा॥१६॥

१ रूप—वर्णः । (गो०) १ लक्ष्मीः—कान्तिः । (गो०)

भरतस्यार्यपुत्रस्त शवश्रूणां मम च प्रभो ।

१ मृगरूपमिदं व्यक्तं विस्मयं जनयिष्यति ॥ १७ ॥

हे प्रभो ! इस उत्तम सूर्ग को देख देख कर भरत, आप, मेरी सास और मैं स्वयं, विस्मित हुआ करूँगी ॥ १७ ॥

जीवन्न यदि तेऽभ्येति ग्रहणं मृगसत्तमः ।

अजिनं नरशार्दूल रुचिरं मे भविष्यति ॥ १८ ॥

यदि यह सूर्गोत्तम जीता न भी पकड़ मिले, तो हे पुरुषसिंह !
इसका चाम भी मुझे बहुत पसंद आवेगा ॥ १८ ॥

निहतस्यास्य सत्त्वस्य जाम्बूनदमयत्वचि ।

२ शश्पबृस्यां ३ विनीतायामिच्छाम्यहमुपासितुम्^४ ॥ १९ ॥

यदि यह मारा ही गया तो भी इसकी सुनहली चाम को चटाई पर बिछा कर, मैं बैठना पसन्द करूँगी ॥ १९ ॥

४ कामवृत्तमिदं रौद्रं स्त्रीणामसदृशं^५ मतम् ।

वपुषा त्वस्य सत्त्वस्य विस्मयो जनितो मम ॥ २० ॥

थद्यपि यह मैं जानती हूँ कि, मनमानी चीज़ पर मन चला कर, उसकी प्राप्ति के लिये पति को प्रेरणा करना, सती स्त्रियों के लिये सर्वथा अनुचित और भयङ्कर कृत्य है, तथापि इस सूर्ग की अद्भुत देह ने मुझे अत्यन्त विस्मित कर दिया है ॥ २० ॥

१ मृगरूप — प्रशस्तसूर्गः । (गो०) २ शश्पबृस्यां — बालतृणैः कृतायां बृस्थां । (गो०) ३ उपासितुं — स्थातुं । (गो०) ४ विनीतायां — आस्तृतायां । (गो०) ५ कामवृत्तं — भत्तृप्रेरणरूपस्वेच्छाव्यापारः । (गो०) ६ असदृशं — अयुक्तं । (गो०)

तेन काञ्चनरोमणा तु मणिप्रवरशृङ्खिणा ।

तरुणादित्यवरेण नक्षत्रपथ^१वर्चसा ॥ २१ ॥

बभूव राघवस्यापि मनो विस्मयमागतम् ।

एवं सीतावचः श्रुत्वा तं दृष्ट्वा मृगमद्भुतम् ॥ २२ ॥

इतने में श्रीरामचन्द्र जी भी उस सुवर्ण रोम वाले, मणिभूषित सींगीं वाले, तरुण सूर्य के समान कान्ति वाले और आकाश के समान रंग वाले मृग को देख, विस्मित हुए । सीता के ऐसे वचन सुन और उस अद्भुत मृग को देख, ॥ २१ ॥ २२ ॥

लोभितस्तेन रूपेण सीतया च प्रचोदितः ।

उवाच राघवो हृष्टो भ्रातरं लक्ष्मणं वचः ॥ २३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी का मन उस मृग पर ल्पुभा गया । वे सीता जी के कथन को मान और प्रसन्न हो अपने भाई लक्ष्मण से बोले ॥ २३ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेहयाः स्पृहां मृगगतामिमाम् ।

रूपश्रेष्ठतया ह्येष मृगोऽद्य न भविष्यति ॥ २४ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो तो सीता इस मृग के सौन्दर्य पर कैसी लट्ठू हो गयी है । सचमुच अब ऐसा मृग मिलना दुर्लभ है ॥ २४ ॥

न वने नन्दनोद्देशे न चैत्ररथसंश्रये ।

कुतः पृथिव्यां सौमित्रे योऽस्य कश्चित्समो मृगः ॥ २५ ॥

क्योंकि हे लक्ष्मण ! जब ऐसा मृग नन्दनघन और चैत्ररथवन ही में नहीं है, तब पृथिवी पर ऐसा मृग मिलना सर्वथा दुर्लभ है ॥ २५ ॥

१ प्रतिलोमानुलोमांश्च रुचिरा रोमराजयः ।

शोभन्ते मृगमाश्रित्य चित्राः३ कनकविन्दुभिः ॥ २६ ॥

इस मृग के शरीर पर आङी तिरछी सुन्दर रोमावली सुवर्ण विन्दुओं से भूषित हो, कैसी अद्भुत जान पड़ती हैं ॥२६॥

पश्यास्य जूम्भमाणस्य दीप्तामग्निशिखोपमाम् ।

जिहाँ मुखान्निःसरन्तीं मेघादिव शतहदाम् ॥ २७ ॥

जैसे मेघ में विजली कौंधे, वैसे ही जमुहाई लेने के समय इसके मुख से अग्निशिखा के समान लप लप करती जीभ निकलती है ॥२७॥

मसारगल्लर्कमुखः शङ्खमुक्तानिभोदरः ।

कस्य नामाभिरूपो४सौ न मनो लोभयेन्मृगः ॥ २८ ॥

इसका मुख, नीलम के प्याले जैसा है और इसका पेट शङ्ख और मोती की तरह है । भला ऐसा सुन्दर मृग किसके मन को न छुभावेगा अथवा ऐसा सुन्दर मृग देख कौन लोभायमान न होगा? ॥२८॥

कस्य रूपमिदं दृष्टा जाम्बूनदमयं प्रभो ।

नानारत्नमयं दिव्यं न मनो विस्मयं व्रजेत् ॥ २९ ॥

इसका सुवर्णनिर्मित और नाना रत्नबचित दिव्य रूप देख, किसका मन विस्मित न होगा ॥ २८ ॥

[किं पुनर्मैथिली सीता वाला नारी न विस्मयेत् ।]

मांसहेतोरपि मृगान्विहारार्थं च धन्विनः ॥ ३० ॥

१ प्रतिलोमाः—तिर्यग्भूताः । (गो०) २ अनुलोमाः—अनुकूलाः (गो०)

३ चित्राः—आश्रयभूताः । (गो०) ४ अभिरूपः—सुन्दरः । (गो०)

फिर भला। इसको देख मैथिली सीता, जो एक छी है, क्यों न विस्मित होगी। हे लक्ष्मण ! धनुर्धारी राजा लोग, मांस और विनोद के लिये भी आखेट में मृगों को मारते हैं ॥ ३० ॥

घ्रन्ति लक्ष्मण राजानो मृगयायां महावने ।

धनानि व्यवसायेन विचीयन्ते महावने ॥ ३१ ॥

राजाओं की शिक्कार के लिये बड़े बड़े वनों में घूमने फिरने पर बहुमूल्य पदार्थ भी मिल जाते हैं ॥ ३१ ॥

धात्रो विविधाश्चापि मणिरत्नसुवर्णिनः ।

तत्सारमखिलं नृणां धनं निचयवर्धनम् ॥ ३२ ॥

अनेक प्रकार की धातुएँ, तरह तरह की मणियाँ, रत्न और स्वर्ण उनको मिलते हैं। इन्हीं श्रेष्ठ पदार्थों से राजा लोग अपने धनागार की वृद्धि करते हैं ॥ ३२ ॥

मनसा चिन्तितं सर्वं यथा शुक्रस्य लक्ष्मण ।

अर्थो येनार्थकृत्येन संत्रजत्यविचारयन् ॥ ३३ ॥

हे लक्ष्मण ! इसी लिये वन में सब लोगों की इच्छा उसी प्रकार पूरी होती है, जिस प्रकार शुक्र की इच्छा पूरी हुई थी। अर्थ के लिये उद्योग करने में जो अर्थ अनायास मिल जाय ॥ ३३ ॥

तमर्थपर्थशास्त्राः प्रादुरर्थर्याश्च लक्ष्मण ।

एतस्य मृगरत्नस्य^१ पराधर्येऽ काश्चनत्वचि ॥ ३४ ॥

उपवेक्ष्यति वैदेही मया सह सुमध्यमा ।

न कादली न प्रियकी न प्रवेणी न चाविकी ॥ ३५ ॥

^१ मृगरत्नस्य—मृगश्रेष्ठस्य । (गो०) २ पराधर्ये—इलाधर्ये । (गो०)

भवेदेतस्य सदृशी स्पर्शनेनेति मे मतिः ।

एष चैव मृगः श्रीमान्यश्च दिव्यो नभश्चरः^१ ॥ ३६ ॥

हे लक्ष्मण ! उसी अर्थ को अर्थशास्त्रज्ञ अर्थ कहते हैं । अतः इस श्रेष्ठ मृग की शलाध्य सुनहली खाल पर सुन्दर कमर वाली जानकी मेरे साथ बैठेगी । मेरी समझ में इस मृग की खाल के बराबर छूने में कोमल, न तो कादली, न प्रियकी, न प्रवेणी न चाविकी जाति के हिरण्यों की खाल हो सकती है । यह मृग और आकाशचारी दिव्य ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

उभावेतौ मृगौ दिव्यौ तारामृगमहीमृगौ ।

यदि वाऽयं तथा यन्मां भवेद्वदसि लक्ष्मण ॥ ३७ ॥

मृगशिरा नक्षत्र रूपो मृग—दोनों ही अत्यन्त शोभायुक्त हैं । हे लक्ष्मण ! यदि तु महारा कहना ही ठीक हो ॥ ३७ ॥

मायैषा राक्षसस्येति कर्तव्योऽस्य वधो मया ।

एतेन हि नृशंसेन मारीचेनाकृतात्मना^२ ॥ ३८ ॥

और यह राक्षसी माया ही हो, तो भी इसका वध करना मेरा कर्तव्य है । क्योंकि इस कसाई मारीच ने दुष्टापूर्वक, ॥ ३८ ॥

वने विचरता पूर्वं हिंसिता मुनिपुङ्ग्वाः ।

उत्थाय^३ वहवो येन मृगयायां जनाधिपाः ॥ ३९ ॥

वन में विचरते हुए पहिले अनेक श्रेष्ठ मुनियों का वध किया है और वन में प्रकट हो, शिकार खेलने के लिये आये हुए अनेक राजाओं को जो, ॥ ३९ ॥

१ नभश्चरोमृगः—मृगशीषः । (गो०) २ अकृतात्मना—दुष्टभावेन । (गो०)
३ उत्थाय—प्रादुर्भूय । (गो०)

निहताः परमेष्वासास्तस्माद्ध्यस्त्वयं मृगः ।

पुरस्तादिह वातापि॒ परिभूय तपस्त्विनः ॥ ४० ॥

बड़े बड़े धनुधारी थे, इसने वध किया है। इसलिये भी यह मृग-रूपधारी मारीच मारने गोय्य है। पूर्वकाल में वातापी नामक राज्ञस तपस्त्वियों को धोखा दे कर, ॥ ४० ॥

उदरस्थो द्विजान्हन्ति स्वगर्भोऽश्वतरीमिव ।

स कदाचिच्छिरात्म्लोभादाससाद् महामुनिम् ॥ ४१ ॥

और उनके पेट में घुस उनको वैसे ही मार डाला करता था, जैसे गर्भस्थ खच्चरी अपनी माता को मार डालती है, सो उस राज्ञस ने बहुत दिनों बाद, लोभ में पड़, अगस्त्य जी पर हाथ साफ करना चाहा ॥ ४१ ॥

अगस्त्यं तेजसा युक्तं भक्षस्तस्य वभूव ह ।

समुत्थाने^१ च तद्रूपं^२ कर्तुकामं समीक्ष्य तम् ॥ ४२ ॥

उत्समयित्वा तु भगवान्वातापिमिदमब्रवीत् ।

त्वयाविगण्य^३ वातापे परिभूताः स्वतेजसा ॥ ४३ ॥

जीवलोके द्विजश्रेष्ठास्तस्मादसि जरां गतः ।

तदेतन्न भवेद्रक्षो वातापिरिवलक्ष्मण ॥ ४४ ॥

वह राज्ञस अगस्त्य मुनि का भक्ष्य बन गया। फिर शान्त्र के अन्त में अपना पूर्व रूप धारण करने की इच्छा उस राज्ञस की देख अगस्त्य जी ने हँस कर उससे यह कहा— हे वातापे ! तूने विना

^१ समुत्थाने—श्राद्धान्ते । (गो०) ^२ तद्रूप—रक्षोरूपं । (गो०)

^३ अविगण्य—अविचार्य । (गो०)

सोचे समझे इस जीवलोक में बहुत ब्राह्मणों को अपने छल से नष्ट किया है, अतः तू मेरे पेठ में जीर्ण हो गया। हे लक्ष्मण ! वातापी की तरह ही क्या यह राज्ञस नहीं है ? ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

मद्विधं योऽतिमन्येत धर्मनित्यं जितेन्द्रियम् ।

भवेद्दतोऽयं वातापिरगस्त्येनेव मां गतः ॥ ४५ ॥

जब यह मेरे जैसे जितेन्द्रिय और सदा धर्म में तत्पर रहने वाले का तिरस्कार करता है, तब यह उसी तरह मेरे हाथ से मारा जायगा, जिस प्रकार अगस्त्य द्वारा वातापी मारा गया था ॥ ४५ ॥

इह त्वं भव सन्नद्धो यन्त्रितो रक्ष मैथिलीम् ।

अस्यामायत्तमस्माकं यत्कृत्यं रघुनन्दन ॥ ४६ ॥

अब तुम तो शश्च ले और सावधान रह कर, जानकी की रक्षा करो। क्योंकि जानकी की रक्षा करना हमारा अवश्य करणीय कार्य है ॥ ४६ ॥

अहमेनं वधिष्यामि ग्रहीष्याम्यपि वा मृगम् ।

यावद्गच्छामि सौमित्रे मृगमानयितुं द्रुतम् ॥ ४७ ॥

अब मैं या तो इस मृग को पकड़ कर ही लाता हूँ अथवा इसका बध ही करता हूँ। हे लक्ष्मण ! अब मैं इस मृग को लाने के लिये शीघ्रता पूर्वक जाता हूँ ॥ ४७ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेहीं मृगत्वचि गतस्पृहाम् ।

त्वचा प्रधानया हेचष मृगोऽय न भविष्यति ॥ ४८ ॥

देखो लक्ष्मण सीता जी की लालसा इस मृगत्वमें कितनी अधिक है। इससे यह हिरन अपनी खाल के कारण आज अवश्य मारा जायगा ॥ ४८ ॥

अप्रमत्तेन ते भाव्यमाश्रयस्थेन सीतया ।

यावत्पृष्ठतमेकेन सायकेन निहन्म्यहम् ।

हत्वैतचर्मं चादाय शीघ्रमेष्यामि लक्ष्मण ॥ ४९ ॥

हे लक्ष्मण ! जब तक मैं इस मृग को एक ही बाण से मार और इसका चाम ले लौट कर न आऊँ, तब तक तुम सावधानता पूर्वक इस आश्रम में सीता के पास रही । मैं शीघ्र ही लौट कर आता हूँ ॥ ४९ ॥

^१प्रदक्षिणेनातिवलेन पक्षिणा

जटायुषा बुद्धिमता च लक्ष्मण ।

भवाप्रमत्तः परिगृह्य मैथिलीं

प्रतिक्षणं सर्वत एव शङ्कितः ॥ ५० ॥

इति त्रिचत्वारिंशः सर्ग ॥

हे लक्ष्मण ! तुम जानकी की रक्षा के लिये अत्यन्त बली और चतुर जटायु के साथ सब से सदा चौकन्ने रह कर, यहाँ सावधान बने रहना ॥ ५० ॥

अरण्यकागड़ का तेतालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।



चतुश्चत्वारिंशः सर्गः

—*—

तथा तु तं समादिश्य भ्रातरं रघुनन्दनः ।

बबन्धासि महातेजा जाम्बूनदमयत्सरूप् ॥ १ ॥

भाई को इस प्रकार समझा कर, श्रीरामचन्द्र ने सोने की मूठ लगी हुई तलवार ली ॥ १ ॥

ततस्त्रयवनतं चापमादायात्मविभूषणम् ।

आबध्य च कलापौ द्वौ जगामोदग्रविक्रमः ॥ २ ॥

फिर तीन जगह से झुका हुश्रा धनुष, जो उनका आभूषण था, ले और दो तरकस पीठ पर बांध, प्रचण्ड पराक्रमी श्रीरामचन्द्र रखाना हुए ॥ २ ॥

तं वश्यानो राजेन्द्रमापतनं निरीक्ष्य वै ।

बभूवान्तर्हितस्त्रासात्पुनः सन्दर्शनेऽभवत् ॥ ३ ॥

राजेन्द्र श्रीरामचन्द्र जी को आते देख, धोखेबाज़ मारीच कुछ देर के लिये क्षिण गया । पीछे से फिर दिखलाई दिया ॥ ३ ॥

बद्धासिर्धनुरादाय प्रदुद्राव यतो मृगः ।

तं स्म पश्यति रूपेण श्रोतमानमिवाग्रतः ॥ ४ ॥

श्रीरामचन्द्र जी भी खड़ कमर में बांधे और धनुष हाथ में लिये हुए, जिधर वह देख पड़ा उसी ओर चले । मारीच कान्तिमान् श्रीरामचन्द्र जी को अपने समाने ही देखता था ॥ ४ ॥

अवेक्ष्यावेक्ष्य धावन्तं धनुष्पाणिं महावने ।

अतिवृत्तमिषोः पाताल्लोभयानं कदाचन ॥ ५ ॥

कभी वह मृग धनुषधारी श्रीरामचन्द्र को बार बार देख कर उस महावन में दौड़ लगाता । कभी कुलांचें मार कर, दूर हो जाता और कभी अति निकट आ उनको लुभाता ॥ ५ ॥

शङ्कितं तु समुद्रान्तमुत्पतन्तमिवाम्बरे ।

दृश्यमानमदृश्यं च वनोद्देशेषु केषुचित् ॥ ६ ॥

कभी शङ्कित और घबड़ा कर वह इतनी ऊँची लकड़ियां भरता कि, मानों वह आकाश में चला जायगा । कभी देखते ही देखते अदृश्य हो जाता और कभी वन में दूर जा निकलता ॥ ६ ॥

छिन्नाभ्रैरिव संवीतं शारदं चन्द्रमण्डलम् ।

मुहूर्ता देव ददशे मुहुर्दूरात्पकाशते ॥ ७ ॥

कभी वह (पवन से) कितराये हुए मेघों से घिरे हुए शरका-लीन चन्द्रमा की तरह छिप जाता और मुहूर्त बाद ही फिर दूर पर दिखलाई पड़ता था ॥ ७ ॥

दर्शनादर्शनादेवं सोऽपाकर्षत राघवम् ।

मुदूरमाश्रमस्यास्य मारीचो मृगतां गतः ॥ ८ ॥

इस प्रकार बार बार छिपता और प्रगट होता हुआ मृग रूपधारी मारीच, श्रीरामचन्द्र जी को आश्रम से दूर ले गया ॥ ८ ॥

आसीत्कुद्धस्तु काकुत्स्थो विवशः १तेन मोहितः २ ।

अथावतस्थे *मुश्रान्तश्छायामाश्रित्य शाद्वले ॥ ९ ॥

१ विवशः कृतूहलपरवशः । (गो०) २ मोहितः—वज्रितः । (गो०)

* पाठान्तरे—“सम्भ्रान्तः ।”

श्रीरामचन्द्र जी कुतूहलवश हो, मारीज़ से जब इस प्रकार छले गये, तब वे कुद्र और थक जाने के कारण छायायुक्त तुणमय स्थान पर खड़े हो गये ॥ ६ ॥

स तमुन्मादयामास मृगरूपो निशाचरः ।

मृगैः परिवृतो वन्यैरदूरात्पत्यदृश्यत ॥ १० ॥

वह मृगरूपधारी निशाचर श्रीरामचन्द्र जी को भुलावा देने के लिये, अन्य मृगों में जा मिला और समीप ही देख पड़ा ॥ १० ॥

ग्रहीतुकामं दृष्टैनं पुनरेवाभ्यधावत ।

तत्क्षणादेव संत्रासात्पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥ ११ ॥

जब उसने देखा कि, श्रीरामचन्द्र जी मुझे पकड़ा ही चाहते हैं, तब वह फिर भागा और डर कर फिर छिप गया ॥ ११ ॥

पुनरेव ततो दूराद्वक्षषण्डाद्विनिःसृतम् ।

दृष्टा रामो महातेजास्तं हन्तुं कुतनिश्चयः ॥ १२ ॥

फिर वह बहुत दूर जा कर बृक्ष समूह से निकलता हुआ दिखलाई पड़ा । महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र जी ने यह देख कर अब उस मृग को मार डालना ही निश्चय किया ॥ १२ ॥

भूयस्तु शरमुद्भृत्य कुपितस्तत्र राघवः ।

सूर्यरश्मप्रतीकाशंज्वलन्तमरिमर्दनः ॥ १३ ॥

उन्होंने रोष में भर कर, बड़े वेग से तरक्स से सूर्य की तरह चमचमाता और शत्रु का नाश करने वाला एक बाण निकाला ॥ १३ ॥

सन्धाय सुदृढे चापे विकृष्य बलवद्धली ।

तपेव मृगमुद्दिश्य श्वसन्तमिव पन्नगम् ॥ १४ ॥

और उसको अपने मज़बूत धनुष पर चढ़ा और रोदे को बल पूर्वक खींच, और हिरन का निशाना बांध, फुंसकारते हुए साँप की तरह ॥ १४ ॥

मुमोच ज्वलितं दीपमस्त्रं ब्रह्मविनिर्मितम् ।

शरीरं मृगरूपस्य विनिर्भिद्य शरोत्तमः ॥ १५ ॥

छोड़ा । ब्रह्मा के बनाये हुए और चमचमाते हुए उस उत्तम बाण ने जा कर, उस मृग के शरीर को विदीर्ण कर डाला ॥ १५ ॥

मारीचस्यैव हृदयं विभेदाशनिसन्निभः ।

तालमात्रमथोत्प्लुत्य न्यपतत्स शरातुरः ॥ १६ ॥

उस ब्रह्मा तुल्य बाण के लगने से मारीच एक ताङ वृक्ष के बराबर ऊँचा उछल कर और बाण की चोट से व्यथित हो, ज़मीन पर गिर पड़ा ॥ १६ ॥

विनदन्मैरवं नादं धरण्यामत्पजीवितः ।

म्रियमाणस्तु मारीचो जहौ तां कृत्रिमां तनुम् ॥ १७ ॥

ज़मीन पर गिर अल्प समय जीने वाले मारीच ने भयङ्कर नाद किया । मरते समय मारीच ने बनावटी (हिरन के) शरीर को त्याग दिया ॥ १७ ॥

स्मृत्वा तद्वचनं रक्षो दध्यौ केन तु लक्ष्मणम् ।

इह प्रस्थापयेत्सीता शून्ये तां रावणो हरेत् ॥ १८ ॥

उस समय वह रावण की बात याद कर, विचारने लगा कि, सीता क्यों कर लक्ष्मण को यहाँ भेजे, जिससे सीता को एकान्त में पा, रावण हर कर ले जाय ॥ १८ ॥

स प्राप्तकालमाज्ञाय चकार च ततः स्वरम् ।

सदृशं राघवस्यैव हा सीते लक्ष्मणेति च ॥ १९ ॥

उपयुक्त अवसर जान, मारीच ने ठीक श्रीरामचन्द्र के कण्ठस्वर का अनुकरण कर, चिल्ला कर कहा—हा सीते ! हा लक्ष्मण ! ॥१६॥

तेन मर्मणि निर्विद्धः शरेणानुपमेन च ।

मृगरूपं तु तत्यक्त्वा राक्षसं रूपमात्मनः ॥२०॥

श्रीरामचन्द्र जी के अनुपम बाण से उसका मर्मस्थल ऐसा विदीर्ण हो गया था कि, वह किर मृग का रूप धारण न कर सका और अपने राक्षस रूप में प्रकट ही गया ॥ २० ॥

चक्रे स सुमहाकायो मारीचो जीवितं त्यजन् ।

ततो विचित्रकेयूरः सर्वाभरणभूषितः ॥ २१ ॥

मरने के समय मारीच विशाल शरीरधारी हो गया और उस समय विचित्र केयूरादि सब आभूषण धारण किये हुए वह देख पड़ा ॥ २१ ॥

हेमसाली महादंष्ट्रो राक्षसोऽभूच्छराहतः ।

तं दृष्ट्वा पतितं भूमौ राक्षसं घोरदर्शनम् ॥ २२ ॥

बाण के लगने से वह सुवर्ण की माला पहिने हुए बड़े बड़े दाँतों वाला राक्षस बन गया । उस भयङ्कर राक्षस को पृथिवी पर गिरा हुआ देख ॥ २२ ॥

रामोऽधिरसित्काङ्गं वेष्टमानं महीतले ।

जगाम मनसा सीतां लक्ष्मणस्य वचः स्मरन् ॥ २३ ॥

और लोह से तरबतर जमीन पर लोटता हुआ देख, श्रीरामचन्द्र मन ही मन सीता की चिन्ता करने लगे । उस समय उन्हें लक्ष्मण की कही बात याद आयी ॥ २३ ॥

मारीचस्यैव मायैषा पूर्वोक्तं लक्ष्मणेन तु ।

तत्था होभवच्चाद्यमारीचोऽयं मया हतः ॥ २४ ॥

वे सोचने लगे कि, देखो लक्ष्मण ने पहले ही कहा था कि, यह मारीच की माया है। सो उन्हींकी बात ठीक निकली और यह मारीच मेरे द्वारा मारा गया ॥ २४ ॥

हा सीते लक्ष्मणेत्येवमाक्रुश्य च महास्वनम् ।

ममार राक्षसः सोऽयं श्रुत्वा सीता कर्थं भवेत् ॥ २५ ॥

यह राक्षस “हा ! सीते हा लक्ष्मण !” चिल्लता हुआ मरा है। सो जब ये शब्द सीता ने सुने होंगे, तब उसकी क्या दशा हुई होगी ॥ २५ ॥

लक्ष्मणश्च महाबाहुः कामवस्थां गमिष्यति ।

इति सञ्चिन्त्य धर्मात्मा रामो हृष्टतनूरुहः ॥ २६ ॥

इससे महाबाहु लक्ष्मण की भी न मालूम क्या दशा हुई होगी। यह सोचने से डर के मारे धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र के शरीर के रोप खड़े हो गये ॥ २६ ॥

तत्र रामं भयं तीव्रमाविवेश विषादजम् ।

राक्षसं मृगरूपं तं हत्वा श्रुत्वा च तत्स्वरम् ॥ २७ ॥

उस समय मृगरूपी मारीच को मार और उसका इस प्रकार चिल्लना सुन कर, वे बहुत डरे और दुःखी हुए ॥ २७ ॥

निहत्य पृष्ठतं चान्यं मांसमादाय राघवः ॥

त्वरमाणो जनस्थानं १ससाराभिमुखस्तदा ॥ २८ ॥

इति चतुश्चत्वारिंशः सर्गः ॥

तदनन्तर (श्रीरामचन्द्र जी) एक और मृग को मार और उसका मांस ले शीघ्रतापूर्वक जनस्थान की ओर प्रस्थानित हुए ॥ २८ ॥

अरण्यकाण्ड का चौवालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पञ्चत्वारिंशः सर्गः

—;*;—

आर्तस्वरं तु तं भर्तुर्विज्ञाय सदृशं वने ।

उवाच लक्ष्मणं सीता गच्छ जानीहि राघवम् ॥ १ ॥

जब जानकी जी ने उस वन में पति के कण्ठस्वर के सदृश स्वर में आर्तनाद सुना, तब वे लक्ष्मण से बोलीं कि, जा कर तुम श्रीरामचन्द्र को देखो तो ॥ १ ॥

न हि मे हृदयं स्थाने^१ जीवितं^२ वाऽवतिष्ठते* ॥

क्रोशतः परमार्तस्य श्रुतः शब्दो मया भृशम् ॥ २ ॥

इस समय मेरा जी ठिकाने नहीं; चित्त न जाने कैसा हो रहा है। क्योंकि मैंने परम पीड़ित और अत्यन्त चिल्लाते हुए श्रीरामचन्द्र का शब्द सुना है ॥ २ ॥

आक्रन्दमानं तु वने भ्रातरं त्रातुमर्हसि ।

तं क्षिप्रमभिधाव त्वं भ्रातरं शरणैषिणम्^३ ॥ ३ ॥

१ स्थाने — स्वस्थाने । (गो०) २ जीवितं — प्राणः । (गो०) ३ शरणैषिण — रक्षकार्थिनं । (गो०) * पाठान्तरे — “तिष्ठति ।”

अतः तुम वन में जा कर इस प्रकार आर्तनाद करने वाले अपने भाई की रक्षा करो और दौड़ कर शीघ्र जाओ, क्योंकि उनको इस समय रक्षक की आवश्यकता है ॥ ३ ॥

रक्षसां वशमापन्नं सिंहानामिव गोदृष्म् ।

न जगाम तथोक्तस्तुभ्रातुराङ्गाय शासनम् ॥ ४ ॥

जान पड़ता है, वे राक्षसों के वश में जा पड़े हैं, इसीसे वे सिंहों के बीच में पड़े हुए बैल की तरह विकल हैं। सीता जी के इस कहने पर भी लक्ष्मण जी न गये। क्योंकि उनको उनके भाई श्रीराम-चन्द्र जाते समय आश्रम में रह कर, सीता की रखवाली करने की आङ्गा दे गये थे ॥ ४ ॥

तमुवाच ततस्तत्र कुपिता जनकात्मजा ।

सौमित्रे मित्ररूपेण भ्रातुस्त्वमसि शत्रुवत् ॥ ५ ॥

तब तो सीता जी ने क्रोध कर लक्ष्मण से कहा—हे लक्ष्मण ! तुम अपने भाई के मित्ररूपी शत्रु हो ॥ ५ ॥

यस्त्वमस्यामवस्थायां भ्रातरं नाभिपत्स्यसे ।

इच्छसि त्वं विनश्यन्तं रामं लक्ष्मण मत्कृते ॥ ६ ॥

क्योंकि इस दशा में भी तुम भाई के समीप नहीं जाते। मैंने जान लिया, तुम मेरे लिये अपने भाई का विनाश चाहते हो ॥ ६ ॥

लोभान्मम कृते नूनं नानुगच्छसि राघवम् ।

व्यसनं ते प्रियं मन्ये स्नेहो भ्रातरि नास्ति ते ॥ ७ ॥

तुम निश्चय ही मुझे हथियाने के लोभ से श्रीरामचन्द्र जी के पास नहीं जाते। तुमको अपने भाई का दुःखी होना अच्छा लगता है। अपने भाई में तुम्हारी ज़रा भी प्रीति नहीं है ॥ ७ ॥

तेन तिष्ठसि विस्तव्धस्तमपश्यन्महाद्युतिम् ।

किं हि संशयमापन्ने तस्मिन्निह पया भवेत् ॥ ८ ॥

कर्तव्यमिह तिष्ठन्त्या यत्प्रधानस्त्वमागतः ।

इति ब्रुवाणां वैदेहीं वाष्पशोकपरिप्लुताम् ॥ ९ ॥

(यदि ऐसा न होता तो) तुम क्या उस महातेजस्वी श्रीरामचन्द्र के बिना इसी प्रकार निश्चिन्त और स्थिर बैठे रहते । देखो जिन श्रीरामचन्द्र जी के अधीन में हो कर, तुम वन में आये हो, उन्हीं श्रीरामचन्द्र जी के प्राण जब सङ्कट में पड़े हैं, तब मैं यहाँ रह कर ही क्या करूँगी (अर्थात् यदि तुम न जाओगे तो मैं जाऊँगी) । जब जानकी जी ने आँखों में आँसू भर कर, यह कहा ॥ ८ ॥ ९ ॥

अब्रवीललक्ष्मणस्तां सीतां मृगवधूमिव ।

पञ्चगासुरगन्धर्वदेवमानुषराक्षसैः ॥ १० ॥

तब शुगी के समान डरी हुई सीता जी से लक्ष्मण जी बोले कि, पञ्चग, असुर, गन्धर्व, देवता, मनुष्य, राक्षस ॥ १० ॥

अशक्यस्तव वैदेहि भर्ता जेतुं न संशयः ।

देवि देवमनुष्येषु गन्धर्वेषु पतत्रिषु ॥ ११ ॥

राक्षसेषु पिशाचेषु किञ्चरेषु मृगेषु च ।

दानवेषु च घोरेषु न स विद्येत शोभने ॥ १२ ॥

यो रामं प्रति युध्येत समरे वासवोपमम् ।

अवध्यः समरे रामो नैवं त्वं वक्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

कोई भी तुम्हारे पति (श्रीरामचन्द्र जी) को नहीं जीत सकता । इसमें कुछ भी सन्देह मत करना । हे सीते ! हे शोभने ! देवताओं,

मनुष्यों, गन्धवौं, पक्षियों, राक्षसों, पिशाचों, किन्नरों, मृगों, भयङ्कर वानरों में कोई भी ऐसा नहीं, जो इन्द्र के समान पराक्रमी श्रीरामचन्द्र के समाने रणक्षेत्र में खड़ा रह सके। युद्धक्षेत्र में श्रीरामचन्द्र अवध्य हैं। अतः तुमको ऐसा कहना उचित नहीं ॥११॥१२॥१३॥

न त्वामस्मिन्वने हातुमुत्सहे राघवं विना ।

अनिवार्यं बलं तस्य बलैर्बलवतामपि ॥ १४ ॥

श्रीरामचन्द्र की अनुपस्थिति में, मैं तुम्हें इस वन में अकेली छोड़ कर नहीं जा सकता। बड़े बड़े बलवानों की भी यह शक्ति नहीं कि, वे श्रीरामचन्द्र के बल को रोक सकें ॥१४॥

त्रिभिर्लोकैः समुद्युक्तैः सेश्वररैरपि सामरैः ।

हृदयं निर्वृतं तेऽस्तु सन्तापस्त्यज्यतामयम् ॥१५॥

अगर तीनों लोक और समस्त देवताओं सहित इन्द्र इकट्ठे हो जाय, तो भी श्रीरामचन्द्र का सामना नहीं कर सकते। अतः तुम सन्ताप को दूर कर, आनन्दित हो ॥ १५ ॥

आगमिष्यति ते भर्ता शीघ्रं हत्वा मृगोत्तमम् ।

न च तस्य स्वरो व्यक्तं मायया केनचित्कृतः ॥ १६ ॥

उस उत्तम मृग को मार तुम्हारे पति शीघ्र आ जायगे। जो शब्द तुमने सुना है, वह श्रीरामचन्द्र जी का नहीं है, यह तो किसी का बनावटी शब्द है ॥ १६ ॥

गन्धर्वं नगरप्रख्या माया सा तस्य रक्षसः ।

न्यासभूतासि वैदेहि न्यस्ता मयि महात्मना ॥ १७ ॥

रामेण त्वं वरारोहे न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे ।

कृतवैराश्च वैदेहि वयमेतर्निशाचरैः ॥ १८ ॥

खरस्य निधनादेव जनस्थानवधं प्रति ।

राक्षसा विविधा वाचो विसृजन्ति^१ महावने ॥ १९ ॥

बलिक गन्धर्व-नगर की तरह यह उस राक्षस की माया है । हे सीते ! महात्मा श्रोरामचन्द्र जी मुझको, तुम्हें धरोहर की तरह सौंप गये हैं । अतः हे बरारोहे ! मैं तुम्हें अकेली छोड़ कर जाना नहीं चाहता । (हे वैदेही ! एक बात और है) जनस्थाननिवासी खरादि राक्षसों का वध करने से राक्षसों से हमारा वैर हो गया है । सो इस महावन में राक्षस लोग हम लोगों को धोखा देने के लिये भाँति भाँति की बोलियाँ बोला करते हैं ॥ १७॥१८॥१९॥

रहिंसाविहारा वैदेहि न चिन्तयितुमर्हसि ।

लक्ष्मणेनैवमुक्ता सा क्रुद्धा संरक्तलोचना ॥ २० ॥

और साधु जनों को पीड़ित करना राक्षसों का एक प्रकार का खेल है । अतः तुम किसी बात की चिन्ता मत करो । जब लक्ष्मण ने इस प्रकार कहा, तब सोता जो के नेत्र मारे क्रोध के लाल हो गये ॥ २० ॥

अब्रवीत्परुषं वाक्यं लक्ष्मणं सत्यवादिनम् ।

३अनार्यौ^४करुणारम्भ नृशंस कुलपांसन ॥ २१ ॥

अहं तव प्रियं मन्ये रामस्य व्यसनं महत् ।

रामस्य व्यसनं दृष्टा तेनैतानि प्रधाषसे ॥ २२ ॥

^१ वाचो विसृजन्ति अस्मन्मोहनार्थमितिशेषः । (गो०) २ हिंसैव साधुजन पीड़ैव विहारोयेषां । (गो०) ३ अनार्य—दुःशील । (गो०) ४ अकरुणारम्भ—दयाप्रसक्ति-रहित । (गो०)

और उन्होंने लक्ष्मण से, जो यथार्थ बात कह रहे थे, कठोर वचन कहते हुए कहा—हे दुःशील कठोर हृदय ! हे क्रूर स्वभाव और कुलकलङ्क ! मैं जान गयीं कि, श्रीरामचन्द्र जी का विपद्ग्रस्त होना तुम्हको भला लगता है। तभी तो तू श्रीरामचन्द्र जी को विपद्ग्रस्त देख पेसा कहता है ॥ २१ ॥ २२ ॥

नैतच्चित्रं सपत्नेषु पापं लक्ष्मण यद्वेत् ।

त्वद्विधेषु नृशंसेषु नित्यं प्रच्छन्नचारिषु ॥ २३ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम जैसे घातक और सदैव द्विपे द्विपे व्यवहार करने वाले वैरी की यदि ऐसी निन्द्य पापबुद्धि हो, तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं ॥ २३ ॥

सुदुष्टस्त्वं वने राममेकमेकोऽनुगच्छसि ।

मम हेतोः प्रतिच्छन्नः प्रयुक्तो भरतेन वा ॥ २४ ॥

लक्ष्मण ! तेरा स्वभाव बड़ा खोटा है, इसीसे तू अकेला श्रीराम के साथ बन में आया है। अथवा द्विप कर भरत का मेजा हुआ तू श्रीराम के साथ आया है ॥ २४ ॥

तन्न सिध्यति सौमित्रे तव वा भरतस्य वा ।

कथमिन्दीवरश्यामं पद्मपत्रनिभेक्षणम् ॥ २५ ॥

उपसंश्रित्य भर्तारं कामयेयं पृथग्जनम् ।

समक्षं तव सौमित्रे प्राणांस्त्यक्ष्ये न संशयः ॥ २६ ॥

सो लक्ष्मण ! याद रखना तेरी और भरत की यह साध कभी पूरी होने वाली नहीं। भला मैं नीलोत्पल श्याम और कमल-नयन श्रीरामचन्द्र को छोड़, क्यों कुद्र जन को अपना पति बनाऊँगी। मैं तो तेरे सामने ही अपने प्राण निश्चय ही दे दूँगी ॥ २५ ॥ २६ ॥

रामं विना क्षणमपि न हि जीवामि भूतले ।

इत्युक्तः परुषं वाक्यं सीतया रोमहर्षणम् ॥ २७ ॥

श्रीराम के द्विना इस भूतल पर मैं एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती । जब जानकी जी ने, ऐसी रोमाञ्चकारी कठोर बातें कहीं ॥ २७ ॥

अब्रवीललक्ष्मणः सीतां प्राञ्जलिर्विजितेन्द्रियः ।

उत्तरं नेत्सहे वक्तुं दैवतं भवती मम ॥ २८ ॥

तब जितेन्द्रिय लक्ष्मण जी ने हाथ जोड़ कर सीता से कहा—
आप मेरी साक्षात् देवता हैं, (अर्थात् पूज्या हैं) अतः मैं आपकी इन बातों का उत्तर नहीं दे सकता ॥ २८ ॥

वाक्यमप्रतिरूपं तु न चित्रं स्त्रीषु मैथिलि ।

स्वभावस्त्वेष नारीणामेवं लोकेषु दृश्यते ॥ २९ ॥

हे मैथिली ! आपने जो ये अनुचित बातें कही हैं, से लियों के लिये इनका कहना कुछ आशर्चर्य की बात नहीं है । क्योंकि संसार में लियों का स्वभाव ही ऐसा होता है ॥ २९ ॥

विमुक्तधर्माश्रपलास्तीक्ष्णा भेदकराः स्त्रियः ।

न सहे हीदृशं वाक्यं वैदेहि जनकात्मजे ॥ ३० ॥

लोक में देखा जाता है कि, लियाँ धर्म को छोड़ने वालीं, चञ्चल, उप्रस्वभाव और आपस में भेदभाव ढालने वाली होती हैं । किन्तु हे जानकी ! ऐसे वाक्य मैं सह नहीं सकता ॥ ३० ॥

श्रोत्रयोरूभयोर्मेऽद्य तस्मनाराचसन्निभम् ।

उपशृण्वन्तु मे सर्वे साक्षिभूता वनेचराः ॥ ३१ ॥

अत्यन्त तपाये हुए बाणों की तरह तुम्हारे ये वचन मेरे दोनों
कानों को विद्ध कर रहे हैं। अच्छा सब बनवासी देवता गण मेरे
साक्षी बन कर सुनें॥ ३१॥

न्यायवादी यथान्यायमुक्तोऽहं परुषं त्वया ।

धिक्त्वामद्य प्रणश्य त्वं यन्मामेवं विशङ्कसे ॥ ३२ ॥

मेरे यथार्थ कहने पर भी तुमने मुझसे कठोर वचन कहे। अतः
तुमको धिक्कार है। जान पड़ता है, आज तुम्हारा अनिष्ट होने वाला
है, तभी तुमको मुझ पर ऐसा निर्मल सन्देह हुआ है॥ ३२॥

खीत्वं दुष्टं स्वभावेन गुरुवाक्ये व्यवस्थितम् ।

गमिष्ये यत्र काकुत्स्थः स्वस्ति तेऽस्तु वरानने ॥ ३३ ॥

हे सीते! इस समय तुमने खियोचित दुष्ट स्वभाव दिखलाया
है। मैं तो श्रीरामचन्द्र जी की आङ्गा मान, तुम्हें अकेली छोड़ कर,
नहीं जाता था। किन्तु हे वरानने! तुम्हारा मङ्गल हो! लो मैं अब
श्रीरामचन्द्र के पास जाता हूँ॥ ३३॥

रक्षन्तु त्वां विशालाक्षि समग्रा वनदेवताः ।

निमित्तानि हि घोराणि यानि प्रादुर्भवन्ति मे ॥ ३४ ॥

हे विशालाक्षि! समस्त वनदेवता तुम्हारी रक्षा करें। इस
समय बड़े बुरे बुरे शकुन मेरे सामने प्रकट हो रहे हैं॥ ३४॥

अपि त्वां सह रामेण पश्येयं पुनरागतः ॥ ३५ ॥

क्या मैं श्रीरामचन्द्र सहित लौट, फिर तुम्हें (यहाँ) देख
सकूँगा॥ ३५॥

लक्ष्मणेनैवमुक्ता सा रुदन्ती जनकात्मजा ।

प्रत्युवाच ततो वाक्यं तीव्रं वाष्पपरिष्ठुता ॥ ३६ ॥

लक्ष्मण की ये बातें सुन, रोती हुई जानकी जी ने लक्ष्मण जी की उत्तर देते हुए आँखों में आँसू भर, फिर कठोर वचन कहे ॥ ३६ ॥

गोदावरीं प्रवेक्ष्यामि विना राष्ट्रेण लक्ष्मण ।

आवन्धिष्येऽथ वा त्यक्ष्ये विषमे देहमात्मनः ॥ ३७ ॥

हे लक्ष्मण ! श्रीराम के विना मैं गोदावरी में द्वृब मरुँगी अथवा गले में फाँसी लगा कर मर जाऊँगी अथवा किसी ऊँचे स्थान से गिर कर प्राण दे दूँगी ॥ ३७ ॥

पिवाम्यहं विषं तीक्ष्णं प्रवेक्ष्यामि हुताशनम् ।

न त्वं राघवादन्यं कदापि* पुरुषं स्पृशे ॥ ३८ ॥

अथवा द्विलाहल विष पीलूँगी अथवा अग्नि में कुद कर भस्म हो जाऊँगी; किन्तु श्रीरामचन्द्र को छोड़, परपुरुष को स्पर्श कभी भी न करुँगी ॥ ३८ ॥

इति लक्ष्मणमाक्रुश्य सीता दुःखसमन्विता ।

पाणिभ्यां रुदती दुःखादुदरं प्रजघान ह ॥ ३९ ॥

लक्ष्मण से इस प्रकार कह और शोक से पोड़ित हो सीता दोनों हाथों से अपना पेट पीट कर रोने लगीं ॥ ३९ ॥

तमार्तरूपां विमना रुदन्तीं

सौमित्रिरातोक्य विशालनेत्राम्

आश्वासयामास न चैव भर्तुः

तं भ्रातरं किञ्चिचिदुवाच सीता ॥ ४० ॥

* पाठान्तरे—“पदावि ।”

विशालनयना जनकनन्दिनी को ऐसे आर्तभाव से, उदास हो रीते हुए देख, लक्ष्मण ने उनको समझाया बुझाया, किन्तु जानकी ने अपने देवर से फिर कुछ भी न कहा (अर्थात् रुठ गयीं) ॥ ४० ॥

ततस्तु सीतामभिवाद्य लक्ष्मणः

कृताञ्जलिः किञ्चिदभिप्रणम्य च ।

अन्वीक्षमाणो बहुशश्च मैथिलीं

जगाम रामस्य समीपमात्मवान् ॥ ४१ ॥

इति पञ्चचत्वारिंशः सर्गः ॥

तदनन्तर जितेन्द्रिय लक्ष्मण जी हाथ जोड़ और बहुत मुक्क कर सीता जी को प्रणाम कर और बार बार सीता को देखते हुए श्रीरामचन्द्र के पास चल दिये ॥ ४१ ॥

अरण्यकाण्ड का पैतालीसर्वां सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

षट्चत्वारिंशः सर्गः

—*—

तथा परुषमुक्तस्तु कुपितो राघवानुजः

स विकाढःक्षन्मृशं^१ रामं प्रतस्थे न चिरादिव^२ ॥ १ ॥

इस प्रकार जानकी की कटूकियों से कुपित हो, लक्ष्मण जी वहाँ से जाने की विलकुल इच्छा न रहते भी, श्रीरामचन्द्र जी के पास तुरन्त चल दिये ॥ १ ॥

^१ भृशं—अत्यन्तम् । (शः) ^२ नचिरादिव—भविलम्बितमेव । इवशब्दो वाक्यालङ्घार इतिवा । (गो०)

तदासाद् दशग्रीवः क्षिप्रमन्तरमास्थितः ।

अभिचक्रामवैदेहीं परिब्राजकरूपधृत् ॥ २॥

इतने में एकान्त अवसर पा, रावण ने सन्यासी का भेष बनाया और वह तुरन्त सीता के सामने जा पहुँचा ॥ २ ॥

१श्लक्षणकाषायसंवीतः शिखी छत्री उपानही ।

वामे चांसेऽवसज्ज्याथ शुभे यष्टिकमण्डलू ॥ ३ ॥

उस समय रावण स्वच्छ गेरुआ रङ्ग के कपड़े पहिने हुए था, उसके सिर पर चोटी थी, सिर पर छत्र लगाये और पैरों में खड़ाऊ पहिने हुए था । उसके बाम कंधे पर त्रिदण्ड था और हाथ में कमण्डलु लिये हुए था ॥ ३ ॥

[नोट —रावण ने उस समय के संन्यासियों का यथार्थ रूप धारण किया था । इससे जान पढ़ता है, रामायणकाल के संन्यासी चोटीकट नहीं होते थे । प० उचालाप्रसाद मिश्र ने अपने रामायण के अनुवाद में “शिखी” का अर्थ किया है “‘सिर पर बाल रखाये”—इसका कारण उनका चोटीकट संन्यासियों का पक्षपाती होना ही कहा जा सकता है । ऋषि अङ्गिरा ने सन्यासियों के चिन्ह बतलाते हुए लिखा है :—

‘यतेर्लिङ्गं प्रवक्ष्यामि येनासौ लक्ष्यते यतिः

ब्रह्मसूत्रं विदण्डं च वस्त्रं जन्तुनिवारणं ।

शिवयं पात्रं बृसी चैव कौपीनं कटिवेष्टनम्

यस्यैतद्विद्यते लिङ्गं स यतिनेतरो यतिः ॥

इसके अतिरिक्त मिश्र जी ने मूल श्लोक में प्रयुक्त “यष्टि” का अर्थ किया है “लाठी” । यदि रामाभिरामी तथा भूषण आदि टीकाकारों का किया हुआ महाभारत से समर्थित यष्टि का अर्थ (रावणास्तु यतिर्भूत्वामुण्डः कुण्डी त्रिदण्ड धृक्) त्रिदण्ड न भी करते, तो प्रसङ्गानुसार “दण्ड” तो करते; किन्तु न मालूम मिश्र जी महाराज ने यष्टि का अर्थ “लाठी” क्यों कर, कर डाला]

परिव्राजकरूपेण वैदेहीं समुपागमत् ।

तामाससादातिवलो भ्रातृभ्यां रहितां वने ॥ ४ ॥

इस प्रकार का यति भेष धारण कर अतिवली रावण, श्रीराम लक्ष्मण की अनुपस्थिति में सीता को अकेली पा, उनके पास उसी प्रकार गया ॥ ४ ॥

रहितां चन्द्रसूर्याभ्यां सन्ध्यामिव महत्तमः ।

तामपश्यत्ततो वालां रामपर्वीं यशस्विनीम् ॥ ५ ॥

जिस प्रकार चन्द्र और सूर्य की अनुपस्थिति में सन्ध्या के समय अन्धकार आता है । उसने श्रीरामाश्रम में जा यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीता को वैसे ही देखा ॥ ५ ॥

रोहिणीं शशिना हीनां ग्रहवद्वशदारुणः ।

तमुग्रतेजः कर्माणं जनस्थानरुहा द्रुमाः ॥ ६ ॥

समीक्ष्य न प्रकम्पन्ते न प्रवाति च मारुतः ।

शीघ्रस्नोताश्च तं दृष्टा वीक्षन्तं रक्तलोचनम् ॥ ७ ॥

जैसे चन्द्रमा की अनुपस्थिति में राहु रोहिणी को देखता है । उस अत्याचारी रावण को देख, जनस्थान के वृक्ष हिलते न थे और हवा का चलना भी बन्द हो गया था । लाल लाल नेत्र कर सीता जी की ओर उसे देखते हुए देख ॥ ६ ॥ ७ ॥

स्तिमितं गन्तुमारेभे भयादगोदावरी नदी ।

रामस्य त्वं न्तरप्रेपुर्दशग्रीवस्तदन्तरे ॥ ८ ॥

भय के मारे, तेज बहने वाली गोदावरी की धार भी धीमी पड़ गयी। श्रीराम से सीता का वियोग कराने की इच्छा रखने वाला रावण, ॥ ८ ॥

उपतस्थे च वैदेहीं भिक्षुरूपेण रावणः ।

अभव्यो भव्यरूपेण भर्तारमलुशोचतीम् ॥ ९ ॥

जो दुर्जन होने पर भी उस समय सन्यासी का भेष धारण कर सज्जन बना हुआ था, सीता जी के पास, जो श्रीरामचन्द्र जी की चिन्ता में मग्न थीं, पहुँचा ॥ ९ ॥

अभ्यवर्तत वैदेहीं चित्रामिव शनैश्चरः ।

स पापो भव्यरूपेण तृणैः कूप इवावृतः ॥ १० ॥

रावण, जानकी जी के पास उसी तरह गया, जिस प्रकार शनैश्चर चित्रा के पास जाता है। उस समय उस पापी रावण का वह भव्य रूप वैसा ही जान पड़ता था, जैसा किसी कुएँ का, जो तृणों से ढका हुआ हो ॥ १० ॥

अतिष्ठृत्प्रेक्ष्य वैदेहीं रामपत्नीं यशस्विनीम् ।

शुभां रुचिरदन्तोष्टीं पूर्णचन्द्रनिभाननाम् ॥ ११ ॥

आसीनां पर्णशालायां बाष्पशोकाभिपीडिताम् ।

स तां पद्मपलाशाक्षीं पीतकौशेयवासिनीम् ॥ १२ ॥

अभ्यागच्छत वैदेहीं दुष्टचेता निशाचरः ।

स मन्मथशराविष्टो ब्रह्मघोषमुदीरयन् ॥ १३ ॥

रावण यशस्विनी श्रीरामपत्नी सीता को देखता हुआ खड़ा हो गया। सुन्दर रूपवाली, मनोहर दाँतों वाली, पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान मुख वाली, जो सीता पर्णकुटी में बैठी हुई अपने पति के शोक से दुःखी हो रही थीं, उन कमज़ सदृश नेत्र वाली, सुनहले

रंग की साड़ी पहिने हुए सीता के पास वह दुष्ट रावण पहुँचा ।
और सीता को देख वह कामासक हो संन्यासियों के पढ़ने योग्य
वेद के मंत्रों को पढ़ने लगा ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

अब्रवीत्प्रश्रितं वाक्यं रहिते राक्षसाधिपः ।

तामुत्तमां स्त्रियं लोके पद्महीनामिव श्रियम् ॥ १४ ॥

विभ्राजमानां वपुषा रावणः प्रशंसं स ह ।

का त्वं काञ्चनवर्णभे पीतकौशेयवासिनि ॥ १५ ॥

कमलानां शुभां मालां पद्मनीव हि बिभ्रती ।

१ हीः कीर्तिः श्रीः २ शुभा लक्ष्मीरप्सरा वा शुभानने ॥ १६ ॥

भूतिर्वा त्वं वरारोहे रतिर्वा स्वैरचारिणी४ ।

सप्तः शिखरिणः स्तिर्घाः पाण्डुरा दशनास्तव ॥ १७ ॥

तदनन्तर वह त्रैलोक्य-सुन्दरी और कमलहीन लक्ष्मी की तरह^१
शोभायमान शरीर से युक्त सीता की प्रशंसा करने लगा (रावण
बोला—हे रूप्य काञ्चन के समान वर्ण वाली ! हे चंपे रंग की साड़ी
पहिने वाली ! हे सुन्दर कमल के फूलों की माला से सुशोभित
कमलिनि ! हे शुभानने ! क्या तुम विष्णुपत्नी भूदेवी हो । अथवा
कीर्ति हो, अथवा कमला हो, अथवा लक्ष्मी देवी हो, अथवा कोई
अप्सरा हो, अथवा स्वतंत्र विहार करने वाली कामदेव की पत्नी
रति तो नहीं हो ? तुम्हारे दांत बराबर हैं, (ऊबड़ खाबड़ नहीं)
उनके अग्रभाग कुन्द के फूल की तरह मनोहर और सफेद
हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

१ हीः—विष्णुपत्नी भूमिः । (गो०) २ श्रोः—कमला । (गो०) ३ लक्ष्मीः—

कान्त्यधिष्ठानदेवता । (गो०) ४ स्वैरचारिणी—स्वतंत्रा । (गो०)

विशाले विमले नेत्रे रक्तान्ते कृष्णतारके ।

विशालं जघनं पीनमूरु करिकरोपमौ ॥ १८ ॥

तेरे नेत्रे विशाल, निर्मल और अरुणाई लिये हुए हैं और उनमें काली पुतलियाँ हैं। तेरी जंघाएं बड़ी और मोटी हैं और उनके नीचे का भाग हाथी की सूँड की तरह है ॥ १८ ॥

एतावुपचितौ^१ वृत्तौ संहतौ^२ संप्रविलगतौ ।

पीनोन्नतमुखौ कान्तौ स्निग्धौ तालफलोपमौ ॥ १९ ॥

और वे उठे हुए एवं गोलाकार होने के कारण आपस में मिले हुए और कुछ कुछ कम्पायमान हो रहे हैं। तुम्हारे दोनों उरोज मोटे और उनके अग्रभाग तने हुए हैं। वे परम मनोहर हैं और कोमल एवं ताल फल के आकार वाले हैं ॥ १९ ॥

मणिप्रवेकाभरणौ रुचिरौ ते पयोधरौ ।

चारुस्मिते चारुदति चारुनेत्रे विलासिनि ॥ २० ॥

उन उरोजों पर मणियों की माला पड़ी हुई उनको शोभायमान कर रही है। हे मनोहर-हास्य-न्युक्ते! हे सुन्दर दांतों वाली! हे सुन्दर नेत्रों वाली! हे विलासिनि! ॥ २० ॥

मनो हरसि मे कान्ते नदीकूलमिवाम्भसा ।

करान्तमितमध्यासि सुकेशी संहतस्तनी ॥ २१ ॥

हे कान्ते! तू मेरे मन को वैसे ही हर रही है जैस नदी का जल नदी के तट की हरण करता है। तू पतली कमर वाली है, तू सुन्दर केशों वाली है और मिले हुए उरोजों से तू सुशोभित है ॥ २१ ॥

१ उपचितौ—उन्नतौ। (गो०) २ संहतौ—अन्योन्यसंश्लिष्टौ। (गो०)

नैव देवी न गन्धर्वी न यक्षी न च किञ्चरी ।

नैवंरुपा मया नारी दृष्टपूर्वा महीतले ॥ २२ ॥

इस महीतल पर तो मैंने ऐसी रूपबती खी कभी नहीं देखी ।
तेरे रूप के समान न तो कोई देवता की खी है, न कोई गन्धर्वी है,
न कोई यदिणी है और न कोई किञ्चरी ही है ॥ २२ ॥

रूपमग्र्यंच लोकेषु सौकुमार्यं वयश्च ते ।

इह वासश्च कान्तारे चित्तमुन्मादयन्ति मे ॥ २३ ॥

कहाँ तो तेरा ऐसा सुन्दर रूप और तेरी यह सुकुमारता और
वय (उम्र) और कहाँ यह वन में रहना । जब मैं इन वातों पर
विचार करता हूँ, तब मेरा मन उन्मत्त हो उठता है ॥ २३ ॥

सा प्रतिक्राम भद्रं ते न त्वं वस्तुमिहार्हसि ।

राक्षसानामयं वासो घोराणां कामरूपिणाम् ॥ २४ ॥

अतः तू आश्रम से निकल चल । तेरा यहाँ (वन में) रहना
ठीक नहीं । क्योंकि इस वन में कामरूपी भयङ्कर राक्षसों का
द्वेरा है ॥ २४ ॥

प्रासादाग्राणि रम्याणि नगरोपवनानि च ।

सम्पन्नानि सुगन्धीनि युक्तान्याचरितुं त्वया ॥ २५ ॥

तुझको तो सुन्दर विशाल वनों में और रमणीक एवं सम्पन्न
नगरों और सुगन्धित पुष्पों से युक्त वृक्षों से परिपूर्ण उपवनों में
विहार करना उचित है ॥ २५ ॥

वरं माल्यं वरं! भोज्यं वरं वस्त्रं च शोभने ।

भर्तारं च वरं मन्ये त्वद्युक्तमसितेक्षणे ॥ २६ ॥

हे शोभने ! तुझे तो उत्तम पुष्पमालएँ धारण करनी चाहिये,
सुस्वादु भोजन करने चाहिये । सुन्दर बहिया वस्त्र पहिनने चाहिये ।
हे असितेहणे ! तेरे सप्तान तेरे लिये सुन्दर वर भी होना
चाहिये ॥२६॥

कात्वं भवसि रुद्राणां मरुतां वा वरानने ।

बसूनां वा वरारोहे देवता प्रतिभासि मे ॥ २७ ॥

हे वरानने ! क्या तू रुद्रों की, मरुतों की अथवा बसुओं की
स्त्री है । तू तो मुझे देवता सी जान पड़ती है ॥ २७ ॥

नेह गच्छन्ति गन्धर्वा न देवा न च किन्नराः ।

राक्षसानामयं वासः कथं नु त्वमिहागता ॥ २८ ॥

इस बन में गन्धर्व, देवता अथवा किन्नर नहीं आया करते ।
क्योंकि यहाँ तो राक्षसों का डेरा है, सो तू यहाँ क्यों कर
आयो ? ॥ २८ ॥

इह शाखामृगाः सिंहा द्वीपिव्याघ्रमृगास्तथा ।

ऋक्षास्तरक्षवः^१ कङ्काः कथं तेभ्यो न विभ्यसि ॥ २९ ॥

इस बन में वंदर, सिंह, चीते, बघेरें, मृग, रीछ, बड़े बड़े बाघ,
और मांसभक्ती बड़े बड़े पक्षी रहते हैं, क्या उनका तुम्हको डर
नहीं लगता ॥ २९ ॥

मदान्वितानां घोराणां कुञ्जराणां तरस्विनामृ२ ।

कथमेका महारण्ये न विभेषि वरानने ॥ ३० ॥

हे वरानने ! इस महाबन में बड़े बड़े बलवान भयङ्कर और
मतवाले हाथी घूमा करते हैं । सो अकेली होने पर भी तुझे उनसे
डर क्यों नहीं लगता ॥ ३० ॥

१ तरक्षवो—मृगादनामहाव्याघ्राः । (गो०) २ तरस्विनां—बलवतां । (गो०)

कासि कस्य कुतश्चित्त्वं किनिमित्तं च दण्डकान् ।

एका चरसि कल्याणि धोरान्राक्षसेवितान् ॥ ३१ ॥

हे कल्याणी ! तू कौन है ? किसकी ल्ली है ? कहाँ से आयी है ?
और इस दण्डकवन में आने का कारण क्या है ? तू भयङ्कर राक्षसों
से सेवित इस वन में अकेली क्यों बिचरती है ॥ ३१ ॥

इति प्रशस्ता वैदेही रावणेन दुरात्मना ।

द्विजातिवेषेण^१ हितं^२ दृष्ट्वा रावणमागतम् ॥ ३२ ॥

जब इस प्रकार रावण ने सीता जी की प्रशंसा की तब उस
संन्यासवेषधारी रावण को आया हुआ देख, सीता जी ने उसका
यथाविधि आतिथ्य किया ॥ ३२ ॥

सर्वैरतिथिसत्कारैः पूजयामास मैथिली ।

उपनीयासनं पूर्वं पाद्येनाभिनिमन्त्र्य च ।

अब्रवीत्सिद्धमित्येव तदा तं सौम्यदर्शनम् ॥ ३३ ॥

सीता ने पहले उसे बैठने को आसन दिया, फिर पैर धोने को
जल दिया, फिर फल आदि भोज्य पदार्थ देते हुए कहा, यह सिद्ध
किये हुए पदार्थ हैं (अर्थात् भूंजे हुए अथवा पकाये हुए) ॥ ३३ ॥

द्विजातिवेषेण समीक्ष्य मैथिली

समागतं पात्रकुमुमभृथारिणम् ।

अशक्यमुद्देष्टुमपायदर्शनं

न्यमन्त्रयद्ब्राह्मणवत्तदाङ्गना ॥ ३४ ॥

^१ द्विजातिवेषेण — संन्यासवेषे (गो०) ^२ हितं — सहितं (गो०) ^३ कुमुम —
महारजताल्यरञ्जकद्रव्यविशेष रक्तंवस्त्रं । (गो०)

संन्यासी का रूप धारण किये, गेहुआ बख्त पहिने अथवा कमण्डल
लिये हुए रावण को देख, और उसे महात्मा जान, जानकी जी ने
उसकी उपेक्षा करनी उचित न समझी। अतः जानकी जी ने
उसका ब्राह्मण जैसा सत्कार किया ॥ ३४ ॥

इयं बुसी ब्राह्मण काममास्यताम्
इदं च पादं प्रतिगृह्यतामिति ।
इदं च सिद्धं वनजातमुत्तमम्
त्वदर्थमव्यग्रमिहोपभुज्यताम् ॥ ३५ ॥

सीता जी ने कहा—हे ब्राह्मण ! यह आसन है इस पर आप
विराजें। यह पैर धोने को जल है, इसे लें। ये बन में उत्पन्न हुए पके
या भूने हुए फल आपके भोजन के लिये हैं। आप इनको व्यग्रता
छोड अर्थात् शान्त होकर, खाँय ॥ ३५ ॥

निमन्त्यमाणः प्रतिपूर्णभाषिणीं
नरेन्द्रपत्नीं प्रसमीक्ष्य मैथिलीम् ।
प्रसह्य तस्या हरणे धृतं मनः
समार्पयत्स्वात्मवधाय रावणः ॥ ३६ ॥

सीता जी ने जब इस प्रकार रावण का आतिथ्य किया और
मधुर बचन कहे, तब रावण ने अपना नाश करने के लिये बलपूर्वक
सीता को हरना चाहा ॥ ३६ ॥

ततः सुवेषं मृगयागतं पतिं
प्रतीक्षमाणा सहलक्ष्मणं तदा ।

*विवीक्षमाणा हरितं ददर्श तन्

महद्वनं नैव तु रामलक्ष्मणौ ॥ ३७ ॥

इति षट्चत्वारिंशः सर्गः ॥

सीता जी परम सुन्दर और शिकार के लिये गए हुए श्रीरामचन्द्र जी को तथा लक्ष्मण जी को प्रतीक्षा करती हुई वन की ओर देखने लगीं। उस समय उनको चारों ओर हरा हरा वन ही देख पड़ा, किन्तु श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण आते न देख पड़े ॥ ३७ ॥

अरण्यकाण्ड का क्रियालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

सप्तचत्वारिंशः सर्गः

रावणेन तु वैदेही तथा पृष्ठा जिहीर्षता^१ ।

परिव्राजकलिङ्गेन शशंसात्मानमङ्ग्नना ॥ १ ॥

जब संन्यासी वेषधारी रावण ने हरण करने की अभिलाषा से, इस प्रकार पूँछा, तब सीता जी ने अपने मन में विचारा ॥ १ ॥

ब्राह्मणश्चातिथिश्चायमनुक्तो हि शपेत माम् ।

इति ध्यात्वा मुहूर्तं तु सीता वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥

कि इस ब्राह्मण अतिथि को यदि मैं अपना नाम व गोत्र न बतलाऊँगी, तो यह मुझे शाप दे देगा। इस बात पर दो घड़ी विचार कर सीता जी बोलीं ॥ २ ॥

दुहिता जनकस्याहं मैथिलस्य महात्मनः ।

सीता नाम्नास्मि भद्रं ते रामभार्या द्विजोत्तम ॥ ३ ॥

^१ जिहीर्षता — हर्दुर्मिच्छता । (गो०)

*पाठान्तरे — “निरीक्षमाणा,” वा “समीक्षमाणा” ।

मैं मिथिला देशाधिपति राजा जनक की लड़की हूँ । मेरा नाम सीता है और मैं श्रीरामचन्द्र की प्रिय भार्या हूँ ॥ ३ ॥

उषित्वा द्वादश सप्ता इक्ष्वाकूणां निवेशने ।

भुज्ञानान्मानुषान्भोगान्सर्वकामसमृद्धिनी ॥ ४ ॥

विवाह के अनन्तर मैं ने बारह वर्ष तक इक्ष्वाकुवंशियों की राजधानी अयोध्या में रह कर, मनुष्यदुर्लभ भोग भोगे और अपने सब मनोरथों को पूर्ण किया ॥ ४ ॥

ततस्त्रयोदशे वर्षे राजामन्त्रयत प्रभुः ।

अभिषेचयितं रामं सपेतो राजमन्त्रिभिः ॥ ५ ॥

तदनन्तर तेरहवें वर्ष महाराज दशरथ ने श्रेष्ठ मंत्रियों से परामर्श कर, श्रीरामचन्द्र का अभिषेक करने का विचार किया ॥ ५ ॥

तस्मिन्संभ्रियमाणे तु राघवस्याभिषेचने ।

कैकेयी नाम भर्तारमार्याः सा याचते वरम् ॥ ६ ॥

जब श्रीरामाभिषेक की सब तैयारियाँ होने लगीं, तब कैकेयी ने, जो मेरी सास लगती है, महाराज से वर माँगा ॥ ६ ॥

प्रतिगृह्य तु कैकेयी श्वशुरं सुकृतेन मे ।

मम प्रव्राजनं भर्तुर्भरतस्याभिषेचनम् ॥ ७ ॥

कैकेयो ने, मेरे ससुर को धर्म के वश में कर, मेरे पति के लिये वनवास और भरत के लिये राज्याभिषेक चाहा ॥ ७ ॥

द्वावयाचत भर्तारं सत्यसंधं नृपोत्तमम् ।

नाद्य भोक्ष्ये न च स्वप्स्ये न च पास्ये कथञ्चन ॥ ८ ॥

१ राजमन्त्रिभिः—मंत्रिश्रेष्ठैः (गो०) २ आर्या—पूज्या ममश्वश्रूरित्यर्थः ।

सत्यप्रतिज्ञ व पतिश्रेष्ठ महाराज दशरथ से ये दो वर माँगे ।
साथ ही यह भी कहा कि, मैं आज न किसी प्रकार भी खाऊँगी
न पीऊँगी और न सेऊँगी ॥ ८ ॥

एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्याभिष्ठ्यते ।

इति ब्रुवाणां कैकेयीं श्वशुरो मे स मानदः ॥ ९ ॥

यदि श्रीराम का राज्याभिषेक हुआ तो मैं अपने प्राण दे दूँगी ।
जब कैकेयी ने इस प्रकार कहा, तब बहुत सन्मान करने वाले मेरे
ससुर महाराज दशरथ जी ने ॥ ९ ॥

अयाचतार्थैरन्वर्थैर्न च याच्चां चकार सा ।

मम भर्ता महातेजा वयसा पञ्चविंशकः ॥ १० ॥

कैकेयी से विविध प्रकार के अन्य पदार्थ माँगने के लिये कहा—
परन्तु उसने और कुछ न चाहा । उस समय मेरे पति महातेजस्वी
श्रीरामचन्द्र की उम्र २५ वर्ष की ॥ १० ॥

अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते ।

रामेति प्रथितो लोके गुणवान्^१सत्यवाच्यशुचिः ॥ ११ ॥

विशालाक्षो महाबाहुः सर्वभूतहिते रतः ।

कामार्तस्तु महातेजाः पिता दशरथः स्वयम् ॥ १२ ॥

कैकेय्याः प्रियकामार्थं तं रामं नाभ्यषेचयत् ।

अभिषेकाय तु पितुः समीपं राममागतम् ॥ १३ ॥

और मेरी जन्मकाल से गणना करके १८ वर्ष की थी, श्रीरामचन्द्र
जो लोक में प्रसिद्ध हैं और जो सुशील, सत्यवादी, पवित्र, बड़े नेत्रों
और लंबी बाहुओं वाले हैं तथा सब प्राणियों के हितकारी हैं—उनका

^१ गुणवान्—सौरीश्वर्यवान् । (गो०)

महातेजस्वी महाराज दशरथ ने कामासक्त हो, कैकेयी को प्रसन्न करने के लिए स्वयं राज्याभिषेक न किया और जब अभिषेक के लिये श्रीरामचन्द्र पिता के समोप गये ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

कैकेयी मम भर्तारमित्युवाच धृतं वचः ।

तब पित्रा समाजसं ममेदं शृणु राघव ॥ १४ ॥

तब कैकेयी ने धोरज धारण कर, कहा—हे रामचन्द्र ! तुम्हारे पिता ने तुम्हारे लिये जो आज्ञा दो है, वह मुझसे सुनो ॥ १४ ॥

भरताय प्रदातव्यमिदं राज्यमकण्टकम् ।

त्वया हि खलु वस्तव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ १५ ॥

यह निष्कण्टक राज्य भरत को दिया जाय और तुम्हें १५ वर्ष तक अवश्य वन में रहना चाहिये ॥ १५ ॥

वने प्रत्रज काकुत्स्थ पितरं मोचयानृतात् ।

तथेत्युक्त्वा च तां रामः कैकेयीमकुतोभयः ॥ १६ ॥

इससे तुम्हें चाहिये कि, तुम अपने पिता को भूठा न होने दो । तब दूढ़ व्रतधारी मेरे पति श्रीरामचन्द्र जी ने निडर हो कैकेयी से कहा कि, अच्छा ऐसा ही होगा ॥ १६ ॥

चकार तद्वचस्तस्या मम भर्ता दृढव्रतः ।

दद्वान्न प्रतिगृहीयात्सत्यं ब्रूयान्न चानृतम् ॥ १७ ॥

और तदनुसार ही कार्य भी किया । मेरे पति वडे दृढव्रत हैं । वे दान तो देते हैं, पर दान लेते नहीं, वे सच बोलते हैं, किन्तु भूठ नहीं बोलते ॥ १७ ॥

एतद्ब्राह्मण रामस्य ध्रुवं व्रतमनुत्तमम् ।

तस्य भ्राता तु द्वैमात्रो लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥ १८ ॥

हे ब्राह्मण ! रामचन्द्र जी के निश्चय ये ही उत्तमोत्तम व्रत हैं ।
उनके सौतेले भाई लक्ष्मण वडे वीर है ॥ १८ ॥

रामस्य पुरुषव्याघ्रः सहायः समरेऽरिहा ।

स भ्राता लक्ष्मणो नाम धर्मचारी दृढव्रतः ॥ १९ ॥

वे मेरे पति के सहायक और समर में शत्रु का नाश करने वाले हैं । वे दृढव्रत और ब्रह्मचारी लक्ष्मण ॥ १९ ॥

अन्वगच्छद्धनुष्पाणिः प्रवजन्तं मया सह ।

जटी तापसरूपेण मया सह सहानुजः ॥ २० ॥

जटा रखाये हुए हाथ में धनुष लिये तपस्वी के रूप में, मेरे साथ अनुगामी हुए हैं ॥ २० ॥

प्रविष्टो दण्डकारण्यं धर्मनित्यो जितेन्द्रियः ।

ते वयं प्रच्युता राज्यात्कैकेयास्तु कृते त्रयः ॥ २१ ॥

इस प्रकार धर्म में नित्य तत्पर और जितेन्द्रिय, श्रीरामचन्द्र जी आदि हम तीनों जन कैकेयी द्वारा राज्य से च्युत हो, इस दण्डक-वन में आये हैं ॥ २१ ॥

विचराम द्विजश्रेष्ठ वनं गम्भीरमोजसा ।

समाश्वस मुहूर्तं तु शक्यं वस्तुमिह त्वया ॥ २२ ॥

आगमिष्यति मे भर्ता वन्यमादाय पुष्कलम् ।

[रुलन्गोधान्वराहांश्च हत्वाऽऽदयामिषान्वहून ॥२३॥]

और अपने बलबूते पर इस भङ्ग्यर बन में विचरते हैं। द्विज-
श्रेष्ठ, तुम मूहूर्त भर यहाँ उहरो। मेरे पति अनेक वन्य पदार्थों को ले
कर आते होंगे। रुह, गोह और बनैले शुकर को मार, वे बहुत सा
माँस लावेंगे ॥२२॥२३॥

स त्वं नाम च गोत्रं च कुलं चाचक्ष्व तत्त्वतः ।
एकश्च दण्डकारण्ये किमर्थं चरसि द्विज ॥ २४ ॥

अब आप अपना नाम, गोत्र और कुल ठीक ठीक बतलाइये
और यह भी बतलाइये कि, आप अकेले इस दण्डकवन में क्यों
फिरते हैं ॥ २४ ॥

एवं ब्रुवन्त्यां सीतायां रामपत्न्यां महावलः ।
प्रत्युवाचोत्तरं तीव्रं रावणो राक्षसाधिपः ॥ २५ ॥

जब सीता जी ने ऐसे बचन कहे, तब महावली राक्षसनाथ
रावण ने ये कठोर बचन कहे ॥ २५ ॥

येन वित्रासिता लोकाः सदेवासुरपन्नगाः ।
अहं स रावणो नाम सीते रक्षोगणेश्वरः ॥ २६ ॥

हे सीते! जिसके डर से देवताओं, असुरों और मनुष्यों सहित
तीनों लोक थरथराते हैं, मैं वही राक्षसों का राजा रावण हूँ ॥ २६ ॥

त्वां तु काञ्चनवर्णाभां दृष्टा कौशेयवासिनीम् ।

रतिं स्वकेषु दारेषु नाधिगच्छाम्यनिन्दिते ॥ २७ ॥

हे अनिन्दिते! तेरे सुवर्ण तुल्य शरीर के रंग और कौशेय वस्त्र
को देख कर, मुझे अपनी पत्नियों के प्रति प्रीति नहीं रही ॥ २७ ॥

बहीनामुत्तमस्त्रीणामाहृतानामितस्ततः ।
सर्वासामेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी भव ॥ २८ ॥

मैं बहुत सी उत्तम खियों को अनेक स्थानों से हर कर लाया हूँ। सो तू उन सब में मेरी पटरानी बन ॥ २८ ॥

लङ्घा नाम समुद्रस्य मध्ये मम महापुरी ।

सागरेण परिक्षिप्ता निविष्टा नागमूर्धनि ॥ २९ ॥

समुद्र के बीच में लङ्घा नाम की मेरी महापुरी है। वह चारों ओर से समुद्र से घिरी हुई है और पर्वतशृङ्ग पर स्थित है ॥ २९ ॥

तत्र सीते मया सार्धं बनेषु विहरिष्यसि ।

न चास्यारण्यवासस्य स्पृहयिष्यसि भामिनि ॥ ३० ॥

हे सीते ! वहाँ तू मेरे साथ जब बनो में विहार करेगी, तब तुझे इस बन में रहने की इच्छा न रह जायगी ॥ ३० ॥

एवं दास्यः सहस्राणि सर्वाभरणभूषिताः ।

सीते परिचरिष्यन्ति भार्या भवसि मे यदि ॥ ३१ ॥

हे सीते ! यदि तू मेरी भार्या बनना अंगीकार कर लेगी, तो पांच हजार दासियां, जो समस्त आभूषणों से सुसज्जित हैं, तेरी परिचर्या करेंगी ॥ ३१ ॥

रावणेनैवमुक्ता तु कुपिता जनकात्मजा ।

प्रत्युवाचानवद्याङ्गी तमनाद्य राक्षसम् ॥ ३२ ॥

रावण के ऐसे बचन सुन, अनिन्दिता सीता कुपित हुई और उस राक्षस का तिरस्कार कर बोलीं ॥ ३२ ॥

महागिरिमिवाकम्प्यं महेन्द्रसदृशं पतिम् ।

महोदधिमिवाक्षोभ्यमहं राममनुव्रता ॥ ३३ ॥

महेन्द्राचल पर्वत को तरह अचल अटल और समुद्र की तरह ज्ञोभरहित श्रीरामचन्द्र की मैं अनुगामिनी हूँ ॥ ३३ ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं न्यग्रोधपरिमण्डलम् ।

सत्यसन्धं महाभागमहं राममनुव्रता ॥ ३४ ॥

जो सब शुभलक्षणों से युक्त और बटवृत्त की तरह सर्वको सदैव सुखदायी हैं, उन सत्यप्रतिज्ञ और महाभाग श्रीरामचन्द्र की मैं अनुगामिनी हूँ ॥ ३४ ॥

[बटवृक्ष—“कूपोदकं वटच्छाया युवतीनां स्तनद्वयम् ।
शीतकाले भवेत्युष्णमुष्णकाले च शीतलम् ॥”]

महाबाहुं महोरस्कं सिंहविक्रान्तगामिनम् ।

नृसिंहं सिंहसङ्काशमहं राममनुव्रता ॥ ३५ ॥

महाबाहु, चौड़ी छाती वाले, सिंह जैसी चाल चलने वाले, पुरुषसिंह, और सिंह से समान पराकर्मी श्रीरामचन्द्र की मैं अनुगामिनी हूँ ॥ ३५ ॥

पूर्णचन्द्राननं रामं राजवत्सं^१ जितेन्द्रियम् ।

पृथुकीर्ति महात्मानमहं राममनुव्रता ॥ ३६ ॥

मैं उन राजकुमार एवं जितेन्द्रिय श्रीराम की अनुगामिनी हूँ, जिनका मुख पूर्णमासी के चन्द्रमा के तुल्य है, जिनकी कीर्ति दिग दिगन्त व्यापिनी है और जो महात्मा हैं ॥ ३६ ॥

त्वं पुनर्जम्बुकः सिंहीं मामिच्छसि सुदुर्लभाम् ।

नाहं शक्या त्वया स्पष्टुमादित्यस्य प्रभायथा ॥ ३७ ॥

सो तू शृगाल के समान हो कर, सिंहनी के तुल्य मुझे चाहता है। किन्तु तू मुझे उसी प्रकार नहीं दू सकता, जिस प्रकार सूर्य की प्रभा को कोई नहीं दू सकता ॥ ३७ ॥

^१ राजवत्सं—राजकुमारं (शो०)

पादपान्काश्चनान्नूनं* बहून्पश्यसि मन्दभाक् ।

राघवस्य प्रियां भार्या यस्त्वमिच्छसि रावण ॥ ३८ ॥

अरे अभागे राज्ञस ! जब तू श्रीरामचन्द्र जी की प्रिय भार्या को हरना चाहता है, तब निश्चय ही तू बहुत से सुवर्णमय वृक्ष (स्वप्न में) देखता होगा ॥ ३८ ॥

[नोट—जो शीत्र मरने वाले होते हैं, उनको स्वप्न में सोने के वृक्ष दिखलाई पड़ते हैं ।]

क्षुधितस्य हि सिंहस्य मृगशत्रोस्तरस्विनः ।

आशीविषस्य वदनाद्यामादातुमिच्छसि ॥ ३९ ॥

मृग के बलवान शत्रु भूखे सिंह के अथवा विषधर सर्प के मुख से तू दाँत उखाड़ना चाहता है ॥ ३९ ॥

मन्दरं पर्वतश्रेष्ठं पाणिना हर्तुमिच्छसि ।

कालकूटं विषं पीत्वा स्वस्तियान्गम्तुमिच्छसि ॥ ४० ॥

तू पर्वतश्रेष्ठ मन्दराचल को हाथ से हरण करना चाहता है और हलाहल विषपान कर के भी तू सुखपूर्वक चला जाना चाहता है ॥ ४० ॥

अक्षि सूच्या प्रमृजसि जिह्वा लेक्षि च क्षुरम् ।

राघवस्य प्रियां भर्या योऽधिगन्तुं^१ त्वमिच्छसि ॥ ४१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की भार्या को पाने की इच्छा कर, मानों तू आँख की सफाई सुई से करता है और जिह्वा से कुरे को चाटता है ॥ ४१ ॥

अवसज्य शिलां कण्ठे समुद्रं तर्तुमिच्छसि ।

सूर्याचन्द्रमसौ चोभौ पाणिभ्यां हर्तुमिच्छसि ॥ ४२ ॥

^१ अधिगन्तु—प्राप्तु । (गो०) * पाठान्तरे—‘बहू’ ।

अथवा गले में पत्थर बाँध समुद्र को पार करता है और हाथों से सूर्य और चन्द्रमा को पकड़ना चाहता है ॥ ४२ ॥

यो रामस्य प्रियां भार्यां प्रधर्षयितुमिच्छसि ।

अग्नि प्रज्वलितं दृश्वा वस्त्रेणाहर्तुमिच्छसि ॥ ४३ ॥

तू जो श्रीरामचन्द्र की भार्या को प्राप्त करना चाहता है, सो मानों तू प्रज्वलित अग्नि को वस्त्र में लपेट कर के जाना चाहता है ॥ ४३ ॥

कल्याणवृत्तां^१ रामस्य यो भार्या^२ हर्तुमिच्छसि ।

अयोग्युखाना शूलानामग्रे चरितुमिच्छसि ।

रामस्य सदृशीं भार्या^३ योऽधिगन्तु^४ त्वमिच्छसि ॥ ४४ ॥

तू जो ! शुभाचरण वाले श्रीराम की भार्या के पाने की अभिलाषा रखता है, सो मानों तू लोहे के नुकीले काँटों पर चलना चाहता है । तू श्रीराम की ऐसी पत्नी को प्राप्त करना चाहता है ॥ ४४ ॥

यदन्तर सिंहसूगालयोर्वने^५

यदन्तरं स्यन्दिनिकाः समुद्रयोः ।

सुराग्य^६ सौवीर^७ क्योर्यदन्तरं

तदन्तरं वै तव राघवस्य च ॥ ४५ ॥

जो भेद सिंह और स्यार में है, जो अन्तर लुद्र नदी और समुद्र है ; जो अन्तर श्रेष्ठ मध्य और कांजी में है ; वही अन्तर श्रीरामचन्द्र में और तुझमें है ॥ ४५ ॥

१ कल्याणवृत्तां — शुभाचारां । (गो०) २ वने — जले । (गो०) ३ स्यन्दिनिका —
क्षुद्रनदी । (गो०) ४ सुराग्यं — श्रेष्ठ मध्यं । (गो०) ५ सौवीरकं — काञ्जिकं । (गो०)

यदन्तरं काञ्चनसीसलोहयो-
 र्यदन्तरं चन्दनवारिपङ्क्योः ।
 यदन्तरं इस्तिविडालयोर्वने
 तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४६ ॥

जो अन्तर सोने और सांसे लोहे में है, जो अन्तर चन्दन और पानी की कीचड़ में है, जो अन्तर बन में (बसने वाले) हाथी और बिल्ली में है; वही अन्तर दशरथनन्दन और तुझमें है ॥ ४६ ॥

यदन्तरं वायसवैनतेययो-
 र्यदन्तरं १मद्गुपयूरयोरपि ।
 यदन्तरं सारसगृध्रयोर्वने
 तदन्तरं दाशरथेस्तवैव च ॥ ४७ ॥

जो अन्तर गरुड़ और कौप में है, जो अन्तर जलकाक और मार में है और जो अन्तर बन में (बसने वाले) सारस और गृद्ध में है; वही अन्तर दाशरथी श्रीराम और तुझमें है ॥ ४७ ॥

तस्मिन्सहस्राक्षसमप्रभावे
 रामे स्थिते कार्मुकबाणपाणौ ।
 हृतापि तेऽहं न जरां गमिष्ये
 वज्रं यथा पक्षिकयाऽवर्गीर्णम् ॥ ४८ ॥

इन्द्र के समान प्रभाव वाले और हाथ में धनुष बाण लिये हुए श्रीरामचन्द्र के रहते यदि तू मुझे हर भी ले जायगा, तो मुझे उसी

तरह न पचा सकेगा, जैसे मक्खी (चांवल के धोखे में) हीरा खा कर, उसे नहीं पचा सकती ॥ ४८ ॥

इतीव तद्वाक्यमदुष्टभावा
सुधृष्टमुक्त्वा रजनीचरं तम् ।
गात्रप्रकम्पयथिता बभूव
वातोद्धता सा कदलीव तन्वी ॥ ४९ ॥

जिस प्रकार पवन के वेग से केले का वृक्ष काँपने लगता है, वैसे ही साधु स्वभाव वाली सीता, अत्यन्त धृष्टतापूर्ण बचन उस राहस से कह कर, थर थर काँपने लगा ॥ ४६ ॥

तां वेपमानामुपलक्ष्य सीतां
स रावणो मृत्युसमप्रभावः ।
कुलं बलं नाम च कर्म च स्वं
समावचक्षे भयकारणार्थम् ॥ ५० ॥

इति सप्तचत्वारिंशः सर्गः ॥

काल समान रावण, सीता को डर से थर थर काँपने देख, उसे और भी अधिक भयभीत करने के लिये, अपने कुल, बल, नाम और कामों का बखान करने लगा ॥ ५० ॥

अरण्यकारड का सैतालिसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।



अष्टचत्वारिंशः सर्गः

—*—

एवं ब्रुवन्त्यां सीतायां संरब्धः^१ परुषं वचः ।
ललाटे भ्रुकुटीं कृत्वा रावणः प्रत्युवाच ह ॥ १ ॥

जब सीता जी ने इस प्रकार के कठोर वचन कहे, तब रावण ने महाकुद्ध हो और भौंहे टेढ़ी कर, कठोर वचन कहना आरम्भ किया ॥ १ ॥

भ्राता वैश्रवणस्याहं सापत्न्यो वरवर्णिनि ।

रावणो नाम भद्रं ते दशग्रीवः प्रतापवान् ॥ २ ॥

हे सुन्दरी ! तेरा भला हो, मैं कुवेर का सौतेला भाई हूँ । मेरा नाम रावण है । मैं दससीस वाला और बड़ा प्रतापी हूँ ॥ २ ॥

यस्य देवाः सगन्धर्वाः पिशाचपतगोरगाः ।

विद्रवन्ति भयाद्गीता मृत्योरिव सदा प्रजाः ॥ ३ ॥

मेरे डर के मारे देवता, गन्धर्व, पिशाच, पन्नग और सर्प उसी प्रकार भाग खड़े होते हैं, जैसे मनुष्य लोग मृत्यु के डर से भागते हैं ॥ ३ ॥

येन वैश्रवणो राजा द्वैमात्रः^२ कारणान्तरे ।

द्वन्द्वमासादितः^३ क्रोधाद्रणे विक्रम्य निर्जितः ॥ ४ ॥

मैंने अपने सौतेले भाई कुवेर को कारण विशेष वश युद्ध में क्रुद्ध हो अपने बल विक्रम से जीता है ॥ ४ ॥

^१ संरब्धः—कुपितः । (गो०) ^२ द्वैमात्रः—सप्तनीमातृपुत्रः । (गो०)

^३ द्वन्द्व—युद्ध । (गो०)

यद्ययार्तः परित्यज्य स्वमधिष्ठानमृद्धिमत् ।

कैलासं पर्वतश्रेष्ठमध्यास्ते नरवाहनः ॥ ५ ॥

वह कुवेर मेरे भय से भीत हो, भरी पूरी अपनी लङ्घापुरी को त्याग, पर्वतश्रेष्ठ कैलास पर जा बसा है ॥ ५ ॥

यस्य तत्पुष्पकं नाम विमानं कामगं शुभम् ।

वीर्यदेवार्जितं भद्रे येन यामि विहायसम्^१ ॥ ६ ॥

उसके सुन्दर और इच्छाचारी पुष्पक विमान को मैंने बरजोरी उससे छीन लिया है। मैं उसी विमान में बैठ आकाश में घूमा करता हूँ ॥ ६ ॥

यम सञ्चातरोषस्य मुखं दृष्टैव मैथिलि ।

विद्रवन्ति परित्रस्ताः सुराः शक्रपुरोगमाः ॥ ७ ॥

हे मैथिली ! इन्द्रादि देवता मेरा कुपित मुख देख, भयभीत हो भाग जाते हैं ॥ ७ ॥

यत्र तिष्ठाम्यहं तत्र मारुतो वाति शङ्कितः ।

तीव्रांशुः शिशिरांशुश्च भयात्सम्पद्यते रविः ॥ ८ ॥

जहाँ मैं खड़ा होता हूँ, वहाँ पवन शङ्कायुक हो वहता है। मेरे डर के मारे सूर्य को प्रब्लर किरणें चन्द्रमा की तरह शीतल पड़ जाती हैं ॥ ८ ॥

निष्कम्पपत्रास्तरवो नद्यश्च स्तिमितोदकाः ।

भवन्ति यत्र यत्राहं तिष्ठामि विचरामि च ॥ ९ ॥

^१ विहायसम्—आकाशं । (गो०)

जहाँ पर मैं उठता बैठता हूँ या शूमता फिरता हूँ, वहाँ वृक्षों के पत्तों का हिलना बंद हो जाता है और नदियों की धार रुक जाती है ॥ ६ ॥

मम पारे समुद्रस्य लङ्घा नाम पुरी शुभा ।

सम्पूर्णा राक्षसैघोरैर्यथेन्द्रस्यामरावती ॥ १० ॥

समुद्र के पार लङ्घा नामक मेरी परम सुन्दर नगरी है । वह भयङ्कर राक्षसों से वैसे ही परिपूर्ण है, जैसे (देवताओं से) इन्द्रपुरी अमरावती ॥ १० ॥

प्राकारेण परिक्षिप्ता पाण्डुरेण विराजता ।

हेमकक्ष्या पुरी रम्या वैद्वर्यमयतोरणा ॥ ११ ॥

वह सफेद परकोटे से घिरी हुई है । उसके चौक सोने के हैं और उसके बाहिरी सब फाटक वैद्वर्य मणि के बने हुए हैं । वह नगरी सुरम्य है ॥ ११ ॥

हस्त्यश्वरथसंबाधा तूर्यनादविनादिता ।

सर्वकालफलैर्वक्षैः सङ्कुलोद्यान शोभिता ॥ १२ ॥

हाथियों और घोड़ों तथा रथों से वह भरी हुई है और उसमें बाजे सदा बजा ही करते हैं, सब ऋतुओं में फलने वाले वृक्षों से युक्त उद्यानों से वह सुशोभित है ॥ १२ ॥

तत्र त्वं वसती सीते राजपुत्रि मया सह ।

न स्मरिष्यसि नारीणां मानुषीणां मनस्विनी ॥ १३ ॥

हे राजकुमारी सीते ! वहाँ चल कर तू मेरे साथ रहना । वहाँ रहने पर तुझे कभी मानवी नारियों का स्मरण भी न होगा ॥ १३ ॥

भुञ्जाना मानुषान्भोगान्दिव्यांश्च वरवर्णिनि ।

न स्मरिष्यसि रामस्य मानुषस्य गतायुषः ॥ १४ ॥

हे वरवर्णिनी ! जब तू वहाँ मनुष्योचित भोग्य एवं दिव्य पदार्थों को उपभोग करेगी ; तब तू गतायु और मनुष्य-शरीर-धारी राम को कभी याद भी न करेगी ॥ १४ ॥

स्थापयित्वा प्रियं पुत्रं *राज्ये दशरथेन यः ।

मन्दवीर्यः सुतो ज्येष्ठस्ततः प्रस्थापितो ह्ययम् ॥ १५ ॥

देखो दशरथ ने अपने प्यारे पुत्र भरत को राज्य पर बिठाया और निकम्मे ज्येष्ठ पुत्र राम को बन में निकाल दिया ॥ १५ ॥

तेन किं भ्रष्टराज्येन रामेण गतचेतसा^१ ।

करिष्यसि विशालाक्षि तापसेन^२ तपस्विना^३ ॥ १६ ॥

हे विशालाक्षी ! तुम उस राज्यभ्रष्ट एवं कर्तव्याकर्तव्यज्ञान-शून्य, डरपोक और शोच्य राम के पास रह कर क्या करोगी ? ॥ १६ ॥

सर्वराक्षसभर्तारं कामा^४त्स्वयमिहागतम् ।

न मन्मथशराविष्टं प्रत्याख्यातुं त्वमर्हसि ॥ १७ ॥

मैं राक्षसों का राजा हो कर भी अपनी इच्छा से अपने आप यहाँ आया हूँ । मैं कामदेव के बाणों से घायल हो रहा हूँ । मेरा तिरस्कार करना तुझको उचित नहीं है ॥ १७ ॥

प्रत्याख्याय हि मां भीरु परितापं गमिष्यसि ।

चरणेनाभिहत्येव पुरुरवसमुर्वशी ॥ १८ ॥

१ गतचेतसा—कर्तव्याकर्तव्यमूढमनसा । (गो०) २ तापसेन—“ भग्ना कृषेभार्गवता भवन्ति ” इति व्यायेन अशूरेण । (गो०) ३ तपस्विना—शोच्येन । (गो०) ४ कामात्—स्वेच्छया । (शि०) * पाठान्तरे—“ राजा ” ।

हे भीह ! यदि तू मेरा तिरस्कार करेगी, तो पीछे तुझको वैसे ही पछताना पड़ेगा, जैसे उर्बशो अप्सरा राजा पुष्टवा के लात मार कर, पछतायी थी ॥ १८ ॥

अङ्गुल्या न समो रामो मम युद्धे स मानुषः ।

तव भाग्येन सम्प्राप्तं भजस्व वरवर्णिनि ॥ १९ ॥

राम मनुष्य है, वह युद्ध में मेरी एक अंगुली के बल के समान भी (बलवान्) नहीं है । (अर्थात् उसमें इतना भी बल नहीं, जितना मेरी एक अंगुली में है) अतः वह युद्ध में मेरा सामना कैसे कर सकता है । हे वरवर्णिनी ! इसे तू अपना सौभाग्य समझ कि, मैं यहाँ आया हूँ । अतः तू मुझे अङ्गीकार कर ॥ १९ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही क्रुद्धा संरक्षलोचना ।

अब्रवीत्परुषं वाक्यं १रहिते राक्षसाधिपम् ॥ २० ॥

रावण के ऐसे बचन सुन, सीता कृपित हो और लाल लाल नेत्र कर, उस निर्जन बन में रावण से कठोर बचन बोली ॥ २० ॥

कथं वैश्रवणं देवं सर्वभूतनमस्तुतम् ।

भ्रातरं व्यपदिश्य त्वमशुभं कर्तुमिच्छसि ॥ २१ ॥

हे रावण ! तू सर्वदेवताओं के पूज्य कुवेर को अपना भाई बतला कर भी, ऐसा बुरा काम करने को (क्यों) उतारु हुआ है ? ॥ २१ ॥

अवश्यं विनशिष्यन्ति सर्वे रावण राक्षसाः ।

येषां त्वं कर्कशो राजा दुर्बुद्धिरजितेन्द्रियः ॥ २२ ॥

हे रावण ! याद रख । निश्चय ही वे समस्त राक्षस मारे जायगे, जिनका तुझ जैसा क्रूर, दुष्टबुद्धि और अजितेन्द्रिय राजा है ॥ २२ ॥

^१ रहिते—निर्जने बने । (गो०)

अपहृत्य शर्चीं भार्या शक्यमिन्दस्य जीवितम् ।

न च रामस्य भार्या मामपनीयास्ति जीवितम् ॥ २३ ॥

इन्द्र की पत्नी शर्ची को हर कर, कोई चाहे भले ही जीता बना रहे; किन्तु रामपत्नी मुझको हर कर, कोई जीता नहीं रह सकता ॥२३॥

जीवेचिरं वज्रधरस्य हस्ता-

च्छर्चीं प्रधृष्याप्रतिरूपरूपाम् ।

न मादशीं राक्षस दूषित्वा

पीतामतस्यापि तवास्ति मोक्षः ॥ २४ ॥

इति अष्टचत्वारिंशः सर्गः ॥

हे राक्षस ! अत्यन्त रूपवती शर्ची को हरने वाला, वज्रधारी इन्द्र के हाथ से एक बार जीता बच भी सकता है; किन्तु मुझ जैसी को दूषित कर, अमृतपान किया हुआ पुरुष भी, मृत्यु के हाथ से नहीं बच सकता ॥ २४ ॥

अरण्यकाण्ड का अड़तालीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनपञ्चाशः सर्गः

—;*;—

सीताया वचनं श्रुत्वा दशग्रीवः प्रतापवान् ।

हस्ते हस्तं समाहत्य चकार सुमहद्वपुः ॥ १ ॥

प्रतापी रावण ने सीता के ये वचन सुन, हाथ पर हाथ मार, अपना विशाल शरीर प्रकट किया ॥ १ ॥

स मैथिलीं पुनर्वाक्यं बभाषे च ततो भशम् ।
नोन्मत्तया श्रुतौ मन्ये मम वीर्यपराक्रमौ ॥ २ ॥

फिर उसने सीता से कहा—मैं जानता हूँ कि, तू पगली है,
क्योंकि तूने मेरे बल एवं पराक्रम पर ध्यान नहीं दिया ॥ २ ॥

उद्घहेयं भुजाभ्यां तु मेदिनीमम्बरे स्थितः ।

आपिवेयं समुद्रं च हन्यां मृत्युं रणे स्थितः ॥ ३ ॥

मैं आकाश में बैठा बैठा अपनी भुजाओं से इस पृथिवी को डाल
सकता हूँ, और समुद्र को पी सकता हूँ और काल को संग्राम में
मार सकता हूँ ॥ ३ ॥

अर्कं रुन्ध्यां शरैस्तीक्ष्णैर्निर्भिन्द्यां* हि महीतलम् ।

कामरूपिणमुन्मत्ते पश्य मां कामदं पतिम् ॥ ४ ॥

मैं अपने पैने वालों से सूर्य की गति को रोक सकता हूँ और
पृथिवी को विदीर्ण कर सकता हूँ । हे उन्मत्ते ! मुझ इच्छारूपधारी
और मनोरथपूर्ण करने वाले पति को देख । (अर्थात् मुझे अपना
पति बना) ॥ ४ ॥

एवमुक्तवतस्तस्य सूर्यकल्पे शिखिप्रभे ।

क्रुद्धस्य हरिपर्यन्ते रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥ ५ ॥

ऐसा कहते हुए रावण की पीली आँखे मारे क्रोध के प्रज्वलित
आग की तरह लाल हो गयीं ॥ ५ ॥

सद्यः सौम्यं परित्यज्य भिक्षुरूपं स रावणः ।

स्वं रूपं कालरूपाभं भेजे वैश्रवणानुजः ॥ ६ ॥

१ हरिपर्यन्ते—पिङ्गलवर्णपर्यन्ते । (गो०) * पाठान्तरे—“ विभिन्ना । ”

उसी द्वारा कुबेर के छोटे भाई रावण ने अपने उस संन्यासी मेष को त्याग, काल के समान भयङ्कर रूप धारण किया ॥ ६ ॥

संरक्षनयनः १श्रीमांस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।

क्रोधेन महाजविष्टे नीलजीमूतसन्निभः ॥ ७ ॥

विशुद्ध सुवर्ण के कुण्डल धारण किये हुए, विचित्र शक्ति सम्पन्न और नील मेष की तरह डीलडौल का रावण अत्यन्त कुछ हुआ ॥ ७ ॥

दशास्यः कार्मुकी वाणी बभूव क्षणदाचरः ।

स परिव्राजकच्छङ्ग महाकायो विहाय तत् ॥ ८ ॥

उस समय वह महाकाय रावण, बनावटी संन्यासी का रूप त्याग कर, दस मुख और बीस भुजा वाला हो गया ॥ ८ ॥

प्रतिपद्य स्वकं रूपं रावणो राक्षसाधिपः ।

संरक्षनयनः क्रोधाज्जीमूतनिचयप्रभः ॥ ९ ॥

राक्षसेश्वर रावण ने अपना असली रूप धारण कर लिया। क्रोध के मारे उस नीलमेष सदृश शरीर वाले रावण के नेत्र लाल हो गये थे ॥ ९ ॥

रक्ताम्बरधरस्तस्थौ स्त्रीरत्नं प्रेक्ष्य मैथिलीम् ।

स तामसितकेशान्तां भास्करस्य प्रभामिव ॥ १० ॥

वसनाभरणोपेतां मैथिलीं रावणोऽव्रवीत् ।

त्रिषु लोकेषु विख्यातं यदि भर्तारमिच्छसि ॥ ११ ॥

वह लाल वस्त्र पहिने हुए था और स्त्रियों में उत्तम जानकी की ओर देख, उन सूर्य के समान प्रभावाली, काले वालों से युक्त, वस्त्र भूषण धारण किये हुए जानकी जो से कहने लगा—यदि तीनों लोकों में विख्यात व्यक्ति को तू अपना पति बनाना चाहती है ॥ १० ॥ ११ ॥

मामाश्रय वरारोहे तवाहं सदृशः पतिः ।

मां भजस्व चिराय त्वमहं श्लाघ्यः प्रियस्तव ॥ १२ ॥

तो हे बरारोहे ! मेरा पहला पकड़ । क्योंकि मैं ही तेरे योग्य पति हूँ । तू चिरकाल तक मेरे साथ रह । मैं ही तेरा उपयुक्त प्रेमी हूँ ॥ १२ ॥

नैव चाहं कचिद्द्रदे करिष्ये तव विप्रियम् ।

त्यज्यतां मानुषो भावो मयि भावः प्रणीयताम् ॥ १३ ॥

हे भद्रे ! मैं कभी कोई बात तेरे मन के प्रतिकूल न करूँगा । अतः तू अब राम, जो मनुष्य है, उसकी ओर से अपने प्रेम को हटा, मुझसे प्रेम कर ॥ १३ ॥

राज्याद्युतमसिद्धार्थं रामं परिमितायुषम् ।

कैर्गुणैरनुरक्तासि मूढे पण्डितपानिनि ॥ १४ ॥

रामचन्द्र तो राज्याद्युत, अकृतकार्य और परिमित आयु वाला है । अरे मूढ़ और अपने को बुद्धिमान समझने वाली ! तू राम के कौन से गुण पर लट्ठू हो रही है ? ॥ १४ ॥

यः स्त्रिया वचनाद्राज्यं विहाय सुहृज्जनम् ।

अस्मिन्व्यालानुचरिते वने वसति दुर्मतिः ॥ १५ ॥

जो राम, स्त्री का कहना मान, राज्य और इष्टमित्रों को त्याग, इस सर्पादि सङ्कुल भयानक वन में वास करता है, वह दुर्बुद्धि नहीं तो है क्या ? ॥ १५ ॥

इत्युक्त्वा मैथिलीं वाक्यं प्रियार्हं प्रियवादिनीम् ।

अभिगम्य सुदुष्टात्मा राक्षसः काममोहितः ॥ १६ ॥

इस प्रकार उस प्रियभाषिणी और प्रेम करने योग्य सीता से कह, कामान्ध एवं महादुष्ट राक्षस रावण ने सीता के निकट जा ॥१६॥

जग्राह रावणः सीतां बुधः खे रोहिणीमिव ।

वामेन सीतां पद्माक्षर्णि मूर्धजेषु करेण सः ॥ १७ ॥

ऊर्वोस्तु दक्षिणेनैव परिजग्राह पाणिना ।

तं दृष्टा मृत्युसङ्काशं तीक्ष्णदंष्ट्रं महाभुजम् ॥ १८ ॥

प्राद्रवन्गिरिसङ्काशं भर्याता वनदेवताः ।

स च मायामयो दिव्यः खरयुक्तः खरस्वनः ॥ १९ ॥

प्रत्यदृश्यत १हेमाङ्गो रावणस्य महारथः ।

ततस्तां परुषैर्वाक्यैर्भर्त्सर्यन्स महास्वनः ॥ २० ॥

सीता को उसी प्रकार पकड़ लिया, जिस प्रकार आकाश में बुध ने रोहिणी को पकड़ लिया था । रावण ने बाएँ हाथ से सीता के सिर के बालों को और दाहिने हाथ से दोनों ऊरुओं को पकड़ा । उस समय काल के समान पैने दांतों वाले और लंबी भुजाओं वाले तथा पर्वत के समान लंबे चौड़े डीलडौल वाले रावण को देख, वनदेवता भयभीत हो, भाग गये । तदनन्तर रावण का मायामय आकाशचारी बड़ा रथ, जिसमें खच्चर जुते हुए थे और जिसके पहिये सौने के थे, सामने देख पड़ा । रावण ने गम्भीर स्वर से, कठोर वचन कह, सीता को धमकाया ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥

१ हेमाङ्गो—स्वर्णमयचक्रः । (गो०)

अङ्केनादाय वैदेहीं रथमारोपयत्तदा ।

सा यृहीता विचुक्रोश रावणे यशस्विनी ॥ २१ ॥

रामेति सीता दुःखाता रामं दूरगतं वने ।

तामकामां^१ स कामार्तः पन्नगेन्द्रवधूमिव ॥ २२ ॥

फिर गोदी में उठा सीता को रथ में बिठा लिया । उस समय रावण द्वारा पकड़ी हुई यशस्विनी सीता अत्यन्त दुःखी हो, वन में दूर गये हुए श्रीराम को “राम” “राम” कह, बड़े ज़ोर से पुकारने लगी । उस समय वह कामान्ध राक्षस विरागिणी सीता को पन्नगराज की खीं की तरह ॥ २१ ॥ २२ ॥

विवेष्टमानामादाय उत्पपाताथ रावणः ।

ततः सा राक्षसेन्द्रेण हियमाणा विहायसा ॥ २३ ॥

भृशं चुक्रोश मत्तेव भ्रान्तचित्ता यथाऽतुरा ।

हा लक्ष्मण महाबाहो गुरुचित्तप्रसादक ॥ २४ ॥

रावण छटपटाती सीता को ले कर रथ सहित आकाशमार्ग से चल दिया । उस समय रावण के बश में पड़ी सीता उन्मत्त की तरह घबड़ा कर, रोगी की तरह बहुत विलाप करने लगी । सीता जी विलाप करती हुई कहने लगी, हे बड़ी भुजाओं वाले और गुरुजनों के मन को प्रसन्न करने वाले लक्ष्मण ! ॥ २३ ॥ २४ ॥

हियमाणां न जानीषे रक्षसा *कामरूपिणा ।

जीवितं सुखपर्थाश्च धर्महेतोऽ परित्यजन् ॥ २५ ॥

^१ अकामां—विरागिणीं । (गो०) २ धर्महेतो—आश्रित संरक्षण रूप धर्महेतोः । (गो०)

* पाठान्तरे—“मामर्थिणा ।”

मुझे कामरूपी राज्ञस हरे लिये जाता है । हाय ! तुम्हें इसकी खबर नहीं है । हे राघव ! तुमने आश्रितों की रक्षा रूपी धर्म के लिये जीवन-सुख और राज्य को भी त्याग दिया ॥ २५ ॥

हियमाणामधर्मेण मां राघव न पश्यसि ।

ननु नामाविनीतानां विनेतासि^१ परन्तप ॥ २६ ॥

यह पापी राज्ञस मुझे हरे लिये जाता है, क्या तुमको यह नहीं देख पड़ता ? हे परन्तप ! तुम तो दुर्जनों के शिक्षक (दण्ड देने वाले) हो ॥ २६ ॥

कथमेवंविधं पापं न त्वं शास्त्रिः हि रावणम् ।

ननु सद्योऽविनीतस्य दृश्यते कर्मणः फलम् ॥ २७ ॥

तब इस प्रकार के पाप करने वाले इस पापी रावण को क्यों दण्ड नहीं देते ? ठीक है, दुष्ट कर्म का फल तुरन्त ही नहीं मिलता ॥ २७ ॥

कालोऽप्यङ्गी^२ भवत्यत्र सस्यानामिव पक्षये^३ ।

स कर्म कृतवानेतत्कालोपहतचेतनः ॥ २८ ॥

जिस प्रकार अनाज के पकने में कुछ समय लगता है, उसी प्रकार पाप भी कर्ता को फल देने के लिये कुछ समय लेता है । रावण ने काल के प्रभाव से चेतना रहित हो (नष्ट बुद्धि हो), जो यह कर्म किया है ॥ २८ ॥

जीवितान्तकरं घोरं रामाव्यसनमाप्नुहि ।

हन्तेदानीं सकामास्तु कैकेयी सह बान्धवैः ॥ २९ ॥

१ विनेतासि—शिक्षकः । (गो०) २ कालोऽप्यङ्गी—सहकारिकारण । (गो०)

३ पक्षये—पाकाय । (गो०)

सो इसके लिये रावण को श्रीरामचन्द्र जी द्वारा प्राणान्त करने वाली घोर विपद में पड़ना पड़ेगा। इस समय अपने वान्धवों सहित कैकेयी का मनोरथ पूरा हुआ॥२६॥

हिये यद्धर्मकामस्य धर्मपत्नी यशस्विनः ।

‘आमन्त्रये जनस्थाने कर्णिकारान्सुपुष्पितान् ॥ ३० ॥

क्योंकि धर्म में तत्पर और यशस्वी श्रीरामचन्द्र की धर्मपत्नी मैं हरी जा रही हूँ। मैं जनस्थान में इन फूले हुए कर्णिकार वृक्षों को सम्बोधन कर कहती हूँ कि,॥३०॥

क्षिप्रं रामाय शंसध्वं सीतां हरति रावणः ।

माल्यवन्तं शिखरिणं वन्दे प्रस्तवणं गिरिम् ॥ ३१ ॥

कि तुम शीघ्र श्रीरामचन्द्र से कह देना कि, रावण सीता को हर कर ले गया। पुष्पित वृक्षों से युक्त एवं प्रशस्त शिखर घाले प्रस्तवण पर्वत को मैं प्रणाम करती हूँ कि,॥३१॥

क्षिप्रं रामाय शंस त्वं सीतां हरति रावणः ।

हंसकारण्डवाकीर्णा वन्दे गोदावरीं नदीम् ॥ ३२ ॥

तुम शीघ्र श्रीरामचन्द्र जो से कह देना कि रावण सीता को हर कर ले गया। हंस और सारस पक्षियों से सेवित गोदावरी नदी को मैं प्रणाम करती हूँ कि,॥३२॥

क्षिप्रं रामाय शंस त्वं सीतां हरति रावणः ।

दैवतानि च यान्यस्मिन्वने विविधपादपे ॥ ३३ ॥

तुम शीघ्र श्रीरामचन्द्र जी से कह देना कि सीता को रावण हर ले गया। अनेक वृक्षों से पूर्ण इस वन में जो देवता रहते हैं,॥३३॥

नमस्करोम्यहं तेभ्यो भर्तुः शंसत मां हृताम् ।
 यानि कानि चिदप्यत्र सत्त्वानि^४ निवसन्त्युत ॥ ३४ ॥
 सर्वाणि शरणं यामि मृगपक्षिगणानपि ।
 हियमाणां प्रियां भर्तुः प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ ३५ ॥
 विवशापहृता सीता रावणेनेति शंसत ।
 विदित्वा मां महाबाहुरमुत्रापि महाबलः ॥ ३६ ॥

उन सब को मैं प्रणाम करती हूँ कि, वे मेरा (रावण द्वारा) हरा जाना मेरे पति (श्रीरामचन्द्र जी) से कह दें। अन्य जो कोई जीव-जन्म इस वन में रहते हैं, तथा जो मृगपक्षी (यहाँ) हैं उन सब की मैं शरण होती हूँ और उनसे प्रार्थना करती हूँ कि, वे मेरे पति से कह दें कि, उनकी प्राणों के समान प्यारी भार्या (सीता) को, बरजोरी रावण ने हर लिया है। क्योंकि बड़ी भुजाओं वाले महाबली श्रीराम को यदि यह वृत्तान्त मालूम हो गया तो, ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

आनेष्यति पराक्रम्य वैवस्वतहृतामपि ।

सा तदा करुणा वाचो विलपन्ती सुदुःखिता ॥ ३७ ॥

वे अपने पराक्रम द्वारा मुझे यमराज से भी कुड़ा लावेंगे। इस प्रकार दुःखित और दीन हो विलाप करती हुई सीता ने ॥ ३७ ॥

वनस्पतिगतं गृध्रं ददर्शयतलोचना ।

सा तमुद्धीक्ष्य सुश्रोणी रावणस्य वशं गता ॥ ३८ ॥

जो विशाल नेत्र वाली थी, वृक्ष पर बैठे हुए जटायु को देखा। रावण के वश में पड़ी हुई सीता ने जटायु को देख ॥ ३८ ॥

समाक्रन्दद्वयपरा दुःखोपहतया गिरा ।

जटायो पश्य मामाय हियमाणामनाथवत् ॥ ३९ ॥

अनेन राक्षसेन्द्रेण करुणं पापकर्मणा ।

नैष वारयितुं शक्यस्तव क्रूरो निशाचरः ।

सत्त्ववाङ्गितकाशी च सायुधश्चैव दुर्मतिः ॥ ४० ॥

भयभीत एवं दुःखित हो रो कर कहा, हे मेरे बड़े बूढ़े जटायु !
देखो यह पापी रावण मुझे अनाथ की तरह निर्भय भाव से पकड़
कर लिये जाता है । जान पड़ता है तुम इस महावली, विजयी,
कूटयुद्ध करने वाले, क्रूर और आयुधधारी राज्ञस को रोक नहीं
सकते (अतः) ॥ ३९ ॥ ४० ॥

रामाय तु यथातत्त्वं जटायो हरणं मम ।

लक्ष्मणाय च तत्सर्वमाख्यातव्यमशेषतः ॥ ४१ ॥

इति एकोनपञ्चाशः सर्ग ॥

हे जटायु ! तुम श्रीरामचन्द्र जी से मेरे हरे जाने का यथार्थ
वृत्तान्त कह देना और लक्ष्मण को यह आद्यन्त समस्त वृत्तान्त बता
देना ॥ ४१ ॥

अररण्यकाण्ड का उन्नचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

पञ्चाशः सर्गः

—;*;—

तं शब्दमवसुप्तस्तु^१ जटायुरथ शुश्रुवे ।

निरीक्ष्य रावणं क्षिप्रं वैदेहीं च दर्दर्श सः ॥ १ ॥

अवसुप्तः—ईषतसुस्ती जटायुः । (गो०)

जटायु ने जो उस समय ओंघ रहा था, सीता की आवाज़ सुन, आँखें खोलीं और उसने रावण और सीता को देखा ॥ १ ॥

ततः पर्वतकूटाभस्तीक्ष्णतुण्डः खगोत्तमः ।

वनस्पतिगतः श्रीमान्व्याजहारशुभां गिरम् ॥ २ ॥

उस पर्वत के शृङ्ख के तुल्य बड़े डीलडौल के जटायु पक्षी ने, जिसकी बड़ी पैनी चोंच थी, येड़ पर बैठे ही बैठे मधुर शब्दों में रावण से कहा ॥ २ ॥

दशग्रीव स्थितो धर्मेऽपुराणे सत्य संश्रयः ।

जटायुनाम नाम्नाऽहं वृधराजो महाबलः ॥ ३ ॥

हे दशग्रीव ! मैं सदैव से सेवाधर्म में लगा हुआ हूँ और सत्य पर आरुढ़ हूँ । मेरा नाम जटायु है और मैं गीधों का महाबलवान् राजा हूँ ॥ ३ ॥

राजा सर्वस्य लोकस्य महेन्द्रवरुणोपमः ।

लोकानां च हिते युक्तो रामो दशरथात्मजः ॥ ४ ॥

तस्यैषा लोकनाथस्य धर्मपत्नी यशस्विनी ।

सीता नाम वारारोहा यां त्वं हर्तुमिहेच्छसि ॥ ५ ॥

जो सब लोकों के राजा हैं, जो इन्द्र और वरुण के तुल्य हैं और जो प्राणि मात्र की भलाई में लगे रहते हैं, उन्हीं त्रिलोकीनाथ दशरथ-नन्दन श्रीरामचन्द्र की यह यशस्विनी वारारोहा धर्मपत्नी सीता है, जिसे तुम हर कर लिये जाते हो ॥ ४ ॥ ५ ॥

१ धर्मेऽपुराणे—दात्यवृत्तावित्यर्थः । (गो०) २ पुराणे—सनातने । (गो०)

कथं राजा स्थितो धर्मे परदारान्परामृशेत् ।

रक्षणीया विशेषेण राजदारा महावलः ॥ ६ ॥

जो राजा धर्ममार्ग पर आरुढ़ है क्या उसको परखी पर हाथ डालना उचित है ? हे महावली ! तुमको तो राजपत्नी की रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिये ॥ ६ ॥

निवर्तय मति नीचां परदाराभिमर्शनात् ।

न तत्समाचरेद्धीरो^१ यत्परोऽस्य विगर्हयेत् ॥ ७ ॥

अतः तुम पराई खी के हरण करने की नीच बुद्धि को त्याग दो । जिस काम के करने से निन्दा होती हो, वह काम श्रीमान् पुरुष नहीं किया करते ॥ ७ ॥

यथाऽत्मनस्तथाऽन्येषां दारा रक्ष्या विपश्चिताः ।

*धर्मर्थं च कामं च शिष्टाः शास्त्रेष्वनागतम्^२ ॥ ८ ॥

व्यवस्थन्ति न राजानोः धर्मं पौलस्त्यनन्दन ।

राजा धर्मश्च कामश्च द्रव्याणां चोत्तमो निधिः ॥ ९ ॥

विवेकी पुरुषों का कर्तव्य है कि, अपनी खी की तरह पराई खी की भी रक्षा करे । हे पौलस्त्यनन्दन ! शिष्टजन अथवा विवेकीजन धर्म, अर्थ, अथवा काम सम्बन्धी किसी भी कार्य के विषय में जब शास्त्र का विधान नहीं पाते, तब राजा जैसा करता है, उसीका वे लोग अनुसरण करते हैं । अतः राजा को सदैव धर्ममार्ग का अनुसरण करना चाहिये । क्योंकि राजा ही धर्म और राजा ही काम और राजा ही समस्त उत्तम द्रव्यों का स्वजाना है ॥ ८ ॥ ९ ॥

^१ धीरः—श्रीमान् । (गो०) २ विपश्चिता—विवेकिना । (गो०)

३ शास्त्रेष्वनागतम्—शास्त्रेषु अनुपदिष्ट । (गो०) * पठान्तरे—“ अर्थं वा यदि वा कामं शिष्टाः शास्त्रेष्वनागतम् ” ।

धर्मः शुभं वा पापं वा राजमूलं प्रवर्तते ।
पापस्वभावश्चपलः कथं त्वं रक्षसांवर ॥ १० ॥

धर्म, शुभकर्म अथवा पापकर्म सब की जड़ राजा ही है । क्योंकि राजा की प्रवृत्ति के अनुसार ही प्रजाजनों की भी प्रवृत्ति होती है । हे ! राज्ञसोन्तम ! स्वभाव ही से पापी और चञ्चल हो कर भी ॥ १० ॥

ऐश्वर्यमभिसम्प्राप्तो विमानमिव दुष्कृतिः ।
कामं स्वभावो यो यस्य न शक्यः परिमार्जितुम् ॥ ११ ॥

तुम किस प्रकार दुष्कर्म करने वाले जन को देवविमान प्राप्त होने के समान, इस ऐश्वर्य को प्राप्त हुए हो ? जो कामी है अथवा स्वैच्छाचारी है, वह अपने उस स्वभाव को बदल नहीं सकता ॥ ११ ॥

न हि दुष्टात्मनामार्यमावसत्यालये२ चिरम् ।
विषये वा पुरे वा ते यदा रामो महावलः ॥ १२ ॥
नापराध्यति धर्मात्मा कथं तस्यापराध्यसि ।
यदि शूर्पणखाहेतोर्जनस्थानगतः खरः ॥ १३ ॥

इसीसे दुष्ट जनों के हृदय में सदुपदेश बहुत देर तक नहीं ठिकता । जब महावली श्रीराम ने तुम्हारे अधिकृत देश में, अथवा पुर में, तुम्हारा कोई अपराध नहीं किया; तब तुम उनके प्रति यह अपराध कार्य क्यों कर रहे हो । यदि कहो कि, शूर्पणखा के पीछे जनस्थान-वासी खरादि का ॥ १२ ॥ १३ ॥

१ आर्य—सदुपदेशः । (गो०) २ आलये—हृदये । (गो०)

अतिवृत्तो हतः पूर्वं रामेणाक्षिलष्टकर्मणा ।

अत्र ब्रूहि यथातत्त्वं को रामस्य व्यतिक्रमः ॥ १४ ॥

वध कर अक्षिलष्टकर्मा श्रोरामचन्द्र पहिजे ही मर्यादा भङ्ग कर चुके हैं, तो तुम्हीं बतलाओ कि, वास्तव में श्रोरामचन्द्र का इसमें क्या दोष है, ॥ १४ ॥

यस्य त्वं लोकनाथस्य भार्या हृत्वा गमिष्यसि ।

क्षिप्रं विसृज वैदेहीं मा त्वा घोरेण चक्षुषा ॥ १५ ॥

दहेद्दहनभूतेन वृत्रमिन्द्राशनिर्यथा ।

सर्पमाशीविषं वद्धा वस्त्रान्ते नावबुध्यसे ॥ १६ ॥

जो तुम उन लोकनाथ को भार्या को हर कर लिये जाते हो ? हे रावण ! तुम तुरन्त सीता को छोड़ दो । नहीं तो कहीं ऐसा न हो कि, जिस प्रकार इन्द्र ने अपने वज्र से वृत्रासुर को भस्म किया था, उसी प्रकार कहीं श्रोराम तुझे (भी) अपने अश्वितुल्य नेत्र से भस्म कर डालें । अरे रावण ! महाविषेषे सर्प को आंचल में बांध कर भी, तू नहीं चेतता ॥ १५ ॥ १६ ॥

ग्रीवायां प्रतिमुक्तं^१ च कालपाशं न पश्यसि ।

स भार सौम्य भर्तव्यो यो नरं नावसादयेत् ॥ १७ ॥

तुम गले में काल का फंदा लगा कर भी आँख से नहीं देखते । हे सौम्य ! बोझ उतना हो उठाना चाहिये जितने से स्वयम् दब जाना न पड़े ॥ १७ ॥

^१ प्रतिमुक्तं—आमुक्तं । (गो०)

तदन्नमपि भोक्तव्यं जीर्यते यदनामयम् ।

यत्कुत्वा न भवेद्धर्मे न कीर्तिर्न यशो भुवि ॥ १८ ॥

शरीरस्य भवेत्खेदः कस्तत्कर्म समाचरेत् ।

षष्ठिर्वर्षसहस्राणि मम जातस्य रावण ॥ १९ ॥

वही अन्न खाना चाहिये जो किसी प्रकार के रोग को उत्पन्न न कर के पच जाय । जिस कार्य के करने में न तो पुण्य ही होता है और न संसार में कीर्ति और यश ही फैलता है, वल्कि जिसके करने से शरीर को क्लेश हो ऐसे कर्म को कौन (समझदार) पुरुष करेगा ? हे रावण ! मुझे उत्पन्न हुए साठ हजार वर्ष बीत चुके ॥ १८ ॥ १९ ॥

पितृपैतामहं राज्वं यथावदनुतिष्ठतः ।

वृद्धोऽहं त्वं युवा धन्वी सशरः कवची रथी ॥ २० ॥

और मैं अपने बाप दादों के परम्परागत प्राप्त राज्य का पालन यथावत् करता हूँ । यद्यपि मैं बूढ़ा हूँ और तुम युवा हो, रथ पर सवार हो, कवचधारी हो और धनुष बाण लिये हुए हो ॥ २० ॥

तथाऽप्यादाय वैदेहीं कुशली न गमिष्यसि ।

न शक्तस्त्वं वलाद्धर्तुं वैदेहीं मम पश्यतः ॥ २१ ॥

तथापि तुम सीता को ले कर यहाँ से कुशलपूर्वक नहीं जा सकते । मेरी आँखों के सामने तुम बरजोरी सीता को नहीं ले जा सकते ॥ २१ ॥

हेतुभिन्नायसायुक्तैर्ध्रुवां वेदश्रुतीमिव ।

युध्यस्व यदि शूरोऽसि मुहूर्तं तिष्ठ रावण ॥ २२ ॥

जैसे किसी वेदवेत्ता के समाने कोई तर्कशास्त्री वेद के मंत्रों का अनुचित अर्थ नहीं कर सकता । हे रावण ! यदि तुझे शूरवीर होने का दावा है, तो दो घड़ी यहाँ रुक कर, मुझसे युद्ध कर ॥ २२ ॥

शयिष्यसे हतो भूमौ यथा पूर्वं खरस्तथा ।

असकृत्संयुगे येन निहता *दैत्यदानवाः ॥ २३ ॥

फिर देखना कि, मैं तुझे मार कर पृथिवी पर उसी प्रकार लिटाता हूँ कि नहीं, जिस प्रकार पहिले खर मर कर पृथिवी पर लोट चुका है । हे रावण ! जिन्होंने अनेक बार युद्ध में दैत्य और दानवों को मारा है ॥ २३ ॥

न चिराच्चीरवासास्त्वां रामो युधि वधिष्यति ।

किं तु शक्यं मया कर्तुं गतौ दूरं नृपात्मजौ ॥ २४ ॥

वे चीरधारी श्रीराम संग्राम में क्या तेरा बध करने में देर लगावेंगे ! मैं क्या करूँ वे दोनों राजकुमार बन में दूर निकल गये हैं ॥ ३४ ॥

क्षिप्रं त्वं नश्यसे^१ नीच तयोभातो न संशयः ।

न हि मे जीवमानस्य नयिष्यसि शुभामिमाम् ॥ २५ ॥

सीतां कमलपत्राक्षीं रामस्य महिषीं प्रियाम् ।

अवश्यं तु मया कार्यं प्रियं तस्य महात्मनः ॥ २६ ॥

जीवितेनापि रामस्य तथा दशरथस्य च ।

तिष्ठ तिष्ठ दशग्रीव मुहूर्तं पश्य रावण ॥ २७ ॥

^१ नश्यसे—अदर्शनं प्राप्नोषि । (गो०) * पाठान्तरे—“ देव ”

हे नीच ! तू भी उनसे डर कर, निस्सन्देह शीत्र मारा जायगा, किन्तु मेरे जीते जी तो तू कमलनयनी श्रीराम की प्यारी पटरानी सीता को नहीं ले जाने पावेगा । क्योंकि मैं तो उन महात्मा श्रीराम की और दशरथ की भलाई जान दे कर भी अवश्य करूँगा । हे दशग्रीष्म रावण ! खड़ा रह !! खड़ा रह !!! मुहूर्त भर में ॥ २५ ॥ ॥ २६ ॥ २७ ॥

युद्धातिथ्यं प्रदास्यामि यथाप्राणं^१ निशाचर ।

वृन्तादिव फलं त्वा तु पातयेयं रथोत्तमात् ॥ २८ ॥

इति पञ्चाशः सर्गः ॥

हे निशाचर ! मैं तेरा अपने बल के अनुरूप युद्धोचित आतिथ्य कर, पके फल की तरह तुझे इस उत्तम रथ से नीचे गिराये देता हूँ ॥ २८ ॥

अरण्यकाण्ड का पचासवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकपञ्चाशः सर्गः

—*—

इत्युक्तस्य यथान्यायं रावणस्य जटायुषा ।

क्रुद्धस्याग्निनिभाः सर्वा रेजुर्विशतिदृष्ट्यः ॥ १ ॥

जटायु के न्यायपूर्वक कहे हुए बचनों को सुन कर, रावण के बीसों नेत्र क्रोध में भरने के कारण अग्नि के समान लाल पड़ गये ॥ १ ॥

^१ यथाप्राणं—यथावलं । (गो०)

संरक्तनयनः कोपात्तमकाञ्चनकुण्डलः ।

राक्षसेन्द्रोऽभिद्राव पतगेन्द्रमर्षणः^१ ॥ २ ॥

तब जटायु के बाक्यों को न सह कर शुद्ध सुवर्ण के कुण्डल पहिने हुए रावण, क्रोध के मारे लाल लाल नेत्र कर, जटायु पर बड़े बैग से दौड़ा ॥ २ ॥

स रसंप्रहारस्तुमुलस्तयोस्तस्मिन्महावने ।

बभूव वातोद्भूतयोर्मेघयोर्गगने यथा ॥ ३ ॥

जिस प्रकार आकाश में पवन प्रेरित दा मेंतों की टक्कर होती है, उसी प्रकार उन दोनों का विकट युद्ध हुआ ॥ ३ ॥

तद्भूवादभुतं युद्धं गृध्रराक्षसयोस्तदा ।

सपक्षयोर्माल्यवतोर्महापर्वतयोरिव ॥ ४ ॥

पक्षधारी दो माल्यवान श्रेष्ठपर्वतों की तरह गृद्धराज जटायु और राक्षसेश्वर रावण का अद्भूत युद्ध हुआ ॥ ४ ॥

ततो नालीकनाराचैस्तीक्षणाग्रैश्विकर्णिभिः ।

अभ्यवर्षन्महाधोरैर्गृध्रराजं महाबलः ॥ ५ ॥

रावण ने महाबली जटायु के ऊपर पैनी नोकों वाले नालीक और विकर्णि नामक बड़े भयङ्कर तीरों की वर्षा कर उसे ढक दिया ॥ ५ ॥

स तानि शरजालानि गृध्रः पत्ररथेश्वरः^३ ।

जटायुः प्रतिजग्राह^४ रावणास्त्राणि संयुगे ॥ ६ ॥

१ अमर्षणः—असहनः । (गो०) २ संप्रहारः—युद्धः । (गो०)

३ पत्ररथेश्वरः—पक्षीश्वरः । (गो०) ४ प्रतिजग्राह—सेहे । (गो०)

परन्तु पक्षीश्वर गृद्ध ने उस युद्ध में रावण के सब तीरों और अख्तों के प्रहारों को सह लिया ॥ ६ ॥

तस्य तीक्ष्णनखाभ्यां तु चरणाभ्यां महाबलः ।

चकार बहुधा गात्रे त्रणान्पतगसत्तमः ॥ ७ ॥

और जटायु ने अपने पैने नखवाले दोनों पैरों से रावण के शरीर को तात विक्षित कर डाला ॥ ७ ॥

अथ क्रोधादशग्रीवो जग्राह दश मार्गणान्^१ ।

मृत्युदण्डनिभान्धोराञ्चत्रुमर्दनकाङ्क्षया ॥ ८ ॥

तब तो क्रोध में भर कर, दशग्रीव रावण ने जटायु का बध करने के लिये बड़े भयङ्कर कालदण्ड की तरह दस बाण निकाले ॥ ८ ॥

स तैर्वाणैर्महावीर्यः पूर्णसुक्तैरजिह्वगैः^२ ।

विभेद निश्चितैस्तीक्ष्णैर्गृध्रं घोरैः शिलीमुखैः ॥ ९ ॥

और कान तक धनुष के रोदे को खींच कर, उन सीधे चलने वाले सान पर पैनाये हुए और भयङ्कर बाणों से जटायु का शरीर विदीर्ण किया ॥ ९ ॥

स राक्षसरथे पश्यज्ञानकीं वाष्पलोचनाम् ।

अचिन्तयित्वा तान्बाणानराक्षसं समभिद्रवत् ॥ १० ॥

जटायु ने उन बाणों की तो कुछ परवाह न की, किन्तु जब देखा कि, रावण के रथ में बैठी जानकी नेत्रों से आंसू बहा रही है, तब वह रावण को ओर झपटा ॥ १० ॥

१ मार्गणान्—बाणान् । (गो०) २ अजिह्वगैः—ऋजुगामिभिः । (गो०)

ततोऽस्य सशरं चापं मुक्तामणिविभूषितम् ।

चरणाभ्यां महातेजा बभज्ञ पतगेश्वरः ॥ ११ ॥

और उस महातेजस्वी पक्षिराज ने मारे लातों के रावण का तीरों सहित धनुष, जिसमें मेतो और मणियां जड़ी थीं, तो डाला ॥ ११ ॥

ततोऽन्यद्दनुरादाय रावणः क्रोधमूर्छितः ।

वर्ष शरवर्षाणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १२ ॥

तब तो अन्यन्त कुपित हो रावण ने दूसरा धनुष उठाया और जटायु पर सैकड़ों सहस्रों बाणों की वर्षा की ॥ १२ ॥

शरैरावारितस्तस्य संयुगे पतगेश्वरः ।

कुलायमुपसम्प्राप्तः पक्षीव प्रवभौ तदा ॥ १३ ॥

उस समय जटायु उस शरसमूह से विध कर घौंसले में बैठे हुए पक्षी की तरह शोभा को प्राप्त हुआ ॥ १३ ॥

स तानि शरवर्षाणि पक्षाभ्यां च विधूय च ।

चरणाभ्यां महातेजा बभज्ञास्य महद्दनुः ॥ १४ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी जटायु ने अपने दोनों पंखों से उस शरजाल को खण्डित कर, अपने दोनों पंजों से रावण के उस (दूसरे) बड़े धनुष को भी तोड़ डाला ॥ १४ ॥

तच्चाग्निसदृशं दीपं रावणस्य शरावरम्^१ ।

पक्षाभ्यां स महावीरो व्याधुनोत्पत्तगेश्वरः ॥ १५ ॥

(इतना ही नहीं बल्कि) अपने पंखों के प्रहार से महातेजस्वी जटायु ने रावण का अग्नि की तरह चमचमाता कवच भी तोड़ फोड़ डाला ॥ १५ ॥

काश्चनोरश्छदानिदिव्यान्पिशाचवदनान्खरान् ।

तांश्चास्य जवसम्पन्नाञ्जघान समरे बली ॥ १६ ॥

उस बली जटायु ने रावण का सुवर्णमय दिव्य कवच तोड़, अति शीघ्र दौड़ने वाले और पिशाचों जैसे मुख वाले रथ में जुते हुए खचरों को मार डाला, ॥ १६ ॥

वरं त्रिवेणुसम्पन्नं कामगं पावकार्चिषम् ।

मणिहेमविचित्राङ्गं वभञ्ज च महारथम् ॥ १७ ॥

फिर इच्छागामी, अग्नि के समान चमचमाता, और मणियों के बने पावदानों से युक्त, तथा जिसके जुये में तीन बाँस लगे हुए थे—ऐसे रावण के बड़े रथ को जटायु ने तोड़ डाला ॥ १७ ॥

पूर्णचन्द्रप्रतीकाशं छत्रं च व्यजनैः सह ।

पातयामास वेगेन ग्राहिभी राक्षसैः सह ॥ १८ ॥

फिर जटायु ने पूर्णमासी के चन्द्रमा की तरह छत्र, चामरों को और उनके थामने वाले राक्षसों को भी मार डाला ॥ १८ ॥

सारथेश्चास्य वेगेन तुण्डेनैव महच्छिरः ।

पुनर्वर्यपाहरच्छ्रीमानपक्षिराजो महावलः ॥ १९ ॥

फिर महावली पक्षिराज जटायु ने अपनी चोंच के प्रहार से रावण के सारथी का बड़ा सिर भी काट डाला । इस प्रकार परम वल सम्पन्न पक्षिराज द्वारा ॥ १९ ॥

स भग्नधन्वा विरथो हताष्वो हतसारथिः ।

अङ्केनादाय वैदेहीं पपात भुवि रावणः ॥ २० ॥

जब रावण का धनुष तोड़ा गया, रथ नष्ट किया गया, और घोड़े तथा सारथो मार डाले गये, तब रावण सीता को अपनी गांदी में लिये हुए भूमि पर कूद पड़ा ॥ २० ॥

दृष्टा निपतिं भूमौ रावणं भग्नवाहनम् ।

साधु साधिति भूतानि गृध्रराजमपूजयन् ॥ २१ ॥

सवारी नष्ट होने के कारण रावण को पृथ्वी पर गिरा हुआ देख, समस्त प्राणी “वाह वाह” कह कर, जटायु की प्रशंसा करने लगे ॥ २१ ॥

परिश्रान्तं तु तं दृष्टा जरया पक्षियूथपम् ।

उत्पात धुनर्हष्टो मैथिलीं गृहच्य रावणः ॥ २२ ॥

पक्षिराज जटायु को बुढ़ापे के कारण थका जान, रावण अत्यन्त प्रसन्न हुआ और सीता को ले फिर आकाशमार्ग से चल दिया ॥ २२ ॥

तं प्रहृष्टं निधायाङ्के गच्छन्तं जनकात्मजाम् ।

गृध्रराजः समुत्पत्य समभिद्रुत्य रावणम् ॥ २३ ॥

रावण को प्रसन्न होते हुए और जानकी को लेकर जाते हुए देख, जटायु ने बड़े वेग से उसका पीछा किया ॥ २३ ॥

*समावार्यं महातेजा जटायुरिदमब्रवीत् ।

वज्रसंस्पर्शवाणस्य भार्या रामस्य रावण ॥ २४ ॥

* पाठान्तरे “समावार्यं” “तमावार्यं” वा ।

अल्पवुद्धे हरस्येनां वधाय खलु रक्षसाम् ।

समित्रवन्धुः सामात्यः सबलः सपरिच्छदः ॥ २५ ॥

और उस महातेजस्वी जटायु ने रावण का मार्ग रोक उससे यह कहा—तू अपने इष्टमित्रों, भाईबन्धुओं, मंत्रियों, सेनाओं और कुदुम्ब सहित समस्त राज्ञसकुल का सर्वनाश करने के लिये ही, वज्र समान वाण धारण करने वाले श्रीरामचन्द्र की भार्या, इन जानकी को चुरा कर लिये जा रहा है ॥ २४ ॥ २५ ॥

विषपानं पिवस्येतत्पिपासित इवोदकम् ।

अनुबन्धम्^१अजानन्तः कर्मणामविचक्षणाः^२ ॥ २६ ॥

जिस प्रकार प्यासा पानी पीता है, उसी प्रकार तू यह विषपान कर रहा है । असमर्थ लोग जिस प्रकार अपने किये हुए कर्म के फल को न जान कर, ॥ २६ ॥

शीघ्रमेव विनश्यन्ति यथा त्वं विनशिष्यसि ।

बद्धस्त्वं कालपाशेन क गतस्तस्य मोक्ष्यसे ॥ २७ ॥

शीघ्र विनष्ट होते हैं, उसी प्रकार तू भी विनष्ट हो जायगा । तूने अपने गले में काल की फाँसी डाल ली है, अब तू किस देश में भाग कर इससे निस्तार पा सकता है ॥ २७ ॥

वधाय बडिशं गृह्य सामिषं जलजो यथा ।

न हि जातु दुराधर्षौ काकुत्स्थौ तव रावण ॥ २८ ॥

१ अनुबन्धः—फलम् । (गो०) २ अविचक्षणाः—असमर्थाः । (गो०)

धर्षणं चाश्रमस्यास्य क्षमिष्येते तु राघवौ ।

यथा त्वया कृतं कर्म भीरुणा लोकगर्हितम् ॥ २९ ॥

तस्कराचरितो मार्गो नैष वीरनिषेवितः ।

युध्यस्व यदि शरोऽसि मुहूर्तं तिष्ठ रावण ॥ ३० ॥

मांस के टुकड़े से युक्त बंशी के कांटे की ओर अपने प्राण खाने को जिस प्रकार मद्दली दैड़ती है, उसी प्रकार तु भी यह काम कर रहा है । हे रावण ! श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण अजेय हैं, वे तेरे इस अपराध को, जो तू उनके आश्रम से सोता को हर कर लिये जाता है कभी ज्ञान न करेंगे । तू जो यह लोकनिन्दित और डरपोंकों जैसा काम कर रहा है, सो चोरों के योग्य है, बीरों के योग्य नहीं है । यदि तुझे वीर होने का अभिमान है, तो दो घड़ी ठड़ा रह और युद्ध कर ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥

शयिष्यसे हतो भूमौ यथा भ्राता खरस्तथा ।

परेतकाले पुरुषो यत्कर्म प्रतिपद्यते ॥ ३१ ॥

विनाशायात्मनोऽधर्म्य प्रतिपन्नोऽसि कर्म तत् ।

पापानुबन्धो वै यस्य कर्मणः कर्म को नु तत् ॥ ३२ ॥

और फिर देख, मैं तुझे उसी तरह, जिस तरह तेरा भाई खर मारा गया है, मार कर भूमि पर गिराता हूँ कि, नहीं । मरते समय मनुष्य अपने नाश के लिये जैसे अधर्म के काम किया करते हैं, वैसे ही तू भी कर रहा है । जिस कर्म का सम्बन्ध पाप से है उस कर्म को कौन पुरुष ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

कुर्वीत लोकाधिपतिः स्वयंभूर्भगवानपि ।

एवमुक्त्वा शुभं वाक्यं जटायुस्तस्य रक्षसः ॥ ३३ ॥

निपपात भृशं पृष्ठे दशग्रीवस्य वीर्यवान् ।

तं गृहीत्वा नखैस्तीक्ष्णैर्विरराद् समन्ततः ॥ ३४ ॥

करेगा—भले ही वह लोकाधिपति साक्षात् ब्रह्मा ही क्यों न हो ।
इस प्रकार की हित की बातें कह, जटायु उस बलवान् राक्षस
दशग्रीव रावण की पीठ से लिपट गया और अपने पैने नाखूनों से
उसकी समस्त पीठ विदीर्ण कर डाली ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

[नोट—जब रावण ने जटायु का तिरस्कार कर, उसकी बातों पर ध्यान न
दिया और वह आगे बढ़ने लगा, तब जटायु उसकी पीठ में लिपट गया—ऐसा
जान पड़ता है ।]

अधिरूढो गजारोहो यथा स्वाददुष्टवारणम् ।

विरराद् नखैरस्य तुण्डं पृष्ठे समर्पयन् ॥ ३५ ॥

जैसे महावत् दुष्ट हाथी की गर्दन पर सवार हो, उसके अंकुश
चुभोता है, उसी प्रकार जटायु ने रावण की पीठ पर अपनी चोंच
चुभोयी ॥ ३५ ॥

केशांश्रोत्पाट्यामास नखपक्षमुखायुधः ।

स तथा गृध्रराजेन क्लिश्यमानो मुहुर्मुहुः ॥ ३६ ॥

नख, चोंच और पंखों के हथियार से लड़ने वाले जटायु ने
रावण के सिर के बाल नोंच डाले । इस प्रकार जटायु से बार बार
सताये जाने पर ॥ ३६ ॥

१अमर्षस्फुरितोष्टः सन्प्राकम्पत२ स रावणः ।

स परिष्वज्य वैदेहीं वामेनाङ्केन रावणः ॥ ३७ ॥

१ अमर्षेण—क्रीघेन । (गो०) २ प्राकम्पत—प्रहारार्थं प्रदक्षिणं प्राचल-
दित्यर्थः । (गो०)

रावण क्रोध के मारे ओंठों को फरफराता हुआ, जटायु पर चार करने के लिये मुड़ा। उसने सीता को बाईं बगल में दबाया ॥ ३७ ॥

तलेनाभिजघानाशु जटायुं क्रोधमूर्छितः ।

जटायुस्तमभिक्रम्य तुण्डेनास्य खगाधिपः ॥ ३८ ॥

और वह क्रोध में भर कर, जटायु के थपेड़े मारने लगा। पक्षि-राज जटायु ने उसके थपेड़े को बचाया और अपनो चोंच से ॥ ३८ ॥

वामवाहून्दश तदा १व्यपाहरदरिन्दमः ।

संछिन्नवाहोः सद्यैव वाहवः सहसाऽभवन् ॥ ३९ ॥

शत्रुसूदन जटायु ने रावण की बाईं ओर की दसों भुजाओं को काट गिराया; किन्तु तत्काल रावण की बीसों भुजाएँ उसी प्रकार निकल आयीं, ॥ ३६ ॥

विषज्वालावलीयुक्ता वल्मीकादिव पन्नगाः ।

ततः क्रोधादशग्रीवः सीतामुत्सृज्य रावणः ॥ ४० ॥

जिस प्रकार विष को उल्लाएं फेंकते हुए सर्प बाँबी से निकलते हैं। तब रावण ने क्रोध में भर सीता को तो क्षेड़ दिया ॥ ४० ॥

मुष्टिभ्यां चरणभ्यां च गृध्रराजमपोथयत् २ ।

ततो मुहूर्तं संग्रामो बभूवातुलवीर्योः ॥ ४१ ॥

राक्षसानां च मुख्यस्य पक्षिणां प्रवरस्य च ।

तस्य व्यायच्छमानस्य रामस्यार्थे स रावणः ॥ ४२ ॥

१ व्यपाहरत्—अच्छिनत् । (गो०) २ अपोथयत्—अताढयत् । (गो०)

और वह मूँकों और लातों से गृहराज को मारने लगा । अतुल वीर्यवान् उन दोनों का (अर्थात् राक्षसराज और पक्षिराज का) एक मुहूर्त तक घमासान युद्ध हुआ । उस समय श्रीराम के लिये युद्ध करते हुए जटायु के, रावण ने ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

पक्षौ पार्श्वौ च पादौ च खड्गमुद्धत्य सोऽच्छिनत् ।

स च्छिन्नपक्षः सहसारक्षसा रौद्रकर्मणा ।

निपपात हतो गृध्रो धरण्यामल्प जीवितः ॥ ४३ ॥

तलवार से समूल दोनों पर और दोनों पैर काट डाले । तब भयानक कर्म करने वाले रावण द्वारा पक्षों के काटे जाने पर जटायु गृद्ध मरणप्रायः हो कर, पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ४३ ॥

तं दृष्टा पतितं भूमौ क्षतजाद्र्दं जटायुषम् ।

अभ्यधावत वैदेही स्वबन्धुमिव दुःखिता ॥ ४४ ॥

जटायु को धायल पड़ा देख, दुःख से पीड़ित होकर, सीता उस की ओर उसी प्रकार दौड़ी, जिस प्रकार कोई अपने किसी भाई बन्धु को पीड़ित देख, उसकी ओर दौड़ता है ॥ ४४ ॥

तं नीलजीमूतनिकाशकल्पं

सुपाण्डुरोरस्कमुदारवर्यम् ।

ददर्श लङ्काधिपतिः पृथिव्यां

जटायुषं शान्तमिवाग्निदावम् ॥ ४५ ॥

लङ्काधिपति रावण ने, नीले मेघ के समान रंग वाले, पाण्डुर रंग की छाती वाले और अत्यन्त पराक्रमी जटायु को, उस समय, शान्त हुई बन की आग की तरह, पृथिवी पर पड़ा देखा ॥ ४५ ॥

ततस्तु तं पत्ररथं महीतले
 निपातितं रावणवेगमर्दितम् ।
 पुनः परिष्वज्य शशिप्रभानना
 रुरोद सीता जनकात्मजा तदा ॥ ४६ ॥
 इति एकपञ्चाशः सर्गः ॥

रावण के द्वारा मर्दित अंगों वाले और भूमि पर लोटते हुए जटायु को अपने कण्ठ से लगा, शशिवदनी जानकी जी रोने लगीं ॥ ४६ ॥

अरण्यकाण्ड का एक्यावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

द्विपञ्चाशः सर्गः

—*—

तमल्पजीवितं गृध्रं स्फुरन्तं राक्षसाधिपः ।

ददर्श भूमौ पतितं समीपे राघवाश्रमात् ॥ १ ॥

राक्षसेश्वर रावण ने श्रीरामाश्रम के समीप उस मृतप्राय जटायु को भूमि पर पड़ा हुआ और तड़फड़ाते हुए देखा ॥ १ ॥

सा तु ताराधिपमुखी रावणेन बलीयसा* ।

गृध्रराजं विनिहतं विललाप सुदुःखिता ॥ २ ॥

बलवान् रावण द्वारा मारे गये जटायु को देख, सीता जी बहुत दुःखी हुई और विलाप करने लगीं ॥ २ ॥

* पाठान्तरे—“ समीक्ष्य तम् ।”

आलिङ्ग्न्य गृध्रं निहतं रावणेन बलीयसा ।

विललाप सुदुःखार्ता सीता शशिनिभानना ॥ ३ ॥

बलवान् रावण द्वारा धायल किये गये गृद्धराज को आलिङ्ग्न कर, चन्द्रबद्नी सीता अत्यन्त दुखी हो, विलाप करने लगीं ॥ ३ ॥

निमित्तं लक्षणज्ञानं शकुनिश्वरदर्शनम् ।

अवश्यं सुखदुःखेषु नराणां प्रतिदृश्यते ॥ ४ ॥

वे बोलीं कि, वाप या दहिने अङ्गों का फड़कना, पक्षियों का बोलना और स्वप्न में सुवर्ण रूपी वृक्षों आदि का देखना; मनुष्यों के सुख दुःख के बारे में साक्षी रूप देख पड़ते हैं ॥ ४ ॥

नूनं राम न जानासि महद्वयसनमात्मनः ।

धावन्ति नूनं काकुत्स्थं मदर्थं मृगपक्षिणः ॥ ५ ॥

यद्यपि आज निश्चय ही मृग और पक्षीगण इस विपत्ति की सुचना देने को श्रीराम के सामने दौड़ते होंगे, तथापि यह भी निश्चय है कि, श्रीरामचन्द्र जी इस महान् कष्ट को न समझ सकेंगे ॥ ५ ॥

अयं हि पापचारेण मां त्रातुमभिसङ्गतः ।

शेते विनिहतो भूमौ ममाभाग्याद्विहङ्गमः ॥ ६ ॥

यह बेचारा जटायु, जो मेरी रक्षा करने यहाँ आया था, यह भी मारा जा कर, मेरे अभाग्य से ज़मीन पर अचेत हुआ पड़ा है ॥६॥

त्राहि मामद्य काकुत्स्थ लक्ष्मणेति वराङ्गना ।

सुसंत्रस्ता समाक्रन्दच्छृण्वतां तु १यथाऽन्तिके ॥ ७ ॥

हे राम ! हे लक्ष्मण ! इस समय मुझे आ कर बचाओ । डरी हुई सीता इस प्रकार उस समय रो कर कह रही थी; मानों श्रीराम और लक्ष्मण पास ही कहीं उसकी बातें सुन ही रहे हों ॥ ७ ॥

तां किलष्टपाल्याभरणां विलपन्तीमनाथवत् ।

अभ्यधावत् वैदेहीं रावणो राक्षसाधिपः ॥ ८ ॥

अनाथ की तरह विलाप करती हुई, कुम्हलाई हुई माला और मसले हुए आभूषणों को पहिने हुए सीता की ओर राज्ञसेश्वर रावण दौड़ा ॥ ८ ॥

तां लतामिव वेष्टन्तीमालिङ्गन्तीं महाद्रुमान् ।

मुश्चमुश्चेति बहुशः प्रवदन्तराक्षसाधिपः ॥ ९ ॥

उस समय सीता लता की तरह बड़े बड़े बृक्षों से लिपटने लगी । तब रावण ने उनसे बार बार कहा “छोड़ छोड़” ॥ ९ ॥

क्रोशन्तीं रामरामेति रामेण रहितां वने ।

जीवितान्ताय केशेषु जग्राहान्तकसन्निभः ॥ १० ॥

उस समय श्रीराम की अनुपस्थिति में राम राम कह कर, उस घन में रोती हुई सीता के पास जा, रावण ने काल की तरह अपने विनाश के लिये सीता के सिर के बाल पकड़ लिये ॥ १० ॥

प्रधर्षितायां सीतायां बभूव सचराचरम् ।

जगत्सर्वमर्यादं तमसाऽन्धेन संवृतम् ॥ ११ ॥

सीता का ऐसा अपमान होते देख कर, सम्पूर्ण चराचर जगत् मर्यादा रहित हो कर, निविड़ अन्धकार से व्याप्त हो गया । अर्थात् सब चराचर जीव किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये ॥ ११ ॥

न वाति मारुतस्तत्र निष्प्रभोऽभूदिवाकरः ।

दृष्टा सीतां परामृष्टां दीनां दिव्येन चक्षुषा ॥ १२ ॥

हवा का चलना बंद हो गया । सूर्य का प्रकाश मन्द पड़ गया ।
उस समय दुःखिनी सीता के केशाकर्षण को दिव्य दृष्टि से
देख, ॥ १२ ॥

कृतं कार्यमिति श्रीमान्व्याजहार पितामहः ।

प्रहृष्टा व्यथिताश्चासन्सर्वे ते परमर्षयः ॥ १३ ॥

ब्रह्मा जी ने कहा कि, कार्य सिद्ध हो गया । समस्त बड़े बड़े ऋषि
लोग हर्षित और दुःखित भी हुए ॥ १३ ॥

दृष्टा सीतां परामृष्टां दण्डकारण्यवासिनः ।

रावणस्य विनाशं च प्राप्तं बुद्ध्व यदच्छया ॥ १४ ॥

दण्डकारण्यवासी लोगों ने सीता का केशाकर्षण देख, जान
लिया कि, रावण के नाश में अब बहुत विलंब नहीं है ॥ १४ ॥

स तु तां राम रामेति रुदन्तीं लक्ष्मणेति च ।

जगामादाय चाकाशं रांवणो राक्षसेश्वरः ॥ १५ ॥

हा राम ! हा लक्ष्मण ! कह कर, रोती हुई जानकी को पकड़
कर, राक्षसनाथ रावण आकाश में चला गया ॥ १५ ॥

तपाभरणवर्णाङ्गी पीतकौशेयवासिनी ।

रराज राजपुत्री तु विद्युत्सौदामिनी यथा ॥ १६ ॥

उस समय विशुद्ध सुवर्ण के भूषणों को पहिने हुए और चंपई
रंग की साढ़ी धारण किये हुए राजपुत्री जानकी ऐसी जान पड़ी,
मानों बादल में विजली ॥ १६ ॥

उद्धूतेन च वस्त्रेण तस्याः पीतेन रावणः ।
अधिकं प्रतिवभ्राज गिरिदीपं इवाग्निना ॥ १७ ॥

उस समय सीता जो को चंपई रंग की साढ़ी के उड़ने से रावण भी, अग्नि से प्रदीप पर्वत की तरह शोभित जान पड़ता था ॥ १७ ॥

तस्याः परमकल्याण्यास्ताम्राणि सुरभीणि च ।
पद्मपत्राणि वैदेह्या अभ्यकीर्यन्त रावणम् ॥ १८ ॥

परम कल्याण रूपिणी सीता जी के शरीर पर जो सुगन्धि युक्त लाल वर्ण के कमलदल थे, वे रावण के शरीर पर गिरते जाते थे ॥ १८ ॥

तस्याः कौशेयमुद्भूतमाकाशे कनकप्रभम् ।
बभौ चादित्यरागेण ताम्रमध्रमिवातपे ॥ १९ ॥

सुवर्ण के रंग जैसी सीता जी की साढ़ी, जो आकाश में उड़ रही थी, ऐसी शोभायमान् जान पड़ती थी, जैसे सूर्य की प्रभा से लाल मेघ शोभायमान् होते हैं ॥ १९ ॥

तस्यास्तत्सुनसं वक्त्रमाकाशे रावणाङ्गगम् ।
न रराज विना रामं विनालमिव पङ्कजम् ॥ २० ॥

सीता का निर्मल मुखमण्डल, रावण की गोदी में, श्रीराम-चन्द्र जी के विना, नाल (डंडी) रहित कमल की तरह किसी प्रकार भी शोभायमान नहीं देख पड़ता था ॥ २० ॥

बभूव जलदं नीलं भित्त्वा चन्द्र इवोदितः ।
सुललाटं सुकेशान्तं पद्मगर्भाभमवणम् ॥ २१ ॥

शुक्लैः सुविमलैर्दन्तैः प्रभावद्विरलड्कुतम् ।

तस्यास्तद्विमलं वक्त्रमाकाशे रावणाङ्गम् ॥ २२ ॥

अच्छ्रे ललाट वाला, सुन्दर केशों से युक्त, पद्मगर्भसम प्रकाशित, क्षतिरहित, सुन्दर, सफेद, स्वच्छ और प्रभायुक्त दाँतों से सुशोभित और मनोहर नेत्रों से युक्त सीता का मुखमण्डल, रावण की गोद में ऐसा जान पड़ता था, जैसे नीले मेघों से निकल कर चन्द्रमा उदय हुआ हो ॥ २१ ॥ २२ ॥

रुदितं व्यपमृष्टासं चन्द्रवत्प्रियदर्शनम् ।

सुनासं चारु ताम्रोष्टुमाकाशे हाटकप्रभम् ॥ २३ ॥

*राक्षसेन्द्रसमाधृतं तस्यास्तद्वदनं शुभम् ।

शुशुभे न विना रामं दिवा चन्द्र इवोदितः ॥ २४ ॥

अनवरत रोदनयुक्त आँसुओं से मलिन हुआ, चन्द्रमा की तरह प्रियदर्शन, सुन्दर नासिका सहित, मनोहर व लाल ओंठों से युक्त, सुवर्ण जैसी कान्तिवाला और रावण की तेज चाल के कारण कम्पित सीता का मुख, श्रीरामचन्द्र के विना वैसे ही सुशोभित नहीं होता था, जैसे दिन में उदय हुआ चन्द्रमा ॥ २३ ॥ २४ ॥

सा हेमवर्णा नीलाङ्गं मैथिली राक्षसाधिपम् ।

शुशुभे काञ्चनी काञ्ची नीलं गजमिवाश्रिता ॥ २५ ॥

सुवर्ण के रंग के शरीर की सीता नीले रंग के शरीर वाले रावण के साथ ऐसी शोभायमान होती थी जैसे सौने की जंजीर नीले रंग के हाथी के शरीर पर शोभायमान होती है ॥ २५ ॥

सा पद्मगौरी हेमाभा रावणं जनकात्मजा ।

विद्युद्यनमिवाविश्य शुशुभे तप्तभूषणा ॥ २६ ॥

वह कमल फूल के केसर के और सोने के समान पीली और लुचर्ण के भूषणों से भूषित सीता रावण की गोद में ऐसी शोभा देती थी, मानों बादल में विजली दमक रही हो ॥ २६ ॥

तस्या भूषणघोषेण वैदेह्या राक्षसाधिपः ।

वधौ सचपलो नीलः सघोष इव तोयदः ॥ २७ ॥

उस समय सीता जो के गहनों के बजने के शब्द से रावण गरजते हुए मेघ की तरह जान पड़ता था ॥ २७ ॥

उत्तमाङ्गच्छ्युता तस्याः पुष्पवृष्टिः समन्ततः ।

सीताया हीयमाणायाः पपात धरणीतले ॥ २८ ॥

जिस समय रावण सीता को हर कर ले चला; उस समय सीता जी के सिर से फूलों की झड़ी सी पृथिवी पर चारों ओर हो रही थी ॥ २८ ॥

सा तु रावणवेगेन पुष्पवृष्टिः समन्ततः ।

समाधूता दशग्रीवं पुनरेवाभ्यर्तत ॥ २९ ॥

अभ्यर्तत पुष्पाणां धारा वैश्रवणानुजम् ।

नक्षत्रमाला विमला मेरुं नगमिवोन्नतम् ॥ ३० ॥

वायु के भोकों और रावण के आकाश-गमन के वेग से वे पुष्प उसके चारों ओर उड़ते हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानों नक्षत्रों की माला बड़े ऊँचे मेरुपर्वत के चारों ओर धूम रही हो ॥ २९ ॥ ३० ॥

चरणान्नपुरं भ्रष्टं वैदेह्या रत्नभूषितम् ।

विद्युन्मण्डलसङ्काशं पपात मधुरस्वनम् ॥ ३१ ॥

उसी समय जानकी जी के चरण से मधुर झनकार करता हुआ रत्नजडाऊ बुपुर खसक कर, चक्र खाती हुई विजली की तरह पृथिवी पर गिर पड़ा ॥ ३१ ॥

तां महोल्का^१मिवाकाशे दीप्यमानं स्वतेजसा ।

जहाराकाशमाविश्य सीतां वैश्रवणानुजः ॥ ३२ ॥

कुवेर का छोटा भाई रावण तेजस्विनी सीता को, आकाशमार्ग में उत्पातसूचक तारा (महोल्का) की तरह लिये हुए चला जाता था ॥ ३२ ॥

तस्यास्तान्यग्निवर्णानि भूषणानि महीतले ।

सधोषाण्यवकीर्यन्त क्षीणास्तारा इवाम्बरात् ॥ ३३ ॥

सीता जी के बै अग्नि को तरह दमकते हुए गहने, खुल खुल कर ज़मीन पर झनकार के साथ ऐसे गिरते थे, जैसे अकाश से टूटे हुए तारे ॥ ३३ ॥

तस्याः स्तनान्तराद्भ्रष्टो हारस्ताराधिपद्युतिः ।

वैदेह्या निपतन्भाति गङ्गेव गगनाच्चयुता ॥ ३४ ॥

सीता जी के बैःस्थल पर पड़ा हुआ हार, जो चन्द्रमा की तरह चमचमाता था, ज़मीन पर गिरते समय ऐसा जान पड़ा, मानो आकाश से गङ्गा गिर रही हो ॥ ३४ ॥

^१ महोल्का — उत्पातसूचकतारा । (गो०)

उत्पन्न^१वाताभिहता नानाद्विजगणायुताः ।

मा भैरिति विधूताग्राः व्याजहुरिव पादपाः ॥ ३५ ॥

रावण के गमन के बेग से उत्पन्न वायु से कम्पित हो, पक्षिगण मानें अपना सिर हिला कर, सीता को धीरज दंधाते हुए कह रहे थे कि, डरो मत ॥ ३५ ॥

नलिन्यो ध्वस्तकमलाखस्तमीनजलेचराः ।

सखीमिव गतोच्छ्वासामन्वशोचन्त मैथिलीम् ॥ ३६ ॥

ताजाबों में जो कमल के फूल थे (रावण के गमन के बेग-से) वे ध्वस्त हो गये थे और मङ्गली आदि जलचर जीव जन्तु, भयभीत हो गये थे। मानें वे भी सीता के वियोग से वैसे विकल हो रहे थे, जैसे कोई स्त्री अपनी सहेली के लिये शोक करती हो ॥ ३६ ॥

समन्तादधिसम्पत्य सिंहव्याघ्रमृगद्विजाः ।

अन्वधावस्तदा रोषात्सीतां छायानुगामिनः ॥ ३७ ॥

सिंह, व्याघ्र, मृग और पक्षी कोध में भर सीता जी की परद्वार्द पकड़ने के लिये चारों ओर से आ कर, उनके पीछे पीछे दौड़ते चले जाते थे ॥ ३७ ॥

जलप्रपाताख्मुखाः पृज्ञैरुच्छ्रुतबाहवः ।

सीतायां हियमाणायां विक्रोशन्तीव पर्वताः ॥ ३८ ॥

जानकी जी के हरे जाने से, पर्वतश्रेणी अपने शिखर रूपी बाहों को उठा और झरनों के जल से मानों अश्रु बहा री रही थी ॥ ३८ ॥

१ उत्पन्नेति—रावणवेगोत्पन्नेत्यर्थः । (गो०) २ विधूताग्राः—आश्वसनाय चलितशिरसः सन्तः । (गो०) ३ गतोच्छ्वासां—गतप्राणां । (गो०)

हियमाणां तु वैदेहीं दृष्टा दीनो दिवाकरः ।

प्रतिध्वस्तप्रभः श्रीमानासीत्पाण्डरमण्डलः ॥ ३९ ॥

सीता जी का हरा जाना देख, सूर्यदेव दुःखी होने के कारण तेज-
हीन हो गये और उनका मण्डल धुंधला पड़ गया ॥ ३६ ॥

नास्ति धर्मः कुतः सत्यं नार्जवं नानशंसता ।

यत्र रामस्य वैदेहीं भार्या हरति रावणः ॥ ४० ॥

इति सर्वाणि भूतानि गणशः^१ पर्यदेवयन् ।

वित्रस्तका दीनमुखा रुदुर्मृगपोतकाः ॥ ४१ ॥

उस बन के यावत् प्राणी एकत्र हो विलाप करते हुए कहते थे कि,
जब रावण, श्रीरामभार्या सीता को हर कर लिये जाता है, तब फिर
धर्म, सत्य, दया, सरलता और सुशीलता की तो इतिश्री ही हो
गयी । एक ओर मृगदौने ब्रस्त हो दुःखी हो रा रहे थे ॥ ४० ॥ ४१ ॥

उद्धीक्ष्येद्धीक्ष्य नयनैरास्पाताविलेक्षणाः ।

सुप्रवेषितगात्राश्च बभूवर्वनदेवताः ॥ ४२ ॥

वारंवार नेत्र खोल खोल कर यह देखने से, बनदेवताओं के
शरीर मारे भय के थर थर काँप रहे थे ॥ ४२ ॥

विक्रोशन्तीं दृढं सीतां दृष्टा दुःखं तथा गताम् ॥ ४३ ॥

तां तु लक्ष्मण रामेति क्रोशन्तीं मधुरस्वरम् ।

अवेक्षमाणां बहुशो वैदेहीं धरणीतलम् ॥ ४४ ॥

^१ गणशः—सहृदाशः । (गो०) २ मृगपोतकाः—मृगशाबाः । (गो०)

स तामाकुलकेशान्तां विप्रमृष्टविशेषकाम् ।

जहारात्मविनाशाय दशग्रीवो मनस्विनीम् ॥ ४५ ॥

मधुरस्वर से हा राम ! हा लक्ष्मण ! कह कर चिल्लाती, रोती, दुःखी होती हुई और बार बार पृथिवी की ओर निहारती, खुले हुए बाल और माथे के मिटे हुए तिलक वाली और दृढ़ पतिव्रत धारण करने वाली सीता को रावण अपने विनाश के लिये हर कर लिये जाता था ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥

ततस्तु सा चारुदती शुचिस्मिता

विनाकृता बन्धुजनेन मैथिली ।

अपश्यती राघवलक्ष्मणावुभौ

विवर्णवक्त्रा भयभारपीडिता ॥ ४६ ॥

इति द्विपञ्चाशः सर्गः ॥

मनोहर दाँतों वाली, मन्द मन्द हास करने वाली सीता, बन्धुजनों से हीन और दोनों अर्थात् राम लक्ष्मण को न देखने से, बहुत उदास और भयभीत हो गयी ॥ ४६ ॥

अरण्यकाशड का वावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।



त्रिपञ्चाशः सर्गः



खमुत्पतन्तं तं दृष्टा मैथिली जनकात्मजा ।

दुःखिता परमोद्धिता भये महति वर्तिनी ॥ १ ॥

रावण को आकाशमार्ग से जाते देख, जनकात्मजा मैथिली
बहुत डरो और दुःखित हो घबड़ा गयी ॥ १ ॥

रोषरोदनताप्राक्षी भीमाक्षं राक्षसाधिपम् ।
रुदन्ती करुणं सीता हियमाणेदमव्रवीत् ॥ २ ॥

हरे जाने पर, क्रोध के मारे और रोते रोते सीता के नेत्र लाल
हो गये, वह आर्तश्वर से रोती हुई भयङ्कर नेत्रों वाले राक्षसेश्वर
रावण से यह बोली ॥ २ ॥

न व्यपत्रपसे नीच कर्मणाऽनेन रावण ।
ज्ञात्वा विरहितां यन्मां चोरयित्वा पलायसे ॥ ३ ॥

अरे नीच रावण ! क्या तुझको यह काम करते हुए लज्जा नहीं
मालूम पड़ती कि, जो तू मुझे अकेली पा और चुरा कर भागा जा
रहा है ॥ ३ ॥

त्वयैव नूनं दुष्टात्मनभीरुणा हर्तुमिच्छता ।
ममापवाहितो भर्ता मृगरूपेण मायया ॥ ४ ॥

मैं जान गयी तू बड़ा दुष्ट और डरपोंक है । अतः निश्चय ही
तू मुझे हरने के लिये मायामृग के रूप से, मेरे पति को आश्रम से
दूर ले गया ॥ ४ ॥

यो हि मामुद्यतस्वातुं सोऽप्ययं विनिपातितः ।
गृद्धराजः पुराणोऽसौ शवशुरस्य सखा मम ॥ ५ ॥

फिर इस बूढ़े गृद्धराज को भी, जो मेरे ससुर का मित्र था और
मेरी रक्षा करने को तैयार हुआ था, मार डाला ॥ ५ ॥

परमं खलु ते वीर्यं दृश्यते राक्षसाधम् ।

विश्राव्य नामधेयं हि युद्धनास्मि जिता त्वया ॥ ६ ॥

हे राक्षसाधम् ! इससे तू बड़ा पराक्रमी जान पड़ता है । (यह व्यङ्गयोक्ति है) तूने केवल अपना नाम सुना कर, मुझे हरा है—तू मुझे युद्ध में जीत कर नहीं लाया ॥ ६ ॥

ईदृशं गर्हितं कर्म कथं कृत्वा न लज्जसे ।

ख्रियाश्च हरणं नीच रहिते तु परस्य च ॥ ७ ॥

अरे नीच ! सूने में पराई ल्ली के हरण करने का, यह निन्दनीय कर्म कर, तुझे लज्जा नहीं आती ? ॥ ७ ॥

कथयिष्यन्ति लोकेषु पुरुषाः कर्म कुत्सितम् ।

सुनृशंसमधर्मिष्टं तव शौण्डीर्यमानिनः ॥ ८ ॥

तू अपने को शूर बतला कर, जो ऐसा कूर और पापकर्म कर रहा है, सो लोग तेरे इस कर्म की निन्दा करेंगे ॥ ८ ॥

धिक्ते शौर्यं च सत्त्वं च यत्त्वं कथितवांस्तदा ।

कुलाक्रोशकरं लोके धिक्ते चारि भीदशम् ॥ ९ ॥

हरन करने के समय तूने जिस शूर वीरता और बल को बखान किया था, उस तेरी शूरवीरता और बल को धिक्कार है । इस लोक में कुल को कलङ्क लगाने वाले तेरे इस चरित्र पर भी लानत है ॥ ९ ॥

किं कर्तुं शक्यमेवं हि यज्जवेनैव धावसि ।

मुहूर्तमपि तिष्ठस्व न जीवन्प्रतियास्यसि ॥ १० ॥

ऐसी दशा में जब तू बड़े वेग से भागा जा रहा है कोई क्या कर सकता है। हाँ, यदि तू एक मुहूर्त मर ठहर जाय, तो तू जीता हुआ तो न जा सकेगा ॥ १० ॥

न हि चक्षुष्पथं प्राप्य तयोः पार्थिवपुत्रयोः ।

ससैन्योऽपि ससर्थस्त्वं मुहूर्तमपि जीवितुम् ॥ ११ ॥

उन राजपुत्रों की दृष्टि में पड़ते ही तू अपनी सेना सहित भी एक मुहूर्त मर भी जीता जागता नहीं रह सकता ॥ ११ ॥

न त्वं तयोः शरस्पर्शं सोहु शक्तः कथञ्चन ।

वने प्रज्वलितस्येव स्पर्शमग्नेविहङ्गमः ॥ १२ ॥

पक्षी जिस प्रकार बन के दावानल को नहीं हूँ सकता, उसी प्रकार तू उन राजकुमारों के बाणों का स्पर्श किसी तरह सहन नहीं कर सकता ॥ १२ ॥

साधु कृत्वाऽत्मनः पथ्यं साधु मां मुञ्च रावण ।

मत्प्रधर्षणरुषो हि भ्रात्रा सह पतिमम ॥ १३ ॥

विधास्यति विनाशाय त्वं मां यदि न मुञ्चसि ।

येन त्वं व्यवसायेन बलान्मां हर्तुमिच्छसि ॥ १४ ॥

आतएव हे रावण ! भली प्रकार अपना हित विचार कर सीधी तरह मुझको क्लोड दे । यदि न क्लोड़ेगा, तो मेरी धर्षणा से कुछ हो, मेरे पति अपने भाई लक्ष्मण सहित तेरे विनाश के लिये उद्योग करेंगे । हे नीच ! जिस उद्देश से तू बरजोरी मुझे हरे लिये जाता है ॥ १३ ॥ १४ ॥

व्यवसायः स ते नीच भविष्यति निरर्थकः ।

न हयहं तमपश्यन्ती भर्तारं विबुधोपमम् ॥ १५ ॥

वह तेरा उद्देश्य कभी पूरा नहीं हो सकेगा । क्योंकि मैं डस देखता तुल्य अपने पति को न देख ॥ १५ ॥

उत्सहे शत्रुवशगा प्राणान्धारयितुं चिरम् ।

न नूर्न चात्मनः श्रेयः पथ्यं वा समवेक्षसे ॥ १६ ॥

और शत्रु के वश में पड़, बहुत दिनों जीती न रह सकँगी । मैं समझती हूँ कि, तू अपने हित और कल्याण की ओर दूषि नहीं देता ॥ १६ ॥

मृत्युकाले यथा मर्त्यो विपरीतानि सेवते ।

मुमूर्षूणां हि सर्वेषां यत्पथ्यं तन्न रोचते ॥ १७ ॥

जो पुरुष शीघ्र मरने वाला होता है वह अपथ्य सेवन करने लगता है । क्योंकि ऐसे पुरुष को पथ्य वस्तु भली ही नहीं लगती ॥ १७ ॥

पश्याम्यद्य हि कण्ठे त्वां कालपाशावपाशितम् ।

यथा चास्मिन्भयस्थाने न विभेषि दशानन ॥ १८ ॥

हे दशानन ! मैं देख रही हूँ कि, तेरे गले में काल की फाँसी पड़ चुकी है, क्योंकि इस भय के स्थान में भी तुम्हे भय नहीं लगता ॥ १८ ॥

व्यक्तं हिरण्मयान्हि त्वं सम्पश्यसि महीरुहान् ।

नदीं वैतरणीं घोरां रुधिरौघनिवाहिनीम् ॥ १९ ॥

इससे स्पष्ट है कि, तू सोने के बृक्ष देखता (स्वप्न में) होगा । तू भयङ्कर और रुधिर के प्रवाह को बहाने वाली वैतरणी नदी को ॥ १९ ॥

असिपत्रवनं चैव भीमं पश्यसि रावण ।

तप्तकाञ्चनपुष्पां च वैद्यर्यप्रवरच्छदाम् ॥ २० ॥

द्रक्ष्यसे शाल्मलीं तीक्ष्णामायसैः कण्टकैश्चिताम् ।

न हि त्वमीहशं कृत्वा तस्यालीकं^१ महात्मनः ॥ २१ ॥

और भयङ्कर असिपत्र बन नामक नरक को देखना चाहता है। तू तपाये हुए सुवर्ण के फलों से पूर्ण और पन्नों के पत्रों वाले और नुकीले लोहे के काटों से युक्त शाल्मली के वृक्ष को देखेगा। महात्मा श्रीराम का ऐसा अप्रिय कार्य कर ॥ २० ॥ २१ ॥

[नोट—जो परदाराभिगमन करते हैं उन्हें मरने पर यमलोक में कटीले शास्मली वृक्ष का आलिङ्गन करना पड़ता है ।]

*चरितुं शक्ष्यसि चिरं विषं पीत्वेव निर्घृणः ।

बद्धस्त्वं कालपाशेन दुर्निवारेण रावण ॥ २२ ॥

तू बहुत दिनों जीवित नहीं रह सकता। जैसे कोई विष पी कर बहुत दिनों तक नहीं जी सकता। हे निर्घृण रावण! अब तू दूढ़ कालपाश से बंध गया है ॥ २२ ॥

क गतो लप्स्यसे शर्म भर्तुर्यम् महात्मनः ।

निमेषान्तरमात्रेण विना भ्रात्रा महावने ॥ २३ ॥

मेरे महात्मा भर्ता के सामने से भाग कर, तू कहाँ सुख पा सकता है! उन्होंने पलक मारते दण्डकबन में अकेले ही अपने भाई लक्ष्मण की सहायता के बिना ॥ २३ ॥

राक्षसा निहता येन सहस्राणि चतुर्दश ।

स कथं राघवो वीरः सर्वास्त्रकुशलो बली ।

न त्वां हन्याच्छरैस्तीक्ष्णैरिष्टभार्यापहारिणम् ॥ २४ ॥

^१ अलीकं—अप्रियं । (गो०)

* पाठान्तरे—“धारितु”, “धरित” वा ।

चौदह हजार राजसों को मार डाला था । वे सब अस्त्रों के चलाने में निपुण एवं बलवान् तथा दीर श्रीरामचन्द्र अपनी प्यारी भार्या के चोर तुझको अपने पैने बाणों से क्यों न मारंगे ॥ २४ ॥

एतच्चान्यच्च परुषं वैदेही रावणाङ्कगा ।
भयशोकसमाविष्टा करुणं विललाप ह ॥ २५ ॥

रावण की गोद में पड़ी हुई सीता, भय और शोक से पीड़ित हो, इस प्रकार के और भी अनेक कठोर वचन कह, करुण स्वर से विलाप करने लगी ॥ २५ ॥

तथा भृशार्ता बहु चैव भाषिणीं
विलापपूर्वं करुणं च भामिनीम् ।
जहार पापः करुणं विवेष्टतीं
नृपात्मजामागतगात्रवेपथुम् ॥ २६ ॥

इति त्रिपञ्चाशः सर्गः ॥

जानकी जी बहुत घबड़ा कर, करुणा सहित विलाप कर अनेक कठोर वचन कहने लगीं । उस समय वह पापी रावण भय से कौपता हुआ, छटपटाती सीता को लिये चला जाता था ॥ २६ ॥

अरण्यकाशड का तिरपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

चतुःपञ्चाशः सर्गः

—*—

हियमाणा तु वैदेही कञ्चिन्नाथमपश्यती !
ददर्श गिरिश्रुङ्गस्थान्पञ्च वानरपुङ्गवान् ॥ १ ॥

इस प्रकार जाती हुई सीता ने, जब कोई अपना बचाने वाला न देखा, तब उनको निगाह एक पर्वतशिखर पर बैठे हुए, पाँच बंदरों पर पड़ी ॥ १ ॥

तेषां मध्ये विशालाक्षी कौशेयं कनकप्रभम् ।
उत्तरीयं वरारोहा शुभान्याभरणानि च ॥ २ ॥

उन विशालाक्षी वरारोहा जानकी जी ने सुवर्ण की तरह चम्कीले चंपई रंग के वस्त्र में बाँध अपने कुछ उत्तम गहनों को उन बंदरों के बीच में ॥ २ ॥

मुमोच यदि रामाय शंसेयुरिति मैथिली ।
वस्त्रमुत्सृज्य तन्मध्ये निक्षिप्तं सहभूषणम् ॥ ३ ॥

यह समझ कर, गिरा दिया कि, वे बानर सम्भवतः सीता के हरण का संदेश श्रीराम से कह दें। सीता जो के क्षोड़े हुए वे वस्त्र सहित आभूषण बंदरों के बीच में जा गिरे ॥ ३ ॥

सम्भ्रमात्तु दशग्रीवस्तत्कर्म न स बुद्धवान् ।
पिङ्गाक्षास्तां विशालाक्षीं नेत्रैरनिमिषैरिव ॥ ४ ॥

विक्रोशन्तीं तथा सीतां ददशुर्वानरर्षभाः ।

स च पम्पामतिक्रम्य लङ्घामभिमुखः पुरीम् ॥ ५ ॥

सीता जी का यह कर्म, हड्डबड़ी में रावण ने नहीं जान पाया । पीजी आंखों वाले वे श्रेष्ठ बानर उच्च स्वर से चिल्लाती हुई सीता की बिना पलक भपकाये अर्थात् टकटकी बाँधे देखते रहे । पम्पा को नांघ लंकापुरी की ओर ॥ ४ ॥ ५ ॥

जगाम रुदतीं गृह्ण वैदेहीं राक्षसेश्वरः ।

तां जहार सुसंहृष्टे रावणो मृत्युमात्मनः ॥ ६ ॥

राक्षसेश्वर रावण रोती हुई सीता को लिये हुए चला गया । उस समय रावण सीता रूपी अपनी मौत को लिये वैसे ही अत्यन्त प्रसन्न होता हुआ चला जाता था ॥ ६ ॥

उत्सङ्गेनेव भुजगीं तीक्ष्णदंष्ट्रां महाविषाम् ।

वनानि सरितः शैलान्सरांसि च विहायसा ॥ ७ ॥

जैसे कोई पैने दांतों वाली और महाविषैली साँपिन को अपनी गोद में ले प्रसन्न होता ही । अनेक वनों, नदियों, पहाड़ों और झीलों को पीछे छोड़ता हुआ, रावण आगे बढ़ता चला जाता था ॥ ७ ॥

स क्षिप्रं समतीयाय शरश्चापादिव च्युतः ।

तिमिनक्रनिकेतं तु वरुणालयमक्षयम् ॥ ८ ॥

वह ऐसी जल्दी चला जा रहा था, जैसे धनुष से कूटा बाण जाता है । तिमि (एक प्रकार की बड़ी भयङ्कर मछली) और घड़ियालों के निवासस्थान और वरुण के आवासस्थान सागर को भी रावण ने पार किया ॥ ८ ॥

सरितां शरणं गत्वा समतीयाय सांगरम् ।

सम्भ्रमात्परिवृत्तोर्मी रुद्रमोनपहोरगः ॥ ९ ॥

उस समय सीता को हरी जाती देख, नदीनाथ समुद्र तरङ्गहीन हो गया और उसमें रहने वाले मत्स्य और सर्प घबड़ा उठे ॥ १ ॥

वैदेहयां हियमाणायां बभूत्र वरुणालयः ।

अन्तरिक्षगता वाचः १ससृजुश्चारणास्तदा ॥ १० ॥

सीता जो के हरने पर समुद्र की तो यह दशा हुई । उच्चर आकाशस्थित चारणगण यह बात बोले, ॥ १० ॥

एतदन्तो दशग्रीव इति सिद्धास्तदाब्रुवन् ।

स तु सीतां विवेष्टन्तीमङ्गेनादाय रावणः ॥ ११ ॥

बस अब रावण किसी प्रकार नहीं बच सकता । उस समय यही बात सिद्धों ने भी कही । रावण क्षटपटाती हुई सीता को गोदी में लिये ॥ ११ ॥

प्रविवेश पुरीं लङ्कां रूपिणीं मृत्युमात्मनः ।

सेऽभिगम्यं पुरीं लङ्कां सुविभक्तमहापथाम् ॥ १२ ॥

अपनी लङ्का पुरी में ले गया । वह सीता की नहीं ले गया बल्कि वह अपनी मृत्यु को ले गया । लङ्कापुरी बड़े बड़े चौराहों और चौड़ी सड़कों से सुशांभित थी ॥ १२ ॥

संरुद्धकक्ष्याबहुलं स्वमन्तःपुरमाविशत् ।

तत्र तामसितापाङ्गां शोकमोहपरायणाम् ॥ १३ ॥

उसकी शालाएँ राज्ञसज्जनों से भरी हुई थीं। रावण ने अपने अन्तःपुर में ले जाकर सीता को, जो शोक मोह से युक्त और परम सुन्दरी थी, बैठा दिया ॥ १३ ॥

निदधे रावणः सीता मयो मायामिव स्त्रियम् ।
अब्रवीच्च दशग्रीवः पिशाचीघोरदर्शनाः ॥ १४ ॥

उस समय ऐसा बोध हुआ मानो मयदानव अपनी पुरी में आसुरी माया ले आया है। रावण ने सीता जी को अपने रनवास में उहरा भयङ्कर सूरतवाली पिशाचिनों से कहा ॥ १४ ॥

यथा नेमां पुमान्खी वा सीतां पश्यत्यसम्मतः ।
मुक्तामणिसुवर्णानि वस्त्राण्याभरणानि च ॥ १५ ॥
यद्यदिच्छेत्तदेवास्या देयं मच्छन्दतो यथा ।
या च वक्ष्यति वैदेहीं वचनं किञ्चिदप्रियम् ॥ १६ ॥
अज्ञानाद्यादि वा ज्ञानान्न तस्या जीवितं प्रियम् ।
तथोक्त्वा राक्षसीस्तास्तु राक्षसेन्द्रः प्रतापवान् ॥ १७ ॥

मेरी आङ्गा हुए बिना सीता को न कोई पुरुष और न कोई स्त्री ही देखने पावे। मेती, मणि, सुनर्ण, वस्त्र, गहने आदि वस्तुओं में से सीता जो माँगे सो तुम मुझसे पूँछे बिना उसे देना। जान कर अथवा अनजाने जो कोई सीता से कठोर वचन कहेगा, वह जान से मार डाला जायगा। प्रतापी रावण इस प्रकार उन राक्षसियों को आङ्गा दे ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥

निष्कम्यान्तःपुरात्तस्मात्किं कृत्यमिति चिन्तयन् ।
ददर्शाष्टौ महावीर्यान्नराक्षसानिपश्चिताशनान् ॥ १८ ॥

अन्तःपुर से निकल सोचने लगा कि, अब क्या करना चाहिये ।
इस प्रकार सोचने विचारते उसने देखा कि, आठ मांसभक्षी और बड़े
बलवान राज्ञस बैठे हैं ॥ १८ ॥

स तान्दृष्टा महावीर्यो वरदानेन मोहितः ।

उवाचैतानिदं वाक्यं प्रशस्य बलवीर्यतः ॥ १९ ॥

उन राज्ञसों को देख और ब्रह्मा जी के बरदान से मोहित रावण,
उनके बल और पराक्रम की प्रशंसा करता हुआ, उनसे यह
बोला ॥ १९ ॥

नानाप्रहरणाः क्षिप्रमितो गच्छत सत्वराः ।

जनस्थानं हतस्थानं भूतपूर्व खरालयम् ॥ २० ॥

हे राज्ञस लोगों ! अब तुम लोग तरह तरह के अख्त लेकर शीघ्र
यहाँ से जनस्थान को, जहाँ पहिले खर रहा करता और जो इस
समय नष्ट हो गया है, जाओ ॥ २० ॥

तत्रोद्यतां जनस्थाने शून्ये निहतराक्षसे ।

पौरुषं बलमाश्रित्य त्रासमुत्सृज्य दूरतः ॥ २१ ॥

और वहाँ जा कर रहे । क्योंकि वहाँ के राज्ञसों के मारे जाने
से वह स्थान शून्य हुआ पड़ा है । तुम लोग अपने पुरुषार्थ और बल
के भरोसे वहाँ जा कर रहना और किसी बात से डरना मत ॥ २१ ॥

बलं हि सुमहद्यन्मे जनस्थाने निवेशितम् ।

सदूषणखरं युद्धे हतं रामेण सायकैः ॥ २२ ॥

मैंने तो जनस्थान में एक बड़ी सेना रखी थी, किन्तु श्रीराम-
चन्द्र ने अपने बाणों से खरदूषण सहित उसको मार डाला ॥ २२ ॥

तत्र क्रोधो ममार्मषाद्वैर्यस्योपरि वर्तते ।

वैरं च सुमहजातं रामं प्रति सुदारुणम् ॥ २३ ॥

अतः इससे मुझे बड़ा क्रोध हुआ है और इस क्रोध ने मेरे धैर्य को भी दबा लिया है। श्रीराम के साथ मेरा बड़ा भारी वैर हो गया है ॥ २३ ॥

निर्यातयितुमिच्छामि तच्च वैरमहं रिपोः ।

न हि लप्स्याम्यहं निद्रामहत्वा संयुगे रिपुम् ॥ २४ ॥

इस वैर का बदला मैं शत्रु से लेना चाहता हूँ और जब तक मैं युद्ध में अपने शत्रु को न मार डालूँगा, तब तक मुझे नींद नहीं आवेगी ॥ २४ ॥

तं त्विदानीमहं हत्वा खरदूषणघातिनम् ।

रामं शर्मोपलप्स्यामि धनं लब्ध्वेव निर्धनः ॥ २५ ॥

किन्तु जब मैं खरहन्ता श्रीराम का वध कर डालूँगा, तब मुझे वैसे ही प्रसन्नता होगी, जैसी प्रसन्नता किसी निर्धनी को धन पाने पर होती है ॥ २५ ॥

जनस्थाने वसद्विस्तु भवद्वी रामपाश्रिता ।

प्रवृत्तिरूपनेतव्या किं करोतीति तत्त्वतः ॥ २६ ॥

तुम लोग जनस्थान में रह कर, श्रीराम किस समय क्या करते हैं, सो सदा ही ठीक ठीक खोज खबर लेते रहो ॥ २६ ॥

अप्रमादाच्च गन्तव्यं सर्वैरपि निशाचरैः ।

कर्तव्यश्च सदा यत्रो राघवस्य वधं प्रति ॥ २७ ॥

तुम सब लोग वहाँ बड़ी सावधानी से जाना और श्रीरामचन्द्र को मार ढालने के लिये सदा प्रयत्नवान् बने रहना ॥ २७ ॥

युष्माकं च वलज्ञोऽहं बहुशो रणमूर्धनि ।

अतश्चास्मिञ्जनस्थाने मया युयं नियोजिताः ॥ २८ ॥

रणक्षेत्र में मैं तुम लोगों के पराक्रम की अनेक बार परीक्षा कर चुका हूँ । इसीसे मैं तुम लोगों को जनस्थान में रहने के लिये नियुक्त करता हूँ ॥ २८ ॥

ततः प्रियं बाक्यमुपेत्य राक्षसा

महार्थमष्टावभिवाद्य रावणम् ।

विहाय लङ्घां सहिताः प्रतस्थिरे

यतो जनस्थानमलक्ष्यदर्शनाः ॥ २९ ॥

रावण के इस प्रकार के मधुर और सारगमित वचन सुन, वे आठो राक्षस, रावण को प्रणाम कर, और लङ्घा छोड़, गुप्त रूप से जनस्थान को चल दिये ॥ २९ ॥

ततस्तु सीतामुपलभ्य रावणः

सुसंप्रहृष्टः परिगृह्य मैथिलीम् ।

प्रसज्य रामेण च वैरमुत्तमं

बभूव मोहान्मुदितः स राक्षसः ॥ ३० ॥

इति चतुःपञ्चाशः सर्गः ॥

उधर सीता को पा कर, रावण प्रसन्न हो, लड़ा में रहने लगा और श्रीराम के साथ बैर बांध कर भी, वह भ्रान्तिवश प्रसन्न हुआ ॥ ३० ॥

अरण्यकण्ड का चौवनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

पञ्चपञ्चाशः सर्गः

—;*;—

संदिश्य राक्षसान्धोरानरावणोऽष्टौ महाबलान् ।
आत्मानं १बुद्धिवैकल्प्यात्कृतकृत्यमयन्यत ॥ १ ॥

रावण ने महाबलवान आठ राक्षसों को जनस्थान में रहने के लिये भेज, अपने बुद्धिदैर्घ्य से, अपने को कृतकृत्य माना ॥ १ ॥

स चिन्तयानो वैदेहीं कामवाणसमर्पितः ।
प्रविवेश गृहं रम्यं सीतां द्रष्टुमभित्वरन् ॥ २ ॥

और वह कामवाण से पीड़ित हो, सीता का स्मरण करता हुआ, सीता को देखने के लिये अपने रमणीक घर में गया ॥ २ ॥

स प्रविश्य तु तद्वेशम् रावणो राक्षसाधिपः ।
अपश्यद्राक्षसीमध्ये सीतां शोकपरायणाम् ॥ ३ ॥

१ बुद्धिवैकल्प्यात्—बुद्धिदैर्घ्यात् । (गो०) २ समर्पितः—पीड़ित ।
(गो०) वेशम्—अन्तःपुरं । (गो०)

रात्रसेवर रावण ने उस घर में प्रवेश कर, दुःख से पीड़ित सीता को रात्रसियों के बीच में बैठे हुए देखा ॥ ३ ॥

अश्रुपूर्णमुखीं दीनां शोकभाराभिषीडिताम् ।
वायुवेगैरिवाक्रान्तां मज्जन्तीं नावमर्णवे ॥ ४ ॥

उस समय सीता जी शोक के भार से पीड़ित अत्यन्त उदास और नेत्रों से आँख बहाती हुई बैठी थीं। उस समय ऐसा जान पड़ता था, मानो नाव, हवा के झोके से उलट कर, जल में झूब रही हो ॥ ४ ॥

मृगयूथपरिभ्रष्टां मृगीं शवभिरिवावृताम् ।
अधोमुखमुखीं सीतामभ्येत्य च निशाचरः ॥ ५ ॥

अथवा भुंड से छूटी हुई और कुत्तों से घिरी हुई हिरनी हो। उस समय नीचे सिर किये बैठी हुई सीता को रावण ने देखा ॥ ५ ॥

तां तु शोकपरां दीनामवशां राक्षसाधिपः ।
स बलादर्शयामास गृहं देवगृहोपमम् ॥ ६ ॥

शोक से पीड़ित और उदास सीता जी की इच्छा न रहते भी, रावण ने बरजोरी उनको अपना देवगृह तुल्य दिव्यभवन दिखलाया ॥ ६ ॥

हर्म्यप्रासादसंवाधं स्त्रीसहस्रनिषेवितम् ।
नानापक्षिगणौर्जुष्टं नानारत्नसमन्वितम् ॥ ७ ॥

उस घर में अनेक अटा अटारियाँ और बारजे थे। उसमें हज़ारों लियाँ रहती थीं और तरह तरह के पक्षी कललें कर रहे थे तथा यथास्थान अनेक प्रकार के रक्त जड़े हुए थे ॥ ७ ॥

*दान्तैश्च तापनीयैश्च स्फटिकै राजतैरपि ।
वज्रवैद्वृद्यचित्रैश्च स्तम्भैर्द्विष्मनोहरैः ॥ ८ ॥

उस भवन के खंभे हाथोदाँत, सुवर्ण, स्फटिक, चाँदी और
वैद्वृद्य की नक्काशी के काम से भूषित और देखने में बड़े मनोहर
जान पड़ते थे ॥ ८ ॥

दिव्यदुन्दुभिनिर्हादं तप्तकाञ्चनतोरणम् ।

सोपानं काञ्चनं चित्रमारुरोह तया सह ॥ ९ ॥

(उस समय) सुरीली नौबत बज रही थी और दरवाजे पर सौने
बंदनवारे लटक रही थीं रावण सीता को लिये हुए सुवर्ण-
निर्मित विचित्र सीढ़ियों पर चढ़ा ॥ ९ ॥

दान्तिका राजताशैव गवाक्षाः प्रियदर्शनाः ।

हेमजालावृताश्चासंस्त्र प्रासादपङ्क्तयः ॥ १० ॥

उस भवन की अटारियों के सुन्दर झरोखे हाथीदाँत और चाँदी
के बने थे । वहाँ पर बहुत सी ऐसी अटारियाँ बनी हुई थीं, जिनमें
सौने के जंगले लगे हुए थे ॥ १० ॥

सुधामणिविचित्राणि भूमिभागानि सर्वशः ।

दशग्रीवः स्वभवने प्रादर्शयत मैथिलीम् ॥ ११ ॥

उन अटारियों के सब फर्श चूना के पक्के बने थे और रंग
बिरंगे पथर जगह जगह जड़े हुए थे । इस प्रकार के अपने भवन को
रावण ने जानकी जी को दिखलाया ॥ ११ ॥

‘दीर्घिकाः पुष्करिण्यश्च नानावृक्षसमन्विताः ।

रावणो दर्शयामास सीतां शोकपरायणाम् ॥ १२ ॥

१ दीर्घिकाः—वाच्यः । (गो०)

* पाठान्तरे—“काञ्चनैः”, “दान्तैः”: वा ।

शोकपरायणा सीता को रावण ने उस भवन में जगह जगह बनी हुई वावड़ी व पुष्करिणी, जिनके चारों ओर वृक्ष शोभायमान थे, दिखलायीं ॥ १२ ॥

दर्शयित्वा तु वैदेह्याः कृत्स्नं तद्वनोत्तमम् ।
उवाच वाक्यं पापात्मा सीतां लोभितुमिच्छ्या ॥ १३ ॥

अपने उस समस्त उत्तम भवन को रावण ने सीता को दिखलाया और सीता को लोभ में फसाने के लिये वह पापी रावण बोला ॥ १३ ॥

दश राक्षसकोट्यश्च द्वाविंशतिरथापराः ।
तेषां प्रभुरहं सीते सर्वेषां भीमकर्मणाम् ॥ १४ ॥

हे सीते ! मैं दस करोड़ और बाइस करोड़ अर्थात् बत्तीस करोड़ वडे भयझूर काम करने वाले राक्षसों का स्वामी हूँ ॥ १४ ॥

१वर्जयित्वा जरावृद्धान्बालांश्च रजनीचरान् ।
सहस्रमेकमेकस्य मम कार्यपुरः सरम् ॥ १५ ॥

बूढ़े और बालक राक्षसों को छोड़ कर, मेरे निज के एक हजार टहल्लुए हैं ॥ १५ ॥

यदिदं राजतन्त्रं मे त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
जीवितं च विशालाक्षि त्वं मे प्राणैर्गरीयसी ॥ १६ ॥

१ वर्जयित्वेतिबालवृद्धान्विना ममैकस्य एकसहस्र परिचारक जातं । (गो०)
२ राजतन्त्रं—राजपरिक रं । (गो०)

यह समस्त राजपरिकर तुम्हारे हो अधीन है । हे विशालात्मि !
मेरा जीवन भी तुम्हारे अधीन है । क्योंकि मैं तुम्हें अपने प्राणों से
भी बढ़ कर प्रिय समझता हूँ ॥ १६ ॥

बहूनां स्त्रीसहस्राणां मम योऽसौ परिग्रहः ।
तासां त्वमीश्वरा सीते मम भार्या भव प्रिये ॥ १७ ॥

हे प्रिये सीते ! मेरे रनवास में जो मेरी व्याही हुई स्त्रियाँ हैं, उन
सब के ऊपर तुम स्वामिनी बनो ॥ १७ ॥

साधु किं तेऽन्यथा बुद्ध्या रोचयस्य वचो मम ।
भजस्य माऽभितप्तस्य प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ १८ ॥

हे सीते ! मैंने जो अभी कहा है उसे तुम मान लो । क्योंकि मैंने
जो कहा है वही ठीक है । तुम इसके विपरीत यदि कुछ करोगी तो
उसका कुछ फल न होगा । इस समय मैं काम से पीड़ित हो रहा हूँ
सो मुझे अंगोकार कर, तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो जाओ ॥ १८ ॥

परिक्षिप्ता सहस्रेण लङ्घेयं शतयोजना ।
नेयं धर्षयितुं शक्या सेन्द्रैरपि सुरासुरैः ॥ १९ ॥

सौ योजन के विस्तार वाली लङ्घा चारों ओर एक हजार
योजन तक समुद्र से घिरी है । अतः सब देवताओं सहित इन्द्र
भी इसे जीत नहीं सकते ॥ १९ ॥

न देवेषु न यक्षेषु न गन्धर्वेषु रगेषु च ।
अहं पश्यामि लोकेषु यो मे वीर्यसमो भवेत् ॥ २० ॥

क्या देवताओं में, क्या यज्ञों में, क्या गन्धर्वों में और क्या नागों में, ऐसा कोई भी मुझे नहीं देख पड़ता, जो पराक्रम में मेरा सामना कर सके ॥ २० ॥

राज्यभ्रष्टेन दीनेन तापसेन गतायुषा ।

किं करिष्यसि रामेण मानुषेणाल्पतेजसा ॥ २१ ॥

देखो, राज्य से च्युत, दीन, भिज्जुक, पैदल घूमने वाले, मनुष्य जाति के और गतायु एवं अल्पतेज वाले श्रीराम को ले कर, तुम क्या करोगी ? ॥ २१ ॥

भजस्य सीते मामेव भर्ताहं सद्वशस्तव ।

यौवनं हाथ्रुवं भीरु रमस्वेह मया सह ॥ २२ ॥

हे सीते ! तुम तो मुझे ही अपनाओ, क्योंकि तुम्हारे योग्य पति तो मैं ही हूँ । यह जवानी सदा नहीं रहती, अतः जब तक यह है तब तक तुम मेरे साथ विहार करो ॥ २२ ॥

दर्शने मा कृथा बुद्धि राघवस्य वरानने ।

काऽस्य शक्तिरिहागन्तुमपि सीते मनोरथैः ॥ २३ ॥

हे वरानने ! अब तुम श्रीरामचन्द्र से पुनः मिलने की आशा मत रखो । क्योंकि ऐसी शक्ति किसमें है जो कल्पना द्वारा भी यहाँ आ सके ॥ २३ ॥

न शक्यो वायुराकाशे पार्श्वेद्धं महाजवः ।

दीप्यमानस्य चाप्यग्नेग्रहीतुं विमलां शिखाम्* ॥ २४ ॥

जिस तरह प्रचण्ड पवन का पाशों से बांधना और अग्नि की शिखा का थामना असम्भव है, उसी तरह श्रीरामचन्द्र का यहाँ आना भी असम्भव है ॥ २४ ॥

पाठान्तरे—“विमलाशिखा”, “विमलाः शिखाः” ।

त्रयाणामपि लोकानां न तं पश्यामि शोभने ।

विक्रमेण नयेद्यस्त्वां मद्भादुपरिपालिताम् ॥ २५ ॥

हे शोभने ! मैं तो तीनों लोकों में ऐसी सामर्थ्य किसी में नहीं देखता जो मेरी भुजा से रक्षित तुझको अपने पराक्रम द्वारा यहाँ से ले जाय ॥ २५ ॥

लङ्घायां सुप्रदाज्यमिदं त्वमनुपालय ।

त्वत्प्रेष्या मद्विधाश्चैव देवाश्चापि चराचराः ॥ २६ ॥

अतएव तू अब इस लङ्घा के विशाल राज्य का पालन कर, केवल मैं स्वयं और देवता लोग ही नहीं, प्रत्युत सम्पूर्ण चराचर तेरे द्वहलुए हो कर रहेंगे ॥ २६ ॥

अभिषेकोदक्किलना तुष्टा च रमयस्व माम् ।

दुष्कृतं यत्पुरा कर्म बनवासेन तदगतम् ॥ २७ ॥

तू अपना अभिषेक करा कर और प्रसन्न हो कर मेरे साथ विहार कर। पूर्वजन्म के तेरे जो कुछ पाप थे, वे सब बनवास करने से नष्ट हो गये ॥ २७ ॥

यश्च ते सुकृतो धर्मस्तस्येह फलमाणुहि ।

इह माल्यानि सर्वोणि दिव्यगन्धानि मैथिली ॥ २८ ॥

और जो पूर्वजन्म के पुण्यफल बाकी हैं, उनके फलों को तू लङ्घा में रह कर उपभोग कर। हे मैथिली ! यहाँ पर जो ये दिव्य मालाएँ और चन्दनादि सुगन्धित पदार्थ हैं ॥ २८ ॥

भूषणानि च मुख्यानि सेवस्व च मया सह ।

पुष्पकं नाम सुश्रोणि भ्रातुर्वैश्रवणस्य मे ॥ २९ ॥

और जो बढ़िया बढ़िया आभूषण हैं, उन सब को, तू मेरे साथ
विहार कर के भोग । मेरे भाई कुवेर का पुष्पक नामक, ॥ २६ ॥

विमानं सूर्यसङ्काशं तरसा निर्जितं मया ।

विशालं रमणीयं च तद्विमानमनुत्तमम् ॥ ३० ॥

तत्र सीते मया सार्धं विहरस्व यथासुखम् ।

वदनं पद्मसङ्काशं विमलं चारुदर्शनम् ॥ ३१ ॥

शोकार्तं तु वरारोहे न भ्राजति वरानने ।

एवं वदति तस्मिन्सा वस्त्रान्तेन वराङ्गना ॥ ३२ ॥

सूर्य के समान देवीप्यमान जो विमान है और जिसे मैंने
संग्राम में जीत कर पाया है, वह विशालकाय, रमणीय, और
विमानों में उत्तम है। उसमें बैठ कर तू मेरे साथ सुख सहित,
विहार कर। हे वरानने ! तेरा यह मुख जो कमल की तरह
साफ और सुन्दर है, शोक के कारण मलिन होने से शोभित
नहीं होता। जब रावण ने इस प्रकार कहा; तब सीता वस्त्र से
॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

पिधायेन्दुनिभं सीता मुखमशृण्यवर्तयत् ।

ध्यायन्तीं तामिवास्वस्थां दीनां चिन्ताहतप्रभाम् ॥ ३३ ॥

चन्द्र के समान अपना मुख ढाँक कर रोने लगी। मारे चिन्ता
के उसका मुख फीका पड़ गया। वह अत्यन्त उदास और अस्वस्थ
सी हो, चिन्तामग्न ही गयी ॥ ३३ ॥

उवाच वचनं पापो रावणो राक्षसेश्वरः ।

अलं त्रीडेन वैदेहि धर्मलोपकृतेन च ॥ ३४ ॥

ऐसी दशा को प्राप्त सीता से पापी राज्ञसेश्वर रावण कहने लगा । हे वैदेही ! धर्मलोप हो जाने की शङ्का से तेरा लज्जित होना व्यर्थ है ॥ ३४ ॥

आर्षोऽयं दैवनिष्ठन्दो यस्त्वामभिगमिष्यति ।
एतौ पादौ मयास्तिंधौ शिरोभिः परिपीडितौ ॥ ३५ ॥

क्योंकि राज्ञस विवाह भी तो ऋषिप्रोक्त विवाह है । (यह अधर्म कार्य नहीं है) इस विवाह के द्वारा परपुरुष का संसर्ग प्रायश्चित्तार्ह नहीं है । देखो मैं अपने दसों सिर, तेरे दोनों कोमल चरणों पर रखता हूँ ॥ ३५ ॥

प्रसादं कुरु मे क्षिप्रं वश्यो दासोऽहमस्मि ते ।
इमाः शून्याः^१ मया वाचः शुष्यमाणेन^२ भाषिताः ।
न चापि रावणः काञ्चिन्मूर्त्ता स्त्रीं प्रणमेत ह ॥ ३६ ॥

अब तू मेरे ऊपर तुरन्त प्रसन्न हो जा । मैं तेरा वशवर्ती दास हूँ । देख, मैंने काम से पीड़ित हाने के कारण ही ऐसी अधीनतार्ह की बातें केवल तुझीसे कही हैं । नहीं तो रावण ने आज तक कभी किसी स्त्री के पैरों पर अपने सिर नहीं रखे ॥ ३६ ॥

एवमुक्त्वा दशग्रीवो मैथिलीं जनकात्मजाम् ।
कृतान्तवशमापन्नो ममेयमिति मन्यते ॥ ३७ ॥

इति पञ्चपञ्चाशः सर्गः ॥

^१ शून्याः—नीचाः (गो०) २ शुष्यमाणेन—अनङ्गेन तप्यमानेन । (गो०)

रावण, मृत्यु के वश हो कर सीता से इस प्रकार कह कर, अपने मन में समझ बैठा कि, सीता मेरो हो गयी ॥ ३७ ॥

अरण्यकागडे का पचपनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

षट् पञ्चाशः सर्गः

—*:—

सा तथोक्ता तु वैदेही निर्भया शोककर्तिता ।

तृणमन्तरतः कृत्वा रावणं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥

रावण द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर शोक से पीड़ित सीता जी ने, तिनके की आड़ कर, निर्भय हो, रावण से कहा ॥ १ ॥

राजा दशरथो नाम^१ धर्मसेतुरिवाचलः ।

सत्यसन्धः परिज्ञातो^२ यस्य पुत्रः स राघवः ॥ २ ॥

महाराज दशरथ जी, जो धर्म की अदल मर्यादा के स्थापन करने वाले थे और अपनी सत्यप्रतिज्ञा के लिये प्रसिद्ध थे, श्रीरामचन्द्र जी उन्हींके पुत्र हैं ॥ २ ॥

रामो नाम स धर्मात्मा त्रिषु लोकेषु विश्रुतः ।

दीर्घवाहुर्विशालाक्षो दैवतं हि पतिर्मम ॥ ३ ॥

वे श्रीरामचन्द्र भी धर्मात्मा के नाम से तीनों लोकों में विख्यात हैं । वे ही दीर्घवाहु और विशालाक्ष श्रीरामचन्द्र मेरे पति और देवता हैं ॥ ३ ॥

१ धर्मसेतुः—मर्यादास्थापकः । (गो०) २ परिज्ञातः—प्रसिद्धः । (गो०)

इक्ष्वाकूणां कुले जातः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा यस्ते प्राणान्हरिष्यति ॥ ४ ॥

वे इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हुए हैं, उनके सिंहों जैसे कंधे हैं और वे बड़े द्युतिमान् हैं। वे अपने भाई लक्ष्मण के सहित यहाँ आ कर अवश्य ही तेरा वध करेंगे ॥ ४ ॥

प्रत्यक्षं यद्यह तस्य त्वया स्यां धर्षिता वलात् ।

शयिता त्वं हतः संख्ये जनस्थाने यथा खरः ॥ ५ ॥

यदि कहीं उनकी उपस्थिति में तूने मुझे बलपूर्वक हरने का साहस किया होता तो तू आज युद्ध में मारा जा कर जनस्थान में खर की तरह भूमि पर पड़ा (अनन्त निन्द्रा में) सोता होता ॥ ५ ॥

य एते राक्षसाः प्रोक्ता घोररूपा महावलाः ।

राघवे निर्विषाः^१ सर्वे सुपर्णे पन्नगा यथा ॥ ६ ॥

तू जिन भयङ्कर महावली राक्षसों का बखान कर चुका है वे सब श्रीरामचन्द्र जी के सामने जाते ही उसी प्रकार निर्वीर्य (बलहीन) हो जायेंगे, जिस प्रकार गरुड़ के सामने जाने से बड़े बड़े विषधर सर्प विषहीन हो जाते हैं ॥ ६ ॥

तस्य ज्याविप्रमुक्तास्ते शराः काञ्चनभूषणाः ।

शरीरं विधमिष्यन्ति गङ्गाकूलमिवोर्मयः ॥ ७ ॥

श्रीराम के धनुष से छूटे हुए सुवर्णभूषित बाण राक्षसों के शरीर को उसी प्रकार वेद डालेंगे जिस प्रकार गङ्गा की लहरें किनारों को छव्वस्त कर डालती हैं ॥ ७ ॥

^१ निर्विषाः — निर्वीर्या इति राक्षसपक्षे । (गो०)

असुरैर्वा सुरैर्वा त्वं यद्यवध्योऽसि रावण ।

उत्पाद्य सुमहद्वैरं जीवंस्तस्य न मोक्ष्यसे ॥ ८ ॥

हे रावण ! यद्यपि तू देवताओं और दावनों से अवध्य है, तथापि श्रीरामचन्द्र से बैर बाँध तू जीता नहीं बच सकता ॥ ९ ॥

स ते जीवितशेषस्य राघवोऽन्तकरो बली ।

पशोर्युपगतस्येव जीवितं तव दुर्लभम् ॥ १० ॥

बलवान् श्रीरामचन्द्र जी ही तेरे बचे हुए जीवन का समय पूरा कर देंगे । यज्ञस्तम्भ में बँधे हुए पशु की तरह अब तेरा जीना दुर्लभ है ॥ ११ ॥

यदि पश्येत्स रामस्त्वां रोषदीप्तेन चक्षुषा ।

रक्षस्त्वमद्य निर्दिग्धो गच्छेः सद्यः पराभवम् ॥ १० ॥

यदि श्रीरामचन्द्र क्रोध से प्रज्वलित अपने नेत्रों से तुझे देख दें, तो हे राक्षस ! तू अभी भस्म हो कर पराभव को प्राप्त हो जाय ॥ १० ॥

यश्चन्द्रं नभसो भूमौ पातयेन्नाशयेत वा ।

सागरं शोषयेद्वापि स सीतां मोचयेदिह ॥ ११ ॥

जो श्रीरामचन्द्र आकाश से चन्द्रमा की भूमि पर गिरा या नष्ट कर सकते हैं और समुद्र का जल सुखा सकते हैं वे ही श्रीराम-चन्द्र सीता को यहां से छुड़ावेंगे ॥ ११ ॥

गतायुस्त्वं गतश्रीको गतसत्त्वो गतेन्द्रियः ।

लङ्का वैधव्यसंयुक्ता त्वत्कृतेन भविष्यति ॥ १२ ॥

तेरे किये हुए परदाराभिमर्शन रूपी पाप से तेरी आयु बीत चुकी । तेरी श्री नष्ट हो चुकी, तेरा बल नष्ट हो चुका और तेरी इन्द्रियाँ भी अपने अपने कामों से जबाव दे चुकीं । तेरी यह लड़ा भी अब शीघ्र ही विधवा होने वाली है ॥ १२ ॥

[पराई छो के साथ योग कर्म करने से सृष्टियों के अनुसार मनुष्य की आयु, उसका बल, यश और उसकी लक्ष्मी तुरन्त नष्ट हो जाती है । यथा आयुर्वलं यशो लक्ष्मीः परदाराभिमर्शनात् सद्यप्व विनश्यन्ति ।]

न ते पापमिदं कर्म सुखोदकं भविष्यति ।

याहं नीता विनाभावं^१ पतिपाश्वर्त्त्वया वने ॥ १३ ॥

तूने जो यह पापकर्म किया है, सो इसका परिणाम कभी सुख-दायी नहीं हो सकता । क्योंकि तूने वन में रहते हुए, मेरा वियोग मेरे पति से करवाया है ॥ १३ ॥

स हि दैवतसंयुक्तो मम भर्ता महाद्युतिः ।

निर्भयो वीर्यमाश्रित्य शून्ये वसति दण्डके ॥ १४ ॥

मेरे वह महाद्युतिमान् स्वामी अपने भाई लक्ष्मण के साथ केवल अपने पराक्रम से, निर्भय हो, निर्जन वन में वास करते हैं ॥ १४ ॥

स ते दर्पं बलं वीर्यमुत्सेकं च तथाविधम् ।

अपनेष्यति गात्रेभ्यः शरवर्षेण संयुगे ॥ १५ ॥

वह संग्राम में बाणों की वर्षा कर के तेरी देह से, तेरे अभिमान, बल और पराक्रम और मर्यादाहीन कर्म करने की तेरी प्रवृत्ति को दूर कर देंगे ॥ १५ ॥

यदा विनाशो भूतानां दृश्यते कालचोदितः ।

तदा कार्ये प्रमादन्ति नराः कालवशं गताः ॥ १६ ॥

मृत्यु के वश होने के कारण जब प्राणियों का नाश निकट आ जाता है, तब वे काल के वश हो कार्यों में प्रमाद करने लगते हैं ॥ १६ ॥

मां प्रधृष्ट्य स ते कालः प्राप्तोऽयं राक्षसाधम ।

आत्मनो राक्षसानां च वधायान्तःपुरस्य च ॥ १७ ॥

है राक्षसाधम ! मेरी धर्षणा से तेरी मौत निकट आ पहुँची है । अब तेरा, तेरे राक्षसों का और तेरे अन्तःपुरवासियों का वध होगा ॥ १७ ॥

न शक्या यज्ञमध्यस्था वेदिः स्वग्भाण्डमण्डिता ।

द्विजातिमन्त्रपूता च चण्डालेनाभिमर्शितुम् ॥ १८ ॥

जिस प्रकार सुवा तथा अन्य यज्ञपात्रों से भूषित और ब्राह्मणों से मन्त्र द्वारा पवित्र की हुई यज्ञवेदी चाण्डाल के छूने योग्य नहीं होती ॥ १८ ॥

तथाऽहं धर्मनित्यस्य धर्मपत्नी पतिव्रता ।

त्वया स्पृष्टुं न शक्याऽस्मि राक्षसाधम पापिना ॥ १९ ॥

उसी प्रकार उन धर्मतत्पर श्रीरामचन्द्र जी की पतिव्रता धर्म-पत्नी तुझ जैसे राक्षसाधम पापी के छूने योग्य नहीं है ॥ १९ ॥

क्रीडन्ती राजहंसेन पद्मषण्डेषु नित्यदा ।

हंसी सा तृणषण्डस्थं कथं पश्येत मदगुकम् ॥ २० ॥

राजहंस के साथ कमलों में सदा कीड़ा करने वाली हंसनी तृणों के बीच बैठे हुए जलकाक को कैसे देख सकती है ॥ २० ॥

इदं शरीरं निःसंज्ञं बन्ध वा खादयस्य वा ।

नेदं शरीरं रक्ष्यं पे जीवितं वापि राक्षस ॥ २१ ॥

हे राक्षस ! यह शरीर तो निश्चेष्ट है, चाहे तू इसे बाँध या मार । मुझे इस शरीर को न रखना है और न अपने प्राण ही बचाने हैं ॥ २१ ॥

न तु शक्ष्याम्युपक्रोशं^१ पृथिव्यां दातुमात्मनः ।

एवमुक्त्वा तु वैदेही क्रोधात्मुपरुषं वचः ॥ २२ ॥

रावणं मैथिली तत्र पुनर्नोवाच किञ्चन ।

सीताया वचनं श्रुत्वा परुषं रोमहर्षणम् ॥ २३ ॥

क्योंकि मैं इस पृथिवी पर अपना अपवाद करवाना नहीं चाहती । इस प्रकार वैदेही क्रोध में भर रावण से कठोर वचन कह कर, दुष हो गयी और फिर कुछ भी न बोली । सीता जी के ये रोमाञ्चकारी कठोर वचन सुन कर ॥ २२ ॥ २३ ॥

प्रत्युवाच ततः सीतां भयसंदर्शनं वचः ।

श्रृणु मैथिलि मद्वाक्यं मासान्द्रादश भामिनि ॥ २४ ॥

रावण, सीता को भय दिखलाता हुआ कहने लगा । हे सीते ! सुन, बारह महीने के भीतर ॥ २४ ॥

कालेनानेन नाभ्येषि यदि मां चारुहासिनि ।

ततस्त्वां प्रातराशार्थं सूदाश्छेत्स्यन्ति लेशशः ॥ २५ ॥

^१ उपक्रोशं — अपवादं । (गो ?)

चारुहासिनी (सुन्दर हँसी हँसने वाली) ! यदि तू मुझे स्वीकार न करेगी तो मेरे रसोइये, मेरे प्रातः कालीन भोजन (कलेवा) के लिये तेरे शरीर के टुकड़े टुकड़े कर डालेंगे ॥ २५ ॥

इत्युक्त्वा परुषं वाक्यं रावणः शत्रुरावणः ।

राक्षसीश्च ततः क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

शत्रु को रुलाने वाला रावण सीता से ऐसे कठोर, वचन कह कर कोध में भर राक्षसियों से यह वचन बोला ॥ २६ ॥

शीघ्रमेव हि राक्षस्यो विकृता घोरदर्शनाः ।

दर्पमस्या विनेष्यध्वं मांसशोणितभोजनाः ॥ २७ ॥

हे विकटरूपा ! हे भयङ्कर रूप वाली ! हे रक्त मांस खाने वाली राक्षसियों ! तुम सब इस सीता का गर्व दूर करो ॥ २७ ॥

वचनादेव तास्तस्य सुघोरा राक्षसीगणाः ।

कृतप्राञ्जलयो भूत्वा मैथिलीं पर्यवारयन् ॥ २८ ॥

भयङ्कर सूरत वाली राक्षसियों ने यह सुन तत्परण (रावण को) हाथ जोड़ और जो आझा कह, सीता जी को धेर लिया ॥ २८ ॥

स ताः प्रोवाच राजा तु रावणो घोरदर्शनः ।

प्रचालय चरणोत्कर्षैर्दारयन्निव येदिनीम् ॥ २९ ॥

यह देख, रावण मानों अपनी चाल से पृथिवी को कंपा और विदीर्ण करता हुआ, कुद्ध पग चल कर उन राक्षसियों से फिर कहने लगा ॥ २९ ॥

अशोकवनिकामध्ये मैथिली नीयतामियम् ।

तत्रेयं रक्ष्यतां गृहं युष्माभिः परिवारिता ॥ ३० ॥

इस सीता को तुम लोग अशोकवाटिका में ले जाओ और वहाँ
इसको घेर कर गृह भाव से सदा इसकी रखवाली किया करो ॥ ३० ॥

तत्रैनां तर्जनैघोरैः पुनः सान्त्वैश्च मैथिलीम् ।

आनयध्वं वशं सर्वा वन्यां गजवधूमित्र ॥ ३१ ॥

जंगली हथिनी जिस प्रकार वश में की जाती है उसी प्रकार तुम
सब भी खूब डरा धमका कर और फिर धीरज बँधा कर इसे मेरे
वश में करो ॥ ३१ ॥

इति प्रतिसमादिष्टा राक्षस्यो रावणेन ताः ।

अशोकवनिकां जग्मुमैथिलीं प्रतिगृहय तु ॥ ३२ ॥

जब रावण ने इस प्रकार उनको आङ्गा दी, तब वे राक्षसियाँ
सीता जी को अपने साथ ले, अशोकवाटिका में चली गयीं ॥ ३२ ॥

सर्वकालफलैर्वृक्षैर्नानापुष्पफलैर्वृताम् ।

सर्वकालमदैश्चापं द्विजैः समुपसेविताम् ॥ ३३ ॥

वह अशोकवाटिका ऐसे वृक्षों से युक्त थी, जिनमें सदैव फल
फला करते और तरह तरह के फूल फूला करते थे और जिन पर
सदा मतवाले हो भाँति भाँति के पक्षी रहा करते थे ॥ ३३ ॥

सा तु शोकपरीताङ्गी मैथिली जनकात्मजा ।

राक्षसीवशमापन्ना व्याघ्रीणां हरिणी यथा ॥ ३४ ॥

उस समय शोक से कर्षित और राज्ञसियों के पाले पड़ी हुई सीता की वही दशा थी जो दशा हिरनी की बाधिन के पाले पड़ने से हाती है ॥ ३४ ॥

शोकेन महता ग्रस्ता मैथिली जनकात्मजा ।

न शर्म लभते भीरुः पाशबद्धा मृगी यथा ॥ ३५ ॥

बड़े भारी शोक में पड़ी हुई जनकदुलारी मैथिली को फंदे में फंसी हुई हिरनी की तरह, अशोकवाटिका में ज़रा भी सुख न मिला ॥ ३५ ॥

न विन्दते तत्र तु शर्म मैथिली
विरूपनेत्राभिरतीव तर्जिता ।

पति स्मरन्ती दयितं च दैवतं

विचेतनाऽभूद्यशोकपीडिता ॥ ३६ ॥

इति षट्पञ्चाशः सर्गः ॥

विकट नेत्र वाली राज्ञसियों से डरायी धमकायी जाने के कारण अत्यन्त भयभीत हो, जानकी जी को कुछ भी आराम न मिला और अपने प्यारे पति और देवर को स्मरण करती हुई सीता जी अचेत सी हो गयी ॥ ३६ ॥

अरण्यकारड का कृष्णनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।



सतपञ्चाशः सर्गः

—*—

राक्षसं मृगरूपेण चरन्तं कामरूपिणम् ।

निहत्य रामो मारीचं तूर्णं पथि निवर्तते ॥ १ ॥

उस ओर श्रीरामचन्द्र जी मृग रूप धर कर विचरण करने वाले काम रूपी राक्षस मारीच को मार, शीघ्र ही आश्रम की ओर लौटे ॥ १ ॥

तस्य संत्वरमाणस्य द्रष्टुकामस्य मैथिलीम् ।

क्रूरस्वनोऽथ गोमायुर्विननादास्य पृष्ठतः ॥ २ ॥

जिस समय श्रीरामचन्द्र जी बड़ी शीघ्रता के साथ सीता जी को देखने के लिये लौट रहे थे, उस समय उनकी पीठ के पीछे शृगाल महाकठोर शब्द कर के चिल्डाने लगा ॥ २ ॥

स तस्य स्वरमाङ्गाय दारुणं रोमहर्षणम् ।

चिन्तयामास गोमायोः स्वरेण परिशङ्कितः ॥ ३ ॥

उस गीदड़ का वह रोमाञ्चकारी और दारुण शब्द सुन, श्रीरामचन्द्र जी के मन में शङ्का उत्पन्न हो गयी और वे चिन्तित हुए ॥ ३ ॥

अशुभं बत मन्येऽहं गोमायुर्वाश्यते यथा ।

स्वस्ति स्यादपि वैदेह्या राक्षसैर्भक्षणं विना ॥ ४ ॥

(मन ही मन) उन्होंने कहा जिस प्रकार का शब्द गीदड़ कर रहा है, इससे तो जान पड़ता है कि, कोई अशुभ होगा। कहीं राक्षसों ने सीता को खा न डाल हो। अब तो सीता को सकुशल देख कर ही मेरे जी में जी आवेगा ॥ ४ ॥

मारीचेन तु विज्ञाय स्वरमालम्ब्य मामकम् ।

विक्रुष्टं मृगरूपेण लक्ष्मणः श्रुण्याददि ॥ ५ ॥

मृगरूप धारी मारीच जो मेरी बोली बना लक्ष्मण और सीता का नाम ले पुकारा था, उसे यदि लक्ष्मण ने सुना होगा ॥ ५ ॥

स सौमित्रिः स्वरं श्रुत्वा तां च हित्वा च मैथिलीम् ।

तयैव प्रहितः क्षिप्रं मत्सकाशमिहैष्यति ॥ ६ ॥

तो लक्ष्मण उस पुकार को सुन और सीता जी द्वारा प्रेरित हो और सीता को छोड़, शीघ्र ही मेरे पास आवेंगे ॥ ६ ॥

राक्षसैः सहितैर्नूनं सीताया ईप्सितो वधः ।

काश्चनश्च मृगो भूत्वा व्यपनीयाश्रमात्तु माम् ॥ ७ ॥

मारीच सोने का मृग बन, मुझे आश्रम से इतनी दूर बहका लाया। इससे जान पड़ता है कि, राक्षस मिल कर, निश्चय ही सीता का वध करना चाहते हैं ॥ ७ ॥

दूरं नीत्वा तु मारीचो राक्षसोऽभूच्छराहतः ।

हा लक्ष्मण हतोऽस्मीति यद्वाक्यं व्याजहार च ॥ ८ ॥

आश्रम से मुझे इतनी दूर ले जा कर और मेरे बाण से घायल हो कर, उसका—‘हा लक्ष्मण ! मैं मारा गया कहना—(अवश्य राक्षसों के बड़यंत्र का सूचक है) ॥ ८ ॥

अपि स्वस्ति भवेत्ताभ्यां रहिताभ्यां महावने ।
जनस्थाननिमित्तं हि कृतवैरोऽस्मि राक्षसैः ॥ ९ ॥

इस महावन में मेरे वहाँ से चले आने पर उन दोनों का मङ्गल हो । जनस्थाननिवासी राक्षसों का बध करने के कारण अब तो राक्षसों से बैर बँध ही गया है ॥ ६ ॥

निमित्तानि च घोराणि दृश्यन्तेऽद्य बहूनि च ।
इत्येवं चिन्तयन्नरामः श्रुत्वा गोमायुनिःस्वनम् ॥ १० ॥

तिस पर मुझे बहुत से बड़े बुरे अशकुन दिखलाई पड़ते हैं । इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी मन ही मन सोचते विचारते और गीढ़ों का चीत्कार सुनते आश्रम की ओर लौटे ॥ १० ॥

आत्मनश्चापनयनान्मृगरूपेण रक्षसा ।
आजगाम जनस्थानं राघवः परिशङ्कितः ॥ ११ ॥

वे बार बार अपने मन में यही सोचते विचारते थे कि, देखो मृग रूपी राक्षस आश्रम से मुझे कितनी दूर ले आया ऐसा सोचते और शङ्कित होते श्रीरामचन्द्र जनस्थान में पहुँचे ॥ ११ ॥

तं दीनमनसो दीनमासेदुर्मृगपक्षिणः ।
सत्यं कृत्वा महात्मानं घोरांश्च ससृजुः स्वरान् ॥ १२ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी को उदास देख, सब मृग और पक्षी स्वयं उदास हो उनके पास गये और बाईं और से रास्ता काट कर, घोर शब्द करने लगे ॥ १२ ॥

तानि दृष्टा निमित्तानि महाघोराणि राघवः ।

न्यवर्तताथ १त्वरितो जवेना२श्रममात्मनः ॥ १३ ॥

श्रीरामचन्द्र इन महाभयङ्कर अपशकुनों को देख कर हड्डबड़ा कर, शीघ्रता पूर्वक अपने आश्रम को लौटने लगे ॥ १३ ॥

स तु सीतां वरारोहां लक्ष्मणं च महाबलम् ।

आजगाम जनस्थानं चिन्तयन्नेव राघवः ॥ १४ ॥

वे वरारोहा सीता और महाबली लक्ष्मण के लिये चिन्ता करते हुए जनस्थान में पहुँचे ॥ १४ ॥

ततो लक्ष्मणमायान्तं ददर्श विगतप्रभम् ।

ततोऽविदूरे रामेण समीयाय॒ स लक्ष्मणः ॥ १५ ॥

रास्ते में श्रीरामचन्द्र ने, उदास लक्ष्मण को अपनी ओर आते हुए देखा । जब लक्ष्मण निकट आ गये ॥ १५ ॥

विषणः सुविषणेन दुःखितो दुःखभागिना ।

सञ्जगर्हेऽथ तं भ्राता ज्येष्ठो लक्ष्मणमागतम् ॥ १६ ॥

विहाय सीतां विजने बने राक्षससेविते ।

गृहीत्वा च करं सव्यं लक्ष्मणं रघुनन्दनः ॥ १७ ॥

तब विषादित और दुःखित हो श्रीरामचन्द्र जी ने आये हुए लक्ष्मण जी की, जो विषाद युक्त और दुःखी हो रहे थे, उस निर्जन बन में सीता को अकेली छोड़ आने के लिये निन्दा की । श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण का बायाँ हाथ पकड़ कर ॥ १६ ॥ १७ ॥

१ त्वरितः—मानसिक्त्वरासहितः । (गो०) २ जवेन—कायिकत्वरथा । (गो०) ३ समीयाय—सङ्गतः । (गो०)

उवाच १मधुरोदक्षिणिदं पुरुषमार्तिमत् ।

अहो लक्ष्मण गर्ही ते कुतं यस्त्वं विहाय ताम् ॥ १८ ॥

सीतामिहागतः सौम्य कच्चित्स्वस्ति भवेदिह ।

न मेऽस्ति संशयो वीर सर्वथा जनकात्मजा ॥ १९ ॥

आर्त की तरह कुद्र कोमलता युक्त, कठोर बचन कहे—हे लक्ष्मण ! तुमने यह बहुत बुरा काम किया जो तुम उस सीता को अकेली क्लोइ यहाँ चले आये । हे सौम्य ! तुम्हारो इस करतूत से क्या सीता की भलाई होगी ? हे वीर ! मुझे तो इसमें रक्तो भर भी सन्देह नहीं है कि, सीता को ॥ १८ ॥ १९ ॥

विनष्टा भक्षिता वापि राक्षसैर्वनचारिभिः ।

अशुभान्येव भूयिष्टं यथा प्रादुर्भवन्ति मे ॥ २० ॥

वनचारी राक्षसों ने या तो मार डाला या खा डाला । क्योंकि ये सब अशकुन ऐसे हो रहे हैं ॥ २० ॥

अपि लक्ष्मण सीतायाः सामग्रं प्राप्नुयावहे ।

जीवन्त्याः* पुरुषव्याघ्र सुताया जनकस्य वै ॥ २१ ॥

कि हे लक्ष्मण ! हे पुरुष व्याघ्र ! मैं जनकदुलारी सीता को जीता और सकुशल देख सकूंगा कि नहीं ॥ २१ ॥

यथा वै मृगसङ्घाश्च गोमायुश्चैव भैरवम् ।

वाश्यन्ते शकुनाशापि प्रदीपामभितो दिशम् ।

अपि स्वस्ति भवेत्स्या राजपुत्र्या महाबल ॥ २२ ॥

१ मधुरोदक्ष—मधुरोत्तर । (म०)

* पाठान्तरे—“जीवन्त्यः”

हे महावली ! ये मृग समूह, गोदड और पक्षी सूर्य की ओर मुँह उठा पेसा शब्द कर रहे हैं, जिससे जान पड़ता है कि, राजपुत्री सीता के कुशल होने में सन्देह है ॥ २२ ॥

इदं हि रक्षो मृगसन्निकाशं
प्रलोभ्य मां दूरमनुप्रयातम् ।
हतं कथञ्चिन्महता श्रमेण
स राक्षसोऽभून्मियमाण एव ॥ २३ ॥

वह राक्षस जो मृग का रूप धर मुझे भुलावा दे आश्रम से बहुत दूर ले गया वह किसी प्रकार बड़े श्रम से मारा गया, मरते समय उसने निज राक्षस रूप धारण किया ॥ २३ ॥

मनश्च मे दीनमिहाप्रहृष्टं
चक्षुश्च सव्यं कुरुते विकारम् ।
असंशयं लक्ष्मण नास्ति सीता
हृता मृता वा पथि वर्तते वा ॥ २४ ॥
इति सप्तपञ्चाशः सर्गः ॥

हे लक्ष्मण ! इस समय मेरा मन बहुत उदास है और घबड़ा रहा है । वाई आंख भी फड़क रही है । हे लक्ष्मण ! निस्सन्देह सीता अब आश्रम में नहीं है । या तो कोई उसे हर कर ले गया, या वह मर गयी अथवा रास्ते में होगी ॥ २४ ॥

अररायकाण्ड का सत्तावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

अष्टपञ्चाशः सर्गः

—*—

स दृष्टा लक्ष्मणं दीनं शून्ये दशरथात्मजः ।
पर्यपृच्छत धर्मात्मा वैदेहीयागतं विना ॥ १ ॥

धर्मात्मा दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र ने उस निर्जनवन में लक्ष्मण को सीता के विना आया हुआ देख, उनसे पूछा ॥ १ ॥

प्रस्थितं दण्डकारण्यं या मामनुजगामह ।
क सा लक्ष्मण वैदेही यां हित्वा त्वमिहागतः ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण ! जो दण्डकारण्य में आते समय मेरे साथ आ रही थी और जिसे क्रोड तुम यहाँ आये हो, वह वैदेही कहाँ है ॥ २ ॥

राज्य भ्रष्टस्य दीनस्य दण्डकान्परिधावतः ।
क सा दुःखसहाया मे वैदेही तनुभृथ्यमा ॥ ३ ॥

राज्य से भ्रष्ट, दीन और दण्डकवन में घूमते हुए जो मेरे दुःख की साथिन है, वह क्तीण कटि वाली सीता कहाँ है ? ॥ ३ ॥

यां विना नोत्सहे वीर मुहूर्तमपि जीवितुम् ।
क सा प्राणसहाया मे सीता ॑सुरसुतोपमा ॥ ४ ॥

हे वीर ! जिसके बिना मैं त्रण भर भी जीता नहीं रह सकता वह मेरे प्राणों की आधार और देवस्त्री के समान सीता कहाँ है ? ॥ ४ ॥

पतित्वमराणां वा पृथिव्याश्चापि लक्ष्मण ।

तां विना तपनीयाभां नेच्छेयं जनकात्मजाम् ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं उस सुवर्ण-वर्ण जनकात्मजा के बिना, स्वर्ग राज्य या भूमण्डल का राज्य नहीं चाहता ॥ ५ ॥

कच्चिच्जीवति वैदेही प्राणैः प्रियतरा मम ।

कच्चिच्त्प्रव्राजनं सौम्य न मे मिथ्या भविष्यति ॥ ६ ॥

हे सौम्य ! मेरी प्राणों से भी अधिक प्यारी वैदेही क्या अभी तक जीवित है ? कहीं मेरी चौदह वर्ष बन में रहने की प्रतिज्ञा तो मिथ्या नहीं हो जायगी ? ॥ ६ ॥

सीतानिमित्तं सौमित्रे मृते मयि गते त्वयि ।

कच्चिच्त्सकामा सुखिता कैकेयी सा भविष्यति ॥ ७ ॥

हे लक्ष्मण ! सीता के पीछे मेरे प्राण त्यागने पर और तुम्हारे अयोध्या लौट कर जाने पर, क्या कैकेयी सफल मनोरथ और सुखी होगी ? ॥ ७ ॥

सपुत्रराज्यां सिद्धार्थां मृतपुत्रा तपस्त्विनी॒ ।

उपस्थास्यति कौसल्या कच्चिच्त्सौम्य न केकयीम् ॥८॥

१ तपनीयं—स्वर्ण । (गो०) २ तपस्त्विनी—शोध्या । (गो०) ३ वृत्ता—
परेता । (गो०)

हे सौम्य ! वापुरी कौशलया मृत-पुत्रा हो जाने पर, अपने पुत्र के राज्य पाने से हर्षित और सफल मनोरथ कैकेयी की टहल कभी न करेगी ॥ ८ ॥

यदि जीवित वैदेही गमिष्याम्याश्रमं पुनः ।

सुवृत्ता^१ यदि वृत्ता^२ सा प्राणांस्त्यक्ष्यामि लक्ष्मण ॥ ९ ॥

हे लक्ष्मण ! यहि सीता जीती होगी तो मैं आश्रम में जाऊँगा और यदि वह पतिव्रता जीवित न हुई तो मैं अपनी जान दे दूँगा ॥ ९ ॥

यदि मामाश्रमगतं वैदेही नाभिभाषते ।

पुनः प्रहसिता सीता विनशिष्यामि लक्ष्मण ॥ १० ॥

हे लक्ष्मण ! यदि आश्रम में जाने पर सीता पूर्ववत् हँस कर मुझसे बातचीत न करेगी तो मैं मर जाऊँगा ॥ १० ॥

ब्रूहि लक्ष्मण वैदेही यदि जीवति वा न वा ।

त्वयि प्रमत्ते रक्षोभिर्भक्षिता वा तपस्विनी ॥ ११ ॥

हे लक्ष्मण ! तुम सच सच मुझे बतलाओ कि, सीता जीती है कि नहीं ? अथवा रक्षा करने में तुम्हारी असावधानी होने के कारण राक्षसों ने उसे खा डाला ? ॥ ११ ॥

सुकुमारी च बाला च नित्यं चादुःखदर्शिनी ।

मद्वियोगेन वैदेही व्यक्तं शोचति दुर्मनाः ॥ १२ ॥

हे लक्ष्मण ! वह सुकुमारी और बाला सीता, जिसने दुःख कभी नहीं सहे, मेरे वियोग में उदास हो चिन्ताग्रस्त होगी ॥ १२ ॥

^१ सुवृत्ता—स्वाचारा । (गो०) ^२ वृत्ता—परेता । (गो०)

सर्वथा रक्षसा तेन जिह्वेन^१ सुदुरात्मना ।

वदता लक्ष्मणे त्युच्चैस्तवापि जनितं भयम् ॥ १३ ॥

अतिशय दुष्ट राक्षस मारीच ने उच्च स्वर से “हा लक्ष्मण मैं मारा गया” पुकार कर, तुमको धोखा दिया और तुम्हारे मन में भय उत्पन्न किया ॥ १३ ॥

श्रुतस्तु शङ्के वैदेह्या स स्वरः सद्शो मम ।

त्रस्तया प्रेषितस्त्वं च द्रष्टुं मां शीघ्रमागतः ॥ १४ ॥

सीता ने भी मेरे समान कणठस्वर को सुन कर और डर कर शङ्कित हो तुमको मेरे निकट भेजा और तुम भी मुझे देखने के लिये तुरन्त चले आये ॥ १४ ॥

सर्वथा तु कृतं कष्टं सीतामुत्सृजता वने ।

प्रतिकर्तुं नृशंसानां राक्षसां दत्तमन्तरम् ॥ १५ ॥

हे लक्ष्मण ! तुमने जानकी को वन में अकेली छोड़ कर अच्छा काम नहीं किया । तुमने यहाँ आ कर उन नृशंस राक्षसों को मुझसे बदला लेने का अवसर दिया ॥ १५ ॥

दुःखिताः खरधातेन राक्षसाः पिशिताशनाः ।

तैः सीता निहता घोरभिष्यति न संशयः ॥ १६ ॥

मेरे द्वारा खर के मारे जाने से माँसभोजी राक्षस गण दुःखित हैं । उन घोर राक्षसों ने अवश्य सीता को खा डाला होगा ॥ १६ ॥

अहोऽस्मिन्व्यसने मग्नः सर्वथा शत्रुसूदन ।

*किंनिवदानीं करिष्यामि शङ्के प्राप्तव्यमीदृशम् ॥१७॥

हे शत्रुसूदन लद्मण ! मैं तो बड़े सङ्कट में पड़ गया । मुझे तो अब इस बात की चिन्ता है कि, ऐसी विपत्ति पड़ने पर मैं क्या करूँगा ॥ १७ ॥

इति सीतां वरारोहां चिन्तयन्नेव राघवः ।

आजगाम जनस्थानं त्वरया सहलक्ष्मणः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी सुमुखी सीता के लिये चिन्ता करते हुए लद्मण जी के साथ शीघ्रता के साथ जनस्थान में पहुँचे ॥ १८ ॥

विगर्हमाणोऽनुजमार्तरूपं

क्षुधा श्रमाच्छैव पिपासया च ।

विनिःश्वसन्शुष्कमुखो विवर्णः

*प्रतिश्रयं प्राप्तसमीक्ष्य शून्यम् ॥ १९ ॥

भूख, प्यास और थकावट के मारे श्रीरामचन्द्र जी का मुख सूख गया और चेहरे की रंगत कीकी पड़ गयी थी । उन्होंने आर्त हो दीर्घ निश्वास त्याग कर, लद्मण जी के कर्म की निन्दा की और अपने आश्रम में पहुँच उसको सूना पड़ा पाया ॥ १९ ॥

स्वमाश्रमं सम्प्रविगाहय वीरो

विहारदेशाननुसृत्य कांशिचत् ।

१ प्रतिश्रयं—स्वाश्रमप्रदेश । (गो०)

* पाठान्तरे—“किन्त्वदानीं”, किंचेदानीं”

एतत्तदित्येव निवासभूमौ
प्रहृष्टरोमा व्यथितो वभूव ॥ २० ॥
इति अष्टपञ्चाशः सर्गः ॥

अपना आश्रम देख चुकने पर वीर श्रीरामचन्द्र सीता जी के कई एक विहारस्थलों में घूमे और ये सीता के विहारस्थल हैं यह बात याद आते ही उनका शरीर रोमाञ्चित हो गया और वे बहुत व्यथित हुए ॥ २० ॥

अरण्यकारड का अट्ठावनवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकोनषष्टितमः सर्गः

—*—

अथाश्रमादुपावृत्तमन्तरा^१ रघुनन्दनः ।
परिप्रच्छ सौमित्रिं रामो दुखार्दितं पुनः ॥ १ ॥

आश्रम को लौटते समय मार्ग में श्रीरामचन्द्र जी के पूँछने पर जब लक्ष्मण चुप रहे और कुछ न बोले तब फिर महादुःखी हो, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण से कहने लगे ॥ १ ॥

तमुवाच किमर्थं त्वमागतोपास्य मैथिलीम् ।
यदा सा तव विश्वासाद्वने विरहिता मया ॥ २ ॥

^१ अन्तरा—मध्येमार्गे । (गो०)

भाई ! मैंने तो तुम्हारे विश्वास पर सीता को बन में अकेले
छोड़ा था । सो तुम उसे अकेली छोड़ क्यों यहाँ चले आये ॥ २ ॥

दृष्ट्वैवाभ्यागतं त्वां मे मैथिलीं त्यज्य लक्ष्मण ।
शङ्कमानं महत्पापं यत्सत्यं व्यथितं मनः ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! सीता को छोड़, तुमको आते देख मेरा मन अनिष्ट
की शङ्का कर जो व्यथित हुआ था सो मेरी वह शङ्का सत्य ही सिद्ध
हुई ॥ ३ ॥

स्फुरते नयनं सव्यं बाहुश्च हृदयं च मे ।
दृष्ट्वा लक्ष्मण दूरे त्वां सीताविरहितं पथि ॥ ४ ॥

तुम को दूर ही से जानकी के बिना आते देख, मेरा बायाँ नेत्र,
बायी भुजा और हृदय का बाम भाग फड़कने लगा था ॥ ४ ॥

एवमुक्तस्तु सौमित्रिलक्ष्मणः शुभलक्षणः ।
भूयो दुःखसमाविष्टो दुःखितं राममब्रवीत् ॥ ५ ॥

शुभ लक्षणों से युक्त लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी के ये बचन
सुन पुनः अत्यन्त दुःखी हुए और दुःखी हो श्रीरामचन्द्र जी से
बोले ॥ ५ ॥

न स्वयं कामकारेण तां त्यक्त्वाहमिहागतः ।
प्रचोदितस्तयैवोग्रैस्त्वत्सकाशमिहागतः ॥ ६ ॥

मैं अपनी इच्छा से जानकी को छोड़ यहाँ नहीं आया, बल्कि
उनके उग्र बचन कहने पर ही मैं आपके पास आया हूँ ॥ ६ ॥

आर्येण व पराक्रुष्टं हा सीते लक्ष्मणोति च ।

परित्राहीति यद्वाक्यं मैथिल्यास्तच्छ्रुतिं गतम् ॥ ७ ॥

आप ही ने तो “हा लक्ष्मण” और “हा सीता मुझे बचाओ” उच्चस्वर से कहा था । आपका यह उच्चस्वर से कहा हुआ वाक्य जानकी जी के कान तक पहुँचा ॥ ७ ॥

सा तर्मार्तस्वरं श्रुत्वा तब स्नेहेन मैथिली ।

गच्छ गच्छेति मामाह रुदन्ती भयविहला ॥ ८ ॥

आपके इस श्रार्त स्वर को सुन आपकी प्रीति के कारण राती और भयभीत हुई सीता ने मुझसे “शीघ्र जाओ, शीघ्र जाओ” कहा ॥ ८ ॥

प्रचोद्यमानेन मया गच्छेति बहुशस्तया ।

प्रत्युक्ता मैथिली वाक्यमिदं त्वत्पत्ययान्वितम् ॥ ९ ॥

जब सीता ने कितनी ही बार मुझसे जाने को कहा, तब मैंने आपके सम्बन्ध में उनको विश्वास कराने के लिये यह कहा ॥ ९ ॥

न तत्पश्याम्यहं रक्षो यदस्य भयमावहेत् ।

निर्वृता भव नास्त्येतत्केनाप्येवमुदाहृतम् ॥ १० ॥

मुझे कोई ऐसा राक्षस नहीं देख पड़ता जो श्रीरामचन्द्र जी को भयभीत कर सके । अतः तुम चिन्ता मत करो । यह श्रीरामचन्द्र जी का नहीं बल्कि किसी दूसरे का बनावटी शब्द है ॥ १० ॥

विगर्हितं च नीचं च कथमार्योऽभिधास्यति ।

त्राहीति वचनं सीते यस्तायेत्रिदशानपि ॥ ११ ॥

हे सोते ! जो श्रीरामचन्द्र जी देवताओं की रक्षा करने में समर्थ हैं, वे ही श्रीरामचन्द्र—“मुझे बचाओ” ऐसा निन्द्य और तुच्छ बचन कैसे कह सकते हैं ॥ ११ ॥

किंनिमित्तं तु केनापि भ्रातुरालम्ब्य मे स्वरम् ।
राक्षसेनेरितं वाक्यं त्राहि त्राहीति शोभने ॥ १२ ॥

हे शोभने ! किसी राक्षस ने किसी दुष्ट अभिप्राय से मेरे भाई के कण्ठस्वर का अनुकरण कर कहा होगा कि, “मुझे बचाओ मुझे बचाओ” ॥ १२ ॥

१विस्वरं व्याहृतं वाक्यं लक्ष्मण त्राहि मामिति ।
न भवत्या व्यथा कार्या कुनारीजनसेविता ॥ १३ ॥

“हे लक्ष्मण ! मुझे बचाओ ।” इस वाक्य को कहने वाले के कण्ठस्वर की विशेष विवेचना करने पर यह श्रीरामचन्द्र का कहा हुआ वाक्य नहीं जान पड़ता । अतः निन्द्य खियों की तरह आपको इसके लिये दुःखी न होना चाहिये ॥ १३ ॥

अलं वैकल्यव्यमालम्ब्य स्वस्था भव निरुत्सुका ।
न सोऽस्ति त्रिषु लोकेषु पुमान्वै राघवं रणे ॥ १४ ॥

व्याकुल होने की आवश्यकता नहीं । अतः तुम अब स्वस्थ हो जाओ । क्योंकि तीनों लोकों में ऐसा कोई पुरुष नहीं जो श्रीरामचन्द्र के सामने युद्ध में खड़ा रह सके ॥ १४ ॥

जातो वा जायमानो वा संयुगे यः पराजयेत् ।
न जय्यो राघवो युद्धे देवैः शक्रपुरोगमैः ॥ १५ ॥

जो युद्ध में, श्रीराम को पराजित करे—ऐसा न तो कोई उत्पन्न हुआ और न आगे ही कोई उत्पन्न होगा। इन्द्रादि देवताओं में भी यह शक्ति नहीं कि, वे श्रीरामचन्द्र को युद्ध में जीत सकें ॥ १५ ॥

एवमुक्ता तु वैदेही परिमोहितचेतना^१ ।
उवाचाश्रूणि मुञ्चन्ती दारुणं मामिदं वचः ॥ १६ ॥

ऐसा कहने पर भी, कल्पित बुद्धि होने के कारण, आँसू बहाते हुए सीता जी ने मुझसे ये कठोर वचन कहे ॥ १६ ॥

भावो मयि तवात्यर्थं पाप एव निवेशितः ।
विनष्टे भ्रातरिं प्राप्तुं न च त्वं मामवाप्स्यसि ॥ १७ ॥

मेरे ऊपर तुम्हारी नियत डिग गयी है, पर याद रखो, श्रीरामचन्द्र जी के मारे जाने पर भी तुम मुझे न पा सकोगे ॥ १७ ॥

सङ्केताद्वरतेन त्वं रामं समनुगच्छसि ।
क्रोशन्तं हि यथात्यर्थं नैवमध्यवपद्यसे ॥ १८ ॥

तुम भरत के इशारे से श्रीरामचन्द्र के साथ आये हो। इसीसे तो श्रीरामचन्द्र जी के बुलाने पर भी तुम, सहायतार्थ उनके पास नहीं जाते ॥ १८ ॥

रिपुः प्रच्छन्नचारी त्वं मदर्थमनुगच्छसि ।
राघवस्यान्तरप्रेषुस्तथैनं नाभिपद्यसे ॥ १९ ॥

^१ परिमोहितचेतना—कल्पितबुद्धिः । (गो०)

तुम गुप्त शत्रु हो अथवा मित्ररूपी शत्रु हो और मेरे लिये ही श्रीराम के साथ आये हो । तुम सदा अवसर हृदते हो कि, कब श्रीरामचन्द्र जी कहीं जायँ और मैं सीता को हथियाऊँ । इसी से तो तुम श्रीराम की सहायता के लिये नहीं जाते ॥ १६ ॥

एवमुक्तो हि वैदेह्या संरब्धो रक्तलोचनः ।
क्रोधात्प्रस्फुरमाणोष्ट आश्रमादभिनिर्गतः ॥ २० ॥

जब जानकी जी ने मुझसे इस प्रकार कहा, तब मुझे क्रोध आ गया और मारे क्रोध के मेरे नेत्र लाल हो गये और ओंठ फड़कने लगे । मैं आश्रम के बाहिर चला आया ॥ २० ॥

एवं ब्रुवाणं सौमित्रिं रामः सन्तापमोहितः ।
अब्रवीददुष्कृतं सौम्य तां विना यत्त्वमागतः ॥ २१ ॥

लक्ष्मण के ऐसा कहने पर, सन्तस श्रीरामचन्द्र जी ने कहा—हे सौम्य ! तुम जो जानकी को छोड़, चल खड़े हुए, सो तुमने बहुत ही बुरा काम किया ॥ २१ ॥

जानन्वपि समर्थं मां राक्षसां विनिवारणे ।
अनेन क्रोधवाक्येन मैथिल्या निःसृतो भवान् ॥ २२ ॥

आप तो यह जानते ही थे कि, राम राक्षसों को मारने में समर्थ हैं, फिर क्यों मैथिली के कठोर वचन सुन आप चल खड़े हुए ॥ २२ ॥

न हि ते परितुष्यामि त्यक्त्वा यद्यासि मैथिलीम् ।
*क्रुद्धायाः परुषं वाक्यं श्रुत्वा यत्त्वमिहागतः ॥ २३ ॥

* पाठान्तरे—“क्रुद्धायाः परुषं श्रुत्वा स्थियाश्रत्वमिहागतः ।”

हे लक्ष्मण ! तुम सीता को छोड़ कर चल खड़े हुए—इस बात से मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न नहीं हूँ । क्योंकि तुम कुद्ध खी का कठोर बचन सुन यहाँ चले आये ॥ २३ ॥

सर्वथा त्वपनीतं ते सीतया यत्प्रचोदितः ।

क्रोधस्य वशमापन्नो नाकरोः शासनं मम ॥ २४ ॥

तुमने यह काम सर्वथा अनुचित किया जो सीता के कहने पर कुद्ध हो, मेरी आङ्गा की अवज्ञा की ॥ २४ ॥

असौ हि राक्षसः शेते शरेणाभिहतो मया ।

मृगरूपेण येनाहमाश्रमादपवाहितः ॥ २५ ॥

देखो यह राक्षस मेरे बाण से धायल हो मरा पड़ा है । यह वही है जो मृग का रूप धारण कर मुझे आश्रम से दूर ले आया है ॥ २५ ॥

विकृष्य चापं परिधाय सायकं

सलीलबाणेन च ताढितो मया ।

मार्गी तनुं त्यज्य स विकलबस्वरो

वभूव केयूरधरः स राक्षसः ॥ २६ ॥

मैंने धनुष खींच और उस पर बाण रख साधारण रीति से उसे चला जब एक ही बाण उसके मारा, तब वह बनावटी हिरन का शरीर छोड़, आर्तस्वर करता हुआ केयूरधारी राक्षस हो गया ॥ २६ ॥

शराहतेनैव तदार्तया गिरा

स्वरं ममालम्ब्य सुदूरसंश्रवम् ।

उदाहृतं तद्वचनं सुदारुणं
त्वमागतो येन विहाय मैथिलीम् ॥ २७ ॥
इति एकोनषष्ठितमः सर्गः

जब वह तोर से धायल हुआ, तब दूर तक सुनाई पड़े इतने
उच्च कण्ठ से, आर्तनाद कर उसने मेरे कण्ठस्वर का अनुकरण
कर वह अत्यन्त दारुण वाक्य कहा, जिसे सुन तुम वैदेही को छोड़
यहाँ चले आये ॥ २७ ॥

अरण्यकाण्ड का उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

षष्ठितमः सर्गः

—*—

भृशमात्रजमानस्य^१ तस्याधोवामलोचनम् ।
प्रासफुरच्चासखलद्रामो वेष्युश्चाप्यजायत ॥ १ ॥

मारीच का बध कर आश्रम को आते समय श्रीरामचन्द्र जी के
वाम नेत्र का नीचे का भाग बार बार फड़का, और चलने में
अकस्मात् पैर फिसल गया और शरीर कांपने लगा ॥ १ ॥

[नोट—प्रसिद्ध है कि—

“प्रयाणकालेसखलनं करोतीष्टस्य भञ्जनं”

अर्थात् यात्रा के समय पैर का फिसलना (अथवा हाथ की छड़ी का गिर कर
टूट जाना) अशकुन माना गया है और इसका कल यह है कि, जिस कार्य के
लिये जाय वह कार्य सिद्ध न हो ।]

^१ आवजमानस्य—आगच्छतः । (गो०) २ वेष्युः—कम्पः । (गो०)

उपालक्ष्य निमित्तानि सोऽशुभानि मुहुर्मुहुः ।
अपि क्षेमं नु सीताया इति वै व्याजहार च ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी इन शशकुनों को देख कहने लगे कि, जाने सीता सकुशल है कि, नहीं ॥ २ ॥

त्वरमाणो जगामाथ सीतादर्शनलालसः ।
शून्यमावसथं^१ दृष्टा वभूवोद्विग्रमानसः ॥ ३ ॥

सीता को देखने की अभिलाषा से शोब्र शोब्र चल जब श्रीराम-चन्द्र और लक्ष्मण आश्रम में पहुँचे तब देखा कि भवन सूना पड़ा है । आश्रम को सूना देख वे बहुत घबड़ाये ॥ ३ ॥

उद्भ्रमन्निव वेगेन विक्षिपनरघुनन्दनः ।
तत्र तत्रोट्जस्थानमभिवीक्ष्य समन्ततः ॥ ४ ॥

वे उद्भ्रान्त मनुष्य की तरह हाथों को झटकारते पर्णशाला के भीतर गये और वहाँ चारों ओर धूम फिर कर सीता को खोजा ॥४॥

ददर्श पर्णशालां च रहितां सीतया तदा ।
श्रिया विरहितां ध्वस्तां हेमन्ते पद्मिनोमिव ॥ ५ ॥

उस समय श्रीरामचन्द्र जी ने पर्णशाला को सीता जी के वहाँ न होने से, उसी प्रकार शोभाहीन पाया, जिस प्रकार हेमन्त ऋतु में कमलनी ध्वस्त होने के कारण शोभाहीन हो जाती है ॥ ५ ॥

रुदन्तमिव वृक्षैश्च म्लानपुष्पमृगद्विजम् ।
श्रिया विहीनं विध्वस्तं सन्त्यक्तवनदेवतम् ॥ ६ ॥

^१ आवसथं — गृहं । (गो०)

उस समय उस आश्रम के बृन्ज मानों रो रहे थे, फूल कुम्हलाये हुए थे और मृग तथा पक्षी उदास हो रहे थे। वनदेवता उस आश्रम को ध्वस्त और शोभाहीन देख, उसे त्याग कर चल दिये थे ॥ ६ ॥

विप्रकीर्णजिनकुशं विप्रविद्भृसीकटम् ।

दृष्ट्वा शून्यं निजस्थानं विललाप पुनः पुनः ॥ ७ ॥

उस आश्रम में मृगचर्म और कुश इधर उधर पड़े हुए थे। आसन और चटाई इधर उधर फैंकी हुईं पड़ी हुईं थीं। अपने आश्रम को सूना देख, श्रीरामचन्द्र जी बार बार विलाप कर रहे थे ॥ ७ ॥

हृता मृता वा नष्टा^१ वा भक्षिता वा भविष्यति ।

निलीनाप्यथ वा भीरुरथवा वनमाश्रिता ॥ ८ ॥

वे कह रहे थे कि, क्या सीता को कोई हर ले गया या वह मर गई या अपने आप अन्तर्धान हो गयी अथवा किसी ने उसे मार कर खा डाला, अथवा विनोद के लिये वह यह कर रही है अथवा डर-पोंक होने के कारण कहीं ढ्रिप रही है अथवा वन में चली गयी है ॥ ८ ॥

गता विचेतुं पुष्पाणि फलान्यपि च वा पुनः ।

अथवा पद्मिनीं याता जलार्थं वा नदीं गता ॥ ९ ॥

अथवा कहीं फूल चुनने और फल लाने को वन में गयी है अथवा जल लाने के लिये किसी सरोवर या नदी पर गयी है ॥ ९ ॥

१ नष्टा—याद्विच्छिकमर्शनं गता । (गो०) २ निलीना—विनोदाय व्यवहिता । (गो०)

यनान्मृगयमाणस्तु नाससाद वने प्रियाम् ।

शोकरक्तेक्षणः शोकादुन्मत्त इव लक्ष्यते ॥ १० ॥

जब श्रीरामचन्द्र जो ने यत्त पूर्वक हँडने पर भी उस वन में अपनी प्यारी सीता को कहीं न पाया, तब शोक के मारं उनकी आँखें लाज हो गईं और मारे शोक के बे उन्मत्त की तरह हो गये ॥ १० ॥

वृक्षादृक्षं प्रधावन्स गिरेशादिं नदान्नदीम् ।

बभूव विलपन्रायः शोकपङ्कार्णवाप्लुतः ॥ ११ ॥

श्रीरामचन्द्र जी शोक रूपो कीचड़ के समुद्र में छूब कर एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक, एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ तक और एक नदी से दूसरी नदी तक विलाप करते हुए दौड़ते फिरते थे ॥ ११ ॥

अपि कञ्चित्त्वया दृष्टा सा कदम्बप्रिया प्रिया ।

कदम्ब यदि जानीषे शंस सीतां शुभाननाम् ॥ १२ ॥

(वे विलाप करके कहते थे) हे कदंब वृक्ष ! तुम्हारे फूलों पर विशेष अनुराग रखने वाली मेरी प्रिया शुभानना सीता का पता यदि तुम्हें मालूम हो तो बतलाओ ॥ १२ ॥

स्निग्धपल्लवसङ्काशा पीतकौशेयवासिनी ।

शंसस्व यदि वा दृष्टा विल्व विल्वोपमस्तनी ॥ १३ ॥

हे विल्व वृक्ष ! उस विल्व-फल-सदूश स्तन वाली, पल्लव समान कान्ति युक्त, पीली रेशमी साढ़ी पहिने हुए सीता को, यदि तुमने देखा हो तो मुझे बतलाओ ॥ १३ ॥

अथवाऽर्जुन शंस त्वं प्रियां तामर्जुनप्रियाम् ।

जनकस्य सुता भीरुर्यदि जीवति वा न वा ॥ १४ ॥

अथवा हे अर्जुन वृक्ष ! मेरी प्यारी सीता तुमको बहुत चाहती थी, सो वह जनकदुलारी और डरपोंक जानकी जीवित है कि नहीं-सो बतलाओ ॥ १४ ॥

ककुभः ककुभोरुं तां व्यक्तं जानाति मैथिलीम् ।

यथा पल्लवपुष्पादयो भाति ह्वेष वनस्पतिः ॥ १५ ॥

यह ककुभ का पेड़, ककुभ के समान जाधों वाली सीता को निश्चय ही जानता होगा । क्योंकि यह वनस्पति, लता, पत्ते और पुष्पों से कैसा लदा हुआ है ? ॥ १५ ॥

भ्रमरैरुपगीतश्च यथा द्रुमवरो हययम् ।

एष व्यक्तं विजानाति तिलकस्तिलकप्रियाम् ॥ १६ ॥

यह तिलक-वृक्ष तो तिलक-वृक्ष-प्रिय सीता का पता अवश्य जानता होगा; देखो इस वृक्ष श्रेष्ठ तिलक वृक्ष के ऊपर भौंरे कैसे गूंज रहे हैं ॥ १६ ॥

अशोक शोकापनुद शोकोपहतचेतसम् ।

त्वन्नामानं कुरु क्षिप्रं प्रियासन्दर्शनेन माम् ॥ १७ ॥

हे अशोक वृक्ष ! तुम शोक के नाश करने वाले हो । अतः तुम शोक से हतचित्त मुझको शीघ्र मेरी प्रिया से मिला कर, मुझे अपने जैसे नाम वाला (अर्थात् अशोक - शोकरहित) कर दो ॥ १७ ॥

यदि ताल त्वया दृष्टा पक्तालफलस्तनी ।
कथयस्व वरारोहां कारुण्यं यदि ते मयि ॥ १८ ॥

हे ताल वृक्ष ! यदि तुमने पके हुए ताल फल के आकर सदूश स्तनवाली सीता को देखा हो और मेरे ऊपर तुम ज़रा भी दया करते हो, तो मुझे बतलाओ कि, वह वरारोहा सीता कहाँ है ? ॥ १८ ॥

यदि दृष्टा त्वया सीता जम्बु जाम्बूनदप्रभाः ।
प्रियां यदि विजानीषे निःसङ्कं कथयस्व मे ॥ १९ ॥

हे जामुन वृक्ष ! यदि सुवर्ण समान प्रभावाली मेरी प्रिया को तुमने देखा हो तो निःसङ्कोच हो बतला दो ॥ १९ ॥

अहो त्वं कर्णिकाराद्य सुपुष्पैः शोभसे भृशम् ।
कर्णिकारप्रिया साध्वी शंस दृष्टा प्रिया यदि ॥ २० ॥

हे कार्णिकार ! आज तो तुम पुष्पों से पुष्पित हो अत्यन्त शोभित हो रहे हो । यदि तुमने मेरी पतिव्रता सीता को देखा हो तो, मुझे बतला दो ॥ २० ॥

चूतनीपमहासालान्पनसान्कुरवान्धवान् ।
दाढिमानसनान्गत्वा दृष्टा रामो महायशाः ॥ २१ ॥
मलिलका माधवीश्वैव चम्पकान्केतकीस्तथा ।
पृच्छन्नरामो वने भ्रान्त उन्मत्त इव लक्ष्यते ॥ २२ ॥

इसी प्रकार महायशस्वी श्रीरामचन्द्र, आम, कदंब बड़े बड़े साखू, कटहर, कुरट, अनार, मौलसिरी, नागकेसर, चंपा और

पाठान्तरे—“जम्बुफलोपमाम्” ।

केतकी के वृक्षों के पास जा उनसे पूँछते हुए उन्मत्त की तरह वन में देख पड़ते थे ॥ २१ ॥ २२ ॥

अथवा मृगशावाक्षीं मृग जानासि मैथिलीम् ।

मृगविप्रेक्षणी कान्ता मृगीभिः सहिता भवेत् ॥ २३ ॥

(केवल वृक्षों ही से नहीं श्रीरामचन्द्र जी ने सीता का हाल वन के पशुओं से भी पूँछा । वे मृगों से बोले) —हे मृगों ! क्या तुम उस मृगनयनी सीता का कुछ हाल जानते हो । अवश्य मृगों की तरह देखने वाली मेरी कान्ता हिरनियों के साथ होगी ॥ २३ ॥

गज सा गजनासोर्घ्यदि दृष्टा त्वया भवेत् ।

तां मन्ये विदितां तुभ्यमाख्याहि वरवारण ॥ २४ ॥

हे गजेन्द्र ! तुम्हारी सूँड के समान आकार की जाधों वाली सीता की क्या तुमने कहीं देखा है ? मैं तो समझता हूँ तुम उसका पता अवश्य जानते हो—सो तुम उसका पता मुझे बतलाओ ॥ २४ ॥

शार्दूल यदि सा दृष्टा प्रिया चन्द्रनिभानना ।

मैथिली मम विस्तब्धं कथयस्व न ते भयम् ॥ २५ ॥

हे शार्दूल ! यदि चन्द्राननी मेरी प्यारी मैथिली तुम्हारी जान में कहीं हो, तो मुझ पर विश्वास कर और निर्भय हो मुझे बतला दो ॥ २५ ॥

किं धावसि प्रिये *दूरं दृष्टासि कमलेक्षणे ।

वृक्षैराच्छाद्य चात्मानं किं मां न प्रतिधाषसे ॥ २६ ॥

* पाठान्तरे—“नूनं”, “मेऽव्य”

हे कमलेक्षण ! मैंने तुम्हें देख लिया । अब तुम क्यों दूर भागी जाती हो । बृक्षों की आड़ में क्यों छिपती हो । मुझसे बातचीत क्यों नहीं करती ? ॥ २६ ॥

तिष्ठतिष्ठ वरारोहे न तेऽस्ति करुणा मयि ।
नात्यर्थं हास्यशीलाऽसि किमर्थं मामुपेक्षसे ॥ २७ ॥

हे वरारोहे ! खड़ी रह, खड़ी रह । क्या तुझको मेरे ऊपर दया नहीं आती । तेरा तो स्वभाव इतना हास्यप्रिय नहीं था, फिर तू क्यों मेरी ऐसी उपेक्षा कर रही है ॥ २७ ॥

पीतकौशेयकेनासि सुचिता वरवर्णिनि ।
धावन्त्यपि मया दृष्टा तिष्ठ यद्यस्ति सौहृदम् ॥ २८ ॥

हे वरवर्णिनी (सुन्दर वर्ण धारिणी) ! तेरी पीली साढ़ी से मैंने तुझको पहचान लिया और दौड़ती हुई तुझे देख लिया । यदि तू मेरी हितैषिणी हो तो अब खड़ी रह ॥ २८ ॥

नैव सा नूनमथवा हिंसिता चारुहासिनी ।
कुच्छुं प्राप्तं न मां नूनं यथोपेक्षितुर्महति ॥ २९ ॥

अथवा हे चारुहासिनी ! मैंने जिसको देखा है वह तुम नहीं हो । तुमको तो अवश्य ही किसी ने मार डाला । यदि ऐसा न होता तो मुझे इस दारुण दुःख में पटक सीता मेरी उपेक्षा न करती ॥ २९ ॥

व्यक्तं सा भक्षिता बाला राक्षसैः पिशिताशनैः ।
विभज्याङ्गानि सर्वाणि मया विरहिता प्रिया ॥ ३० ॥

अवश्य ही मांस खाने वाले राज्ञसों ने मेरी अनुपस्थिति में मेरी प्रिया के अंगों के टुकड़े टुकड़े करके उसे खा डाला ॥ ३० ॥

नूनं तच्छुभदन्तोष्ठं सुनासं चारुकुण्डलम् ।

पूर्णचन्द्रमिव ग्रस्तं मुखं निष्प्रभतां गतम् ॥ ३१ ॥

ओहो ! उसका वह पूर्णमासी के चन्द्रमा के तुल्य मुख, जो सुन्दर दाँतों और ओंठों से युक्त तथा सुन्दर नासिका से शोभित एवं कुण्डलों से भूषित था, राज्ञसों द्वारा ग्रस्त होने पर निश्चय ही प्रभाहीन^१ अर्थात् फीका पड़ गया होगा ॥ ३१ ॥

सा हि चम्पकवर्णाभा ग्रीवा ग्रैवेयशोभिता ।

कोमला विलपन्त्यास्तु कान्ताया भक्षिता शुभा ॥ ३२ ॥

हा ! उस विलाप करती हुई चम्पकवर्णी की, हार पचलड़ी आदि आभूषणों से शोभित, कोमल एवं सुन्दरी ग्रीवा, राज्ञसों ने काट कर खा डाली होगी ॥ ३२ ॥

नूनं विक्षिप्यमाणौ तौ बाहू पल्लवकोमलौ ।

भक्षितौ वेपमानाग्रौ सहस्ताभरणाङ्गदौ ॥ ३३ ॥

नवीन पत्तों की तरह कोमल और हाथों में पहनने योग्य आभूषणों से भूषित, उसकी दृटपटाती हुई देनें भुजाओं को राज्ञसों ने खा डाला होगा ॥ ३३ ॥

मया विरहिता बाला रक्षसां भक्षणाय वै ।

^१ सार्थेनेव परित्यक्ता भक्षिता बहुबान्धवा ॥ ३४ ॥

राज्ञसों द्वारा खाये जाने के लिये ही वह मुझसे अलहदा हुई,
जैसे पथिकों के समूह से बिछुड़ी हुई थी, अनेक भाई बंदों के रहने
पर भी—नष्ट हो जाती है ॥ ३४ ॥

हा लक्ष्मण महाबाहो पश्यसि त्वं प्रियां कचित् ।

हा प्रिये क गता भद्रे हा सीतेति पुनः पुनः ॥ ३५ ॥

इत्येवं विलपनरामः परिधावन्वनाद्वन्म् ।

कवचिदुद्भ्रमते वेगात्कवचिद्विभ्रमते^१ वलात् ॥ ३६ ॥

हा महाबाहो ! हा लक्ष्मण ! क्या तुम्हें मेरी प्यारी कहाँ देख पड़ती
है ? हा भद्रे ! हा सीते ! तुम कहाँ चली गयीं ? इस प्रकार श्रीरामचन्द्र
बार बार विलाप करते हुए वन में इधर उधर दौड़ते फिरते थे ।
कभी दौड़ते दौड़ते बे गिर पड़ते और कभी हवा के बबंदर की तरह
चक्कर काटने लगते थे ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

कवचिन्मत्त इवाभाति कान्तान्वेषणतत्परः ।

स वनानि नदीः शैलान्गिरिप्रस्तवणानि च ।

काननानि च वेगेन भ्रमत्यपरिसंस्थितः ॥ ३७ ॥

कभी श्रीरामचन्द्र जी उन्मत की तरह देख पड़ते थे । कभी कभी
वे सीता जी को ढूढ़ते हुए वेग सहित नदी, पहाड़, झरने, और वनों
में घूम फिर रहे थे ॥ ३७ ॥

तथा स गत्वा विपुलं महद्वनं

परीत्य सर्वं त्वथ मैथिलीं प्रति ।

^१ विभ्रमते—वात्येव भ्रमणं प्राप्नोति । (शि०)

‘अनिष्टिताशः स चकार मार्गणे

पुनः प्रियायाः परमं परिश्रमम् ॥ ३८ ॥

इति षष्टितमः सर्गः ॥

सीता के मिलने की पूर्ण आशा रख, अथवा सीता के मिलने की आशा को परित्याग न कर, श्रीरामचन्द्र उस विशाल बन में बराबर श्रमण करते हुए बार बार सीता को खोजने का श्रम उठाने लगे। अथवा आशा परित्याग न करके श्रीरामचन्द्र जी बार बार बड़े परिश्रम के साथ उस विशाल बन में शून्य कर सीता को खोज रहे थे ॥ ३८ ॥

अरण्यकाण्ड का साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकषष्टितमः सर्गः

—;*;—

दृष्टाऽश्रमपदं शून्यं रामो दशरथात्मजः ।

रहितां पर्णशालां च विध्वस्तान्यासनानि च ॥ १ ॥

इस प्रकार सारा बन मझा श्रीरामचन्द्र जी किर अपने आश्रम में आये। तब भी उन्होंने देखा कि, आश्रम सूना पड़ा है और आसन चटाई आदि भी इधर उधर पड़ी हैं ॥ १ ॥

अदृष्टा तत्र वैदेहीं सन्निरीक्ष्य च सर्वशः ।

उवाच रामः प्राकृश्य प्रगृह्ण रुचिरौ भुजौ ॥ २ ॥

सर्वत्र खोजने पर भी सीता को न देख, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण
की दोनों सुन्दर झुजाओं को पकड़ उहस्तर से बोले ॥ २ ॥

क्व नु लक्ष्मण वैदेही कं वा देशमितो गता ।

केनाहृता वा सौमित्रे भक्षिता केन वा प्रिया ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! सीता कहाँ है ? वह यहाँ से कहाँ गयी ? अथवा
यहाँ से उसे कोई पकड़ कर ले गया ? अथवा किसी ने उसे खा
ड़ाला ? ॥ ३ ॥

वृक्षेणाच्छाद्य यदि मां सीते हसितुमिच्छसि ।

अलं ते हसितेनाद्य मां भजस्व सुदुःखितम् ॥ ४ ॥

हे सीते ! वृक्ष की ओट में द्विप यदि तुम मुझसे हँसी करती हो,
तो अब और अधिक हँसी कर मुझे दुःखी मत करो ॥ ४ ॥

यैः सह क्रीडसे सीते विश्वस्तैर्मृगपोतकैः ।

एते हीनास्त्वया सौम्ये ध्यायन्त्यासाविलेशणाः ॥ ५ ॥

हे सीते ! तुम जिन पालतू मृगदौनों के साथ खेला करती थीं,
वे सब के सब तुम्हारे वियोग में आँसू बहाते, तुम्हें स्मरण कर रहे हैं ॥ ५ ॥

सीतया रहितोऽहं वै न हि जीवामि लक्ष्मण ।

*वृतं शोकेन महता सीताहरणजेन माम् ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! सीता के बिना मैं जीता नहीं रह सकता । सीता
के हर जाने से उत्तम हुए महाशोक ने मुझे घेर लिया है ॥ ६ ॥

परलोके महाराजो नूनं द्रक्ष्यति मे पिता ।

कथं प्रतिज्ञां संश्रुत्य मया त्वमभियोजितः ॥ ७ ॥

अपूरयित्वा तं कालं मत्सकाशमिहागतः ।
 कामवृत्तमनार्यं मां मृषावादिनमेव च ॥ ८ ॥
 धिक्त्वामिति परे लोके व्यक्तं वक्ष्यति मे पिता ।
 विवशं शोकसन्तसं दीनं भग्नमनोरथम् ॥ ९ ॥
 मामिहोत्सृज्य करुणं कीर्त्तिरमिवानृजुम्^१ ।
 क्व गच्छसि वरारोहे मां नोत्सृज सुमध्यमे ॥ १० ॥

परलोक में मेरी भेंट पितृदेव महाराज दशरथ से अवश्य होगी और वे कहेंगे कि, प्रतिज्ञात वनवास की अवधि को पूरा किये बिना तुम मेरे पास क्यों चले आये ? मुझको स्वेन्द्राचारी, अनार्य, और मिथ्यावादी, कह कर परलोक में मेरे पिता तुझे अवश्य ही धिक्कारेंगे । हे सीते ! विवश, शोकाकुल, दीन, भग्नमनोरथ और द्यापात्र मुझको उसी प्रकार छोड़, तुम कहाँ जाती हो. जिस प्रकार कपटाचारी को कीर्ति त्याग कर चली जाती है । हे वरारोहे ! हे सुमध्यमे ! तुम कहाँ जाती हो ? तुम मुझको मत त्यागो ॥ ७ ॥ ८ ॥ ६ ॥ १० ॥

त्वया विरहितश्चाहं मोक्ष्ये जीवितमात्मनः ।
 इतीव विलपनरामः सीतादर्शनलालसः ॥ ११ ॥

हे प्रिये ! तेरे वियोग में मैं अपने प्राण गँवा दूँगा । श्रीरामचन्द्र जी सीता को देखने की आकांक्षा कर, इस प्रकार विलाप करने लगे ॥ ११ ॥

न दर्श सुदुःखातो राघवो जनकात्मजाम् ।
 अनासादयमानं तं सीतां दशरथात्मजम् ॥ १२ ॥

^१ अनृजु—कपटाचारं । (गो०)

इस प्रकार अत्यन्त दुःख से आर्त होने पर भी सीता जी को न पा कर दशरथनन्दन ॥ १२ ॥

पङ्कमासाद्य विपुलं सीदन्तमिव कुञ्जरम् ।
लक्ष्मणो राममत्यर्थमुवाच हितकाम्यया ॥ १३ ॥

कीचड़ में फँसे हुए हाथी की तरह, शोक में मग्न हो गये । तब लक्ष्मण जी श्रीरामचन्द्र जी को हितकामना के लिये उनसे बोले ॥ १३ ॥

मा विषादं महाबाहो कुरु यत्नं मया सह ।

इदं च हि वनं शूर बहुकंदरशोभितम् ॥ १४ ॥

हे बड़ी भुजाओं वाले ! आप दुःखी न हूँजिये । आइये मेरे साथ सीता को हूँढ़ने का प्रयत्न कीजिये । हे बीर ! इस वन में बहुत सी कंदराएँ (गुफाएँ) हैं ॥ १४ ॥

प्रियकाननसञ्चारा वनोन्मत्ता च मैथिली ।

सा वनं वा प्रविष्टा स्यान्नलिनीं वा सुपुष्पिताम् ॥ १५ ॥

जानकी जी को वन में धूमना प्रिय है । इसीसे वे वन को देख उन्मत्त सी हो जाती हैं । अतः या तो वे कहीं इस वन में धूम रही होंगी अथवा किसी पुष्पित कमलों से शोभित सरोवर पर होंगी ॥ १५ ॥

सरितं वाऽपि सम्प्राप्ताः मीनवञ्जुल॑सेविताम् ।

स्नातुकामा निलीना स्याद्वासकामा वने क्वचित् ॥ १६ ॥

हो सकता है वे मञ्जलियों और वञ्जुल पक्षियों से सेवित नदी में स्नान करने गयी हों अथवा हम दोनों के साथ हँसी करने को कहीं छिपो बैठी हों ॥ १६ ॥

^१ वञ्जुलो वेतसः । (गो०)

वित्रासयितुंकामा वा लीना स्यात्कानने कवचित् ।
जिज्ञासमाना^१ वैदेहीं त्वां मां च पुरुषर्षभ ॥ १७ ॥

अथवा हमको तंग करने के लिये इस बन में कहीं द्विप गयी हों,
अथवा आपकी और मेरी, खोजने की शक्ति की परोक्षा ले रही
हों ॥ १७ ॥

तस्या हृन्वेषणे श्रीमन्क्षप्रभेव यतावहै ।
वनं सर्वं विचिनुदो यत्र सा जनकात्मजा ॥ १८ ॥

अतएव हे श्रीमन् ! हम दोनों को उनके खोजने में शीघ्र यत्क्षान्
होना चाहिये । जहाँ हो वहाँ जानकी को पाने के लिये हमको यह
सारा बन मझाना चाहिये ॥ १८ ॥

मन्यसे यदि काकुत्स्थ मा स्म शोके मनः कृथाः ।
एवमुक्तस्तु सौहार्दल्लक्ष्मणेन समाहितः ॥ १९ ॥

हे काकुत्स्थ ! यदि आप मेरा कहना मानें तो शोकाकुल मत
हूँजिये । इस प्रकार जब लक्ष्मण जी ने सौहार्द से समझाया तब
श्रीरामचन्द्र जी का चित्त ठिकाने हुआ और ॥ १९ ॥

सह सौमित्रिणा रामो विचेतुमुपचक्रमे ।
तौ वनानि गिरींश्वैव सरितश्च सरांसि च ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण जी के साथ सीता को खोजने लगे । अब वे
दोनों बनों पहाड़ों, नदियों और सरोवरों को हृदने लगे ॥ २० ॥

^१ जिज्ञासमाना — आवयोरन्वेषणादिसामर्थ्यं जिज्ञासमानेतर्थः । गो०)

निखिलेन विचिन्वानौ सीतां दशरथात्मजौ ।

तस्य शैलस्य सानूनि^१ गुहाश्च शिखराणि च ॥ २१ ॥

दशरथनन्दन उन दोनों राजकुमारों ने रक्ती रक्ती कर सारे बनों, पहाड़ों, नदियों और सरोवरों को छङा । उन्होंने वहाँ के पर्वत के शिला प्रदेशों, कंदराओं और शिखरों को भी देखा ॥ २१ ॥

निखिलेन विचिन्वानौ नैव तामभिजग्मतुः ।

विचित्य सर्वतः शैलं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २२ ॥

यद्यपि उन्होंने रक्ती रक्ती बन मझाया, किन्तु सीता का पता न लगा । सारा पहाड़ खोज कर श्रीरामचन्द्र ने लक्ष्मण से कहा ॥ २२ ॥

नेह पश्यामि सौमित्रे वैदेहीं पर्वते शुभाम् ।

ततो दुःखाभिसन्तसो लक्ष्मणो वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥

विचरन्दण्डकारण्यं भ्रातरं दीप्ततेजसम् ।

प्राप्त्यसि त्वं महाप्राज्ञ मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥ २४ ॥

यथा विष्णुर्महावाहुर्बलिं वद्धा महीमिमाम् ।

एवमुक्तस्तु सौहार्दाल्लक्ष्मणेन स राघवः ॥ २५ ॥

हे लक्ष्मण ! इस पहाड़ पर तो सीता नहीं दिखलाई पड़ती । तब दुःख से सन्तस लक्ष्मण, दण्डकवन में विचरते हुए एवं तेजस्वी श्रीरामचन्द्र से बोले—हे महाप्राज्ञ ! तुम्हें जानकी जी वैसे ही मिलेगी जैसे बलि को बाँध, विष्णु को यह पृथिवी मिली थी । इस प्रकार सौहार्द से लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥

उवाच दीनया बाचा दुःखाभिहतचेतनः ।

वनं सर्वं सुविचितं पद्मिन्यः फुल्लपङ्कजाः ॥ २६ ॥

गिरिश्वायं महाप्राज्ञ बहुकंदरनिर्भरः ।

न हि पश्यामि वैदेहीं प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ २७ ॥

तब दुःख से विकल हो श्रीरामचन्द्र जी दीन वाणी से लक्ष्मण से कहने लगे । हे महाप्राज्ञ ! मैंने समस्त वन और खिले हुए कमलों से युक्त सरोवरें, यह पहाड़, बहुत सी कंदराएं और अनेक झरने भली भाँति खोजें, किन्तु प्राणों से भी बढ़ कर वैदेही न मिली ॥ २६ ॥ २७ ॥

एवं स विलपन्नरामः सीताहरणकर्शितः ।

दीनः शोकसमाविष्टो मुहूर्तं विह्वलो^१भवत् ॥ २८ ॥

सीता-हरण से व्यथित श्रीरामचन्द्र इस प्रकार विलाप करते हुए उदास और शोकाकुल हो दो घड़ी के लिये परवश हो गये ॥ २८ ॥

सन्तप्तो रघुवसन्नाङ्गो गतबुद्धिर्विचेतनः^४ ।

निषसादातुरो दीनो निःश्वस्यायतमायतम् ॥ २९ ॥

वे सन्तप्त होने के कारण कृशाङ्ग, निस्संज्ञ, निश्चेष्ट, आर्त और दीन हो कर गरम और लंबी साँसें लेने लगे ॥ २८ ॥

बहुलं स तु निःश्वस्य रामो राजीवलोचनः ।

हा प्रियेति विचुक्रोश बहुलो बाष्पगद्गदः ॥ ३० ॥

१ विह्वलः—परवशः (गो०) २ अवसन्नाङ्गः—कृशाङ्गः । (गो०)

३ गतबुद्धिः—निस्संज्ञः । (गो०) ४ विचेतनः—निश्चेष्टः । (गो०)

राजीवलोचन श्रीरामचन्द्र बारंबार लंबी साँसें ले और “हा प्रिये” कह तथा गद्गद हो, उच्च स्वर से रोने लगे ॥ ३० ॥

तं ततः सान्त्वयामास लक्ष्मणः प्रियबान्धवः ।
बहुप्रकारं धर्मज्ञः प्रश्रितं प्रश्रिताञ्जलिः ॥ ३१ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की ऐसी दशा देख, उनके प्यारे भाई धर्मज्ञ लक्ष्मण जी ने, विनयपूर्वक हाथ जोड़ कर, उनको अनेक प्रकार से सान्त्वना प्रदान की ॥ ३१ ॥

अनाद्य तु तद्वाक्यं लक्ष्मणोष्टपुटाच्युतम् ।
अपश्यंस्तां प्रियां सीतां प्राक्षोशत्स पुनः पुनः ॥ ३२ ॥

इति: एकषष्ठितमः सर्गः ॥

किन्तु श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण की कही बातों का तिरस्कार कर, और प्यारी सीता को न देख, बार बार उच्चस्वर से रोने लगे ॥ ३२ ॥

अरण्यकारण्ड का इक्सठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—————*

द्विषष्ठितमः सर्गः

—————*

सीतामपश्यन्धर्मात्मा कामोपहतचेतनः ।
विललाप महाबाहू रामः कमललोचनः ॥ १ ॥

महावाहु, धर्मत्मा और कमललोचन श्रीरामचन्द्र, सीता जी को न देख, मारे शोक के चेतनाशून्य हो विलाप करने लगे ॥ १ ॥

पश्यन्निव स तां सीतामपश्यन्मदनार्दितः ।

उवाच राघवो वाक्यं विलापाश्रयदुर्वचम् ॥ २ ॥

सीता को न देख कर भी मानों देखते हुए श्रीरामचन्द्र काम से पीड़ित हो गदगद कण्ठ से बोले ॥ २ ॥

त्वमशोकस्य शाखाभिः पुष्पप्रियतया प्रिये ।

आवृणोषि शरीरं ते मम शोकविवर्धनी ॥ ३ ॥

कदलीकाण्डसदृशौ कदल्या संवृतावुभौ ।

ऊरु पश्यामि ते देवि नासि शक्ता निगृहितुम् ॥ ४ ॥

हे पुष्पों की चाहने वाली और मेरे शोक को बढ़ाने वाली प्रिये ! तू अपने शरीर को अशोक की शाखाओं से छिपाती है और केले के वृक्ष के समान अपनी दोनों जाँधों को केले के वृक्ष से छिपा तो रही है; किन्तु छिपा नहीं सकती, मैं उनको देख रहा हूँ ॥ ३ ॥ ४ ॥

कर्णिकारवनं भद्रे हसन्ती देवि सेवसे ।

अलं ते परिहासेन मम बाधावहेन वै ॥ ५ ॥

हे भद्रे ! हे देवि ! तू हसती हुई कर्णिकार के वन में विचर रहो है, किन्तु मुझको पीड़ा दे कर; अतः अब मेरे साथ ठड़ा मत कर ॥ ५ ॥

परिहासेन किं सीते परिश्रान्तस्य मे प्रिये ।

अयं स परिहासेऽपि साधु देवि न रोचते ॥ ६ ॥

हे प्रिये सीते ! मुझे परिश्रान्त के साथ ठड़ा करने से क्या लाभ ?
यह तेरा परिहास करना ठीक न होने के कारण मुझे पसंद नहीं
है ॥ ६ ॥

विशेषेणाश्रमस्थाने हासोऽयं न प्रशस्यते ।

अवगच्छामि ते शीलं परिहासप्रियं प्रिये ॥ ७ ॥

हे प्रिये ! मुझे यह मालूम है कि, तू परिहास-प्रिय है, परन्तु
विशेष कर इस आश्रम-स्थान में परिहास करना अच्छा नहीं ॥ ७ ॥

आगच्छ त्वं विशालाक्षि शून्योऽयमुटजस्तव ।

सुव्यक्तं राक्षसैः सीता भक्षिता वा हृताऽपि वा ॥ ८ ॥

न हि सा विलपन्तं मामुपसंप्रैति लक्ष्मण ।

एतानि मृगयुथानि साश्रुनेत्राणि लक्ष्मण ॥ ९ ॥

हे विशालाक्षी ! यह तेरी पर्णकुटी सूनी पड़ी है, सो यहाँ
आ ! हे लक्ष्मण ! स्पष्ट जान पड़ता है कि, राक्षसों ने सीता को
खा डाला या वे उसे हर ले गये । क्योंकि मुझे विलाप करते देख
कर भी वह मेरे पास नहीं आती । हे लक्ष्मण ! देखो ये मृगों के
झुंड आँखों में आँसू भर ॥ ८ ॥ ६ ॥

शंसन्तीव हि वैदेहीं भक्षितां रजनीचरैः ।

हा ममार्ये^१ कव यातासि हा साध्वि वरवर्णिनि ॥ १० ॥

मानों कह रहे हैं कि, राक्षसों ने सीता को खा डाला है । हे मेरी
पूज्ये ! हे पतिव्रते ! हे वरवर्णिनि ! तू कहाँ गयी ? ॥ १० ॥

^१ आर्ये—पूज्ये । (गो०)

हा सकामा त्वया देवी कैकेयी सा भविष्यति ।
सीतया सह निर्यातो विना सीतामुपागतः ॥ ११ ॥

हे देवि ! मेरे कारण कैकेयी सफलमनोरथ होगी । क्योंकि वह
देखेगी कि, सीता सहित मैं घर से निकला था और जाऊँगा सीता
रहित ॥ ११ ॥

कथं नाम प्रवेक्ष्यामि शून्यमन्तः पुरं पुनः ।
निर्वीर्य इति लोको मां निर्दयश्चेति वक्ष्यति ॥ १२ ॥

मुझसे किस प्रकार सीता विना सूने अन्तःपुर में फिर जाया
जायगा ? सब लोग मुझको पराक्रमहीन और निदुर बतलावेंगे ॥ १२ ॥

कातरत्वं प्रकाशं हि सीतापनयनेन मे ।
निवृत्तवनवासश्च जनकं मिथिलाधिपम् ॥ १३ ॥

सीता के हर जाने से मेरा कातरपन तो स्पष्ट ही है । मैं जब
वनवास से लौट कर जाऊँगा तब मिथिलेश जनक ॥ १३ ॥

कुशलं परिपृच्छुन्तं कथं शक्ष्ये निरीक्षितुम् ।
विदेहराजो नूनं मां दृष्टा विरहितं तया ॥ १४ ॥

मुझसे जानकी को कुशल पूछेंहोगे । उस समय मैं क्यों कर
उनके सामने अपनी आँखें कर सकूँगा । विदेहराज सीता रहित
मुझको देख निश्चय ॥ १४ ॥

दुहितृस्नेहसन्तसो मोहस्य वशमेष्यति ।
अथवा न गमिष्यामि पुरीं भरतपालिताम् ॥ १५ ॥

अपनी वेदी जानकी के नाश से सन्तस हो मूर्च्छित हो जायँगे ।
अथवा मैं भरत द्वारा पालित अयोध्या में जाऊँ ही नहीं ॥ १५ ॥

स्वर्गोऽपि सीतया हीनः शून्य एव मतो मम ।

मामिहोत्सुज्य हि वने गच्छायोध्यां पुरीं शुभाम् ॥ १६ ॥

अयोध्या की तो बात ही क्या है, मेरे मतानुसार तो सीता के विना स्वर्ग भी सूना है। अतएव हे लक्ष्मण ! तुम मुझको इस वन में छोड़ अयोध्या को छले जाओ ॥ १६ ॥

न त्वहं तां सीतां जीवेयं हि कथञ्चन ।

गाढमाश्लिष्य भरतो वाच्यो मद्वचनात्त्वया ॥ १७ ॥

क्योंकि मैं सीता विना किसी प्रकार भी जीवित नहीं रह सकता । वहाँ जा और भरत को गाढ़ आलिंगन कर मेरी ओर से कहना ॥ १७ ॥

अनुज्ञातोऽसि रामेण पालयेति बसुन्धराम् ।

अम्बा च मम कैकेयी सुमित्रा च त्वया विभो ॥ १८ ॥

कौसल्या च यथान्यायमभिवाद्या ममाङ्गया ।

रक्षणीया प्रयत्नेन भवता सूक्तकारिणा ॥ १९ ॥

कि, श्रीरामचन्द्र जी ने यह आङ्गा दी है कि, तुम्हीं पृथिवी का पालन करो । मेरी माता, कैकेयी और अपनी माता सुमित्रा और कौशल्या को यथाक्रम मेरी ओर से प्रणाम करना ! हे लक्ष्मण ! मेरे आङ्गानुवर्ती आपको उचित है कि, माताओं की यत्नपूर्वक रक्षा करते रहना ॥ १८ ॥ १९ ॥

सीतायाश्च विनाशोऽयं मम चामित्रकर्शन ।

विस्तरेण जनन्या मे विनिवेद्यस्त्वया भवेत् ॥ २० ॥

हे परन्तप ! तुम सीता का तथा मेरे विनाश का वृत्तान्त भी
मेरी जननो से विस्तार पूर्वक कह देना ॥ २० ॥

इति विलपति राघवे सुदीने
वनसुपगम्य तया विना सुकेश्या ।
भयविकलमुखस्तु लक्ष्मणोऽपि
व्यथितमना भृशमातुरो बभूव ॥ २१ ॥

इति द्विषष्टितमः सर्ग ॥

श्रीरामचन्द्र जी सुकेशी सीता के विरह में अत्यन्त विकल हों,
इस प्रकार से विलाप करने लगे । भय और विकलता से लक्ष्मण
जी भी व्यथित हो अत्यन्त आतुर हो गये ॥ २१ ॥

अररण्यकाण्ड का बासठब्बी सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रिषष्टितमः सर्गः

—*—

स राजपुत्रः प्रियया विहीनः
कामेन शोकेन च पीड्यमानः ।
विषादयन्ध्रातरमार्तरूपो
भूयो विषादं प्रविवेश तीव्रम् ॥ १ ॥

राजपुत्र श्रीरामचन्द्र अपनी प्यारी सीता के विना काम और शोक से पीड़ित होने के कारण भाई लक्ष्मण को भी विशादयुक्त कर स्वयं भी फिर अत्यन्त विशादयुक्त हुए ॥ १ ॥

स लक्ष्मणं शोकवशाभिपन्नं
शोके निमग्नो विपुले तु रामः ।
उवाच वाक्यं व्यसनानुरूपम्
उषणं विनिःश्वस्य रुदन्सशोकम् ॥ २ ॥

श्रीरामचन्द्र जी विपुल शोक में निमग्न हो, गरम साँस ले, शोक व्याकुल लक्ष्मण से, शोक के कारण रो कर बोले ॥ २ ॥

न मद्विधो दुष्कृतकर्मकारी
मन्ये द्वितीयोऽस्ति वसुन्धरायाम् ।
शोकेन शोको हि परम्पराया
मामेति भिन्दन्हृदयं मनश्च ॥ ३ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं समझता हूँ कि, मेरे समान दुष्कर्म करने वाला दूसरा पुरुष इस पृथिवी पर नहीं है । देखो न, एक के बाद एक, इस प्रकार लगातार शोक मेरे हृदय और मन को विदीर्ण किये डालता है ॥ ३ ॥

पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि
पापानि कर्मण्यसकृत्कृतानि ।
तत्रायमद्यापतितो विपाको
दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥ ४ ॥

पहले जन्म में निश्चय ही मैंने बद बद कर अनेक बार बहुत से पाप किये हैं, उन्हींका कर्मविदाक आज मुझे भोगना पड़ता है और इसीसे मेरे ऊपर दुःख के ऊपर दुःख पड़ रहे हैं ॥ ४ ॥

राज्यप्रणाशः स्वजनैर्वियोगः

पितुर्विनाशो जननीवियोगः ।

सर्वाणि मे लक्ष्मण शोकवेगम्^१

आपूर्यन्ति प्रविचिन्तितानि ॥ ५ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो न, राज्य का नाश, स्वजनों का वियोग, पिता का मरण, जननी से विछोह, इन बातों का जब मैं स्मरण करता हूँ तब मेरा हृदय शोकों से परिपूर्ण हो जाता है ॥ ५ ॥

सर्वं तु दुःखं मम लक्ष्मणेदं

शान्तं शरीरे वनमेत्य शून्यम् ।

सीतावियोगात्पुनरप्युदीर्ण

काष्ठैरिवाग्निः सहसा प्रदीपः ॥ ६ ॥

हे लक्ष्मण ! इस शून्य वन में आने पर, मैं इन सब दुःखों को भूल सा गया था । किन्तु सीता के वियोग से, काठ के संयोग से सहसा प्रज्वलित आग की तरह, वे भूले हुए दुःख फिर हरे हो गये हैं ॥ ६ ॥

सा नूनमार्या मम राक्षसेन

बलाद्ध्रुता खं समुपेत्य भीरुः ।

^१ शोकवेगं — शोकराशिः । (गा०) २ प्रविचिन्तितानि — स्मृतानि । (गो०)

अपस्वरं सस्वरविप्रलापा

भयेन विक्रन्दितवत्यभीक्षणम् ॥ ७ ॥

निस्सन्देह कोई राक्षस उसी भीख स्वभाव वाली पूज्या सीता को, आकाशमार्ग से ले गया है और उस समय वह भयभीत हो, विकृत स्वर से बारंबार रोई और चिल्लाई होगी ॥ ७ ॥

तौ लोहितस्य^१ प्रियदर्शनस्य

सदोचितावुत्तमचन्दनस्य ।

वृत्तौ स्तनौ शोणितपङ्कदिग्धौ

नूनं प्रियाया मम नाभिभातः ॥ ८ ॥

गोल और लाल चन्दन जैसे लाल रंग वाले और देखने में प्रिय लगने वाले मेरी प्रिया जानकी जी के स्तन, जो सदा उत्तम चन्दन से चर्चित होने योग्य हैं, वे अवश्य ही गाढ़े गाढ़े लोहू से सन गये होंगे ॥ ८ ॥

तच्छलक्षणसुव्यक्तमृदुप्रलापं

तस्या मुखं कुञ्चितकेशभारम् ।

रक्षोवशं नूनमुपागताया

न भ्राजते राहुमुखे यथेन्दुः ॥ ९ ॥

मधुर, स्पष्ट और कोमल वचनों का बोलने वाला और सुन्दर घुंघराले बालों के बीच शोभित मेरी प्रिया का मुख, राक्षस के वश में होने से वैसे ही शोभायमान नहीं होता होगा जैसे राहु से ग्रस्त चन्द्रमा शोभायमान नहीं होता ॥ ९ ॥

१ लोहितस्य—लोहितास्यस्य उत्तम चन्दनस्य । (गो०)

तां हारपाशस्य सदोचिताया
 ग्रीवां प्रियाया मम सुव्रतायाः ।
 रक्षांसि नूनं परिपीतवन्ति
 विभिद्य शून्ये रुधिराशनानि ॥ १० ॥

मेरी पतिव्रता प्रिया की वह सुन्दर गरदन जो सदा हारों से
 भूषित रहती थी, निश्चय ही एकान्त पा, रुधिर पीने वाले
 राज्ञों ने उसे चीर कर उसका रुधिर पिया होगा ॥ १० ॥

मया विहीना विजने वने या
 रक्षोभिराहृत्य विकुञ्जमाणा ।
 नूनं विनादं कुररीव दीना
 सा मुक्तवत्यायतकान्तनेत्रा ॥ ११ ॥

मेरी अनुपस्थिति में जब निर्जन बन में राज्ञों ने चारों ओर
 से धेर कर सीता को खींचा होगा, तब उस बड़े नेत्र वाली ने
 अवश्य ही कुररी की तरह बड़ा आर्तनाद किया होगा ॥ ११ ॥

अस्मिन्मया सार्धमुदारशीला
 शिलातले पूर्वमुपोपविष्टा ।
 कान्तस्मिता लक्ष्मण जातहासा
 त्वामाह सीता बहुवाक्यजातम् ॥ १२ ॥

हे लक्ष्मण ! उदार स्वभाव वाली सीता, मेरे साथ इस शिला
 पर बैठ मनोहर हास्यपूर्वक तुमसे कितनी ही बातें कहा करती
 थी ॥ १२ ॥

गोदावरीं सरितां वरिष्ठा
 प्रिया प्रियाया मम नित्यकालम् ।
 अप्यत्र गच्छेदिति चिन्तयामि
 नैकाकिनी याति हि सा कदाचित् ॥१३॥

हे लक्ष्मण ! यह नदियों में श्रेष्ठ गोदावरी नदी मेरी प्रिया की सर्वदा अत्यन्त प्यारी थी सो मैं सोचता हूँ कि, कदाचित् नदी के तट पर गयी हो, किन्तु वह अकेली तो वहाँ कभी नहीं जाती ॥१३॥

पद्मानना पद्मविशालनेत्रा
 पद्मानि वानेतुमभिप्रयाता ।
 तदप्ययुक्तं न हि सा कदाचिन्
 मया विना गच्छति पङ्कजानि ॥ १४ ॥

फिर मैं यह भी सोचता हूँ कि, वह कमलमुखी और कमल के समान विशाल नेत्र वाली कहीं कमल के फूल लाने को न गयी हो ; किन्तु यह भी ठोक नहीं, क्योंकि मेरे विना वह कमल लेने भी नहीं जाती ॥ १४ ॥

कामं त्विदं पुष्पितवृक्षपण्डं
 नानाविधैः पक्षिगणौरूपेतम् ।
 वनं प्रयाता नु तदप्ययुक्तम्
 एकाकिनी साऽतिविभेति भीरुः ॥ १५ ॥

अथवा इस फूले हुए वृक्षों के समूह से शोभित तथा भाँति भाँति के पक्षियों से युक्त इस वन को देखने वह अपनी इच्छा से

गयी हो ! किन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वह डरपेंक स्वभाव को होने के कारण अकेली बन में जाते बहुत डरती थी ॥ १५ ॥

आदित्य भो लोककृताकृतज्ञ
लोकस्य सत्यानृतकर्मसाक्षिन् ।
मम प्रिया सा क गता हृता वा
शंसस्व मे शोकवशस्य सत्यम् ॥ १६ ॥

हे सूर्यदेव ! तुम लोगों के किये अनकिये तथा पाप पुण्य मय कर्मों के साक्षी हो । मुझे यह तो सत्य सत्य बतलाओ कि, मेरी प्रिया कहाँ गयी ; अर्थवा उसको कोई हर कर ले गया ? क्योंकि मैं इस समय शोक से विकल हो रहा हूँ ॥ १६ ॥

लोकेषु सर्वेषु च नास्ति किञ्चि-
व्रत्तेन नित्यं विदितं भवेत्तत् ।
शंसस्व वायो कुलशालिनीं तां
हृता मृता वा पथि वर्तते वा ॥ १७ ॥

हे पवनदेव ! समस्त लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो नित्य आपकी जानकारी में न आती हो । अतएव आप ही उस कुल-मर्यादा की रखने वाली सीता के विषय में यह बतलाओ कि, यह मर गई या किसी ने उसे हर लिया या वह इसी बन के किसी मार्ग में है ॥ १७ ॥

इतीव तं शोकविधेयदेहं
रामं विसंज्ञं विलपन्तपेवम् ।

* पाठान्तरे “नित्यम्” ।

उवाच सौमित्रिरदीनसत्त्वो
न्याये स्थितः कालयुतं च वाक्यम् ॥१८॥

जब लक्ष्मण जी ने श्रीरामचन्द्र जी को शोक से बिहळ देखा, तब लक्ष्मण ने दोनता त्याग न्यायानुमोदित एवं कालोचित वचन श्रीरामचन्द्र जी से कहे ॥ १८ ॥

शोकं विमुञ्चार्य धृतिं भजस्व
सोत्साहता चास्तु विमार्गणेऽस्याः ।
उत्साहवन्तो हि नरा न लोके
सीदन्ति कर्मस्वतिदुष्करेषु ॥ १९ ॥

हे आर्य ! शोक को त्यागिये और धैर्य को धारण कीजिये । तदनन्तर उत्साह पूर्वक जानकी जी को ढूँढ़िये । क्योंकि जो लोग उत्साही होते हैं वे दुष्कर कार्यों के करने में भी कभी दुःख नहीं पाते ॥ १९ ॥

इतीव सौमित्रिमुदग्रपौरुषं^१
ब्रुवन्तमार्तो रघुवंशवर्धनः ।
न चिन्तयामास धृतिं विमुक्तवान्
पुनश्च दुखं महदभ्युपागमत् ॥ २० ॥

इति व्रिषष्ठितमः सर्गः ॥

१ उदग्रपौरुषं — श्रेष्ठपराक्रमं । (गो०)

श्रेष्ठ पराक्रमी लक्ष्मण के यह कहने पर भी श्रीरामचन्द्र ने आर्त होने के कारण लक्ष्मण जी के कथन को सुना अनसुना कर दिया । विकिं वे धैर्य क्रोड़ पुनः अत्यन्त दुःखी हुए ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ



चतुःषष्ठितमः सर्ग



स दीनो दीनया वाचा लक्ष्मणं वाक्यमब्रवीत् ।

शीघ्रं लक्ष्मणं जानीहि गत्वा गोदावरीं नदीम् ॥ १ ॥

दीनता को प्राप्त श्रीरामचन्द्र दीन वचन कह लक्ष्मण से बोले—
हे लक्ष्मण ! तुम शीघ्र गोदावरी के तट पर जाकर देख आओ
कि ॥ १ ॥

अपि गोदावरीं सीता पद्मान्यानयितुं गता ।

एव मुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः *पुनेरेवहि ॥ २ ॥

नदीं गोदावरीं रम्यां जगाम लघुविक्रमः^१ ।

तां लक्ष्मणस्तीर्थवतीं विचित्वा राममब्रवीत् ॥ ३ ॥

नैनां पश्यामि तीर्थेषु क्रोशतो न शृणोति मे ।

कं नु सा देशमापन्ना वैदेही क्षेत्रानाशिनी ॥ ४ ॥

जानकी कहीं कमल के फूल लेने तो वहाँ नहीं गयी । श्रीराम-
चन्द्र जी के पुनः वही बात कहने पर शीघ्रगामी लक्ष्मण तुरन्त

^१ लघुविक्रमः—अतिशीघ्रपादप्रक्षेपवान् लक्ष्मणः । (शि०)

पाठान्तरे—‘परबीरहा ।’

गोदावरी के तट पर पहुँचे और उस सुन्दर घाटों वाली गोदावरी के चारों ओर देख भाल कर श्रीरामचन्द्र के पास लौट आये और बोले—मैंने सभी घाटों पर उन्हें हृषा, किन्तु कहीं भी वे मुझे न मिलीं। मैंने उन्हें पुकारा भी किन्तु मुझे कुछ उत्तर न मिला। नहीं मालूम क्लेशनाशिनी सीता, कहाँ चली गयीं ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥

न ह्यहं वेदं तं देशं यत्र सा जनकात्मजा ।

लक्ष्मणस्य वचः श्रुत्वा दीनः सन्तापमोहितः ॥ ५ ॥

मैं नहीं कह सकता कि, जानकी जो कहाँ हैं? लक्ष्मण जी के ये वचन सुन श्रीरामचन्द्र जी उदास और सन्तप्त हो ॥ ५ ॥

रामः समभिचक्राम स्वयं गोदावरीं नदीम् ।

स तामुपस्थितो रामः क सीतेत्येवमब्रवीत् ॥ ६ ॥

तथा स्वयं गोदावरी नदी के तट पर जा, कहने लगे—हे सीते! तुम कहाँ हो? ॥ ६ ॥

भूतानि राक्षसेन्द्रेण वधार्हेण हृतामपि ।

न तां शशंसु रामाय तथा गोदावरी नदी ॥ ७ ॥

सब प्राणियों ने तथा गोदावरी नदी ने श्रीरामचन्द्र जी से यह न कहा कि, वध करने योग्य रावण सीता को हर कर ले गया है ॥ ७ ॥

ततः प्रचोदिता भूतैः^१ शंसास्मत्तां प्रियामिति ।

न तु साऽभ्यवदत्सीतां पृष्ठा रामेण शोचता ॥ ८ ॥

तदनन्तर उस वन के प्राणियों ने गोदावरी से अनुरोध किया कि, श्रीरामचन्द्र को बतला दे कि, रावण सीता को हर कर ले गया है।

^१ भूतानि—वन्यानि सत्त्वानि । (गो०)

चिन्ताग्रस्त श्रीरामचन्द्र जी ने पूँछा ; किन्तु गोदावरी ने न बतलाया ॥ ८ ॥

रावणस्य च तद्रूपं कर्माणि च दुरात्मनः ।

ध्यात्वा भयात्तु वैदेहीं सा नदी न शशंस ताम् ॥ ९ ॥

क्योंकि रावण की शक्ति और उस दुष्ट के कार्यों का स्मरण कर मारे डर के गोदावरी को साहस न हुआ कि, वह सीता का हाल श्रीराम से कहे ॥ ९ ॥

निराशस्तु तया नद्या सीताया दर्शने कुतः ।

उवाच रामः सौमित्रिं सीताऽदर्शनकर्शितः ॥ १० ॥

सीता जी के दर्शन से इस प्रकार नदी से निराश हो श्रीरामचन्द्र जी ने जो सीता के विरह से पीड़ित थे, लक्ष्मण जी से कहा ॥ १० ॥

एषा गोदावरी सौम्य किञ्चिन्न प्रतिभाषते ।

किन्तु लक्ष्मण वक्ष्यामि समेत्य जनकं वचः ॥ ११ ॥

मातरं चैव वैदेह्या विना तामहमप्रियम् ।

या मे राज्यविहीनस्य वने वन्येन जीवतः ॥ १२ ॥

सर्वं व्यपनयेच्छोकं वैदेही क्व नु सा गता ।

ज्ञातिपक्षविहीनस्य राजपुत्रीमपश्यतः ॥ १३ ॥

हे सौम्य ! देखो यह गोदावरी तो कुछ जबाब ही नहीं देती । अब लौट कर महाराज जनक से तथा सीता की माता से मैं कैसे अप्रिय वचन कहूँगा । जो जानकी वन में उत्पन्न कन्द मूलादि से सन्तुष्ट हो, मुझ राज्य विहीन के सब शोक दूर किया करती थी, वह सीता कहाँ गयी ? एक तो पहले ही मैं कुटुम्बियों से रहित था, अब राजपुत्री जानकी भी नहीं रही ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥

मन्ये दीर्घा भविष्यन्ति रात्रयो मम जाग्रतः ।

मन्दाकिनीं जनस्थानमिमं प्रस्तवणं गिरिम् ॥ १४ ॥

सर्वाण्यनुचरिष्यामि यदि सीता हि दृश्यते ।

एते मृगा महावीरा मारीक्षन्ते मुहुर्मुहुः ॥ १५ ॥

सो अब ऐसा मुझे जान पड़ता है कि, ये रातें भी जागने के कारण मेरे लिये बहुत बड़ी हो जायगी । मन्दाकिनी नदी, जनस्थान और इस समस्त प्रस्तवण पहाड़ को चल फिर कर ढूँ ढूँगा । कदाचित् सीता से भेट हो जाय । हे वीर ! देखो ये बड़े बड़े मृग मेरी ओर देखते हैं ॥ १४ ॥ १५ ॥

वक्तुकामा इव हि मे इङ्गितान्युपलक्षये ।

तांस्तु दृष्टा नरव्याघ्रो राघवः प्रत्युवाच ह ॥ १६ ॥

इनके सङ्केतों से ऐसा जान पड़ता है मानों ये मुझसे कुछ कहना चाहते हैं । उनकी (मृगों की) ओर देख पुरुषसिंह श्रीरामचन्द्र ने उनसे कहा ॥ १६ ॥

व सीतेति निरीक्षन्वै बाष्पसंरुद्धया दशा ।

एवमुक्ता नरेन्द्रेण ते मृगाः सहस्रात्मिताः ॥ १७ ॥

दक्षिणाभिमुखाः सर्वे दर्शयन्तो नभःस्थलम् ।

मैथिली हियमाणा सा दिशं यामन्वपद्यत ॥ १८ ॥

हे मृगों ! सीता कहाँ है ? यह कहते हो श्रीरामचन्द्र जी की आंखों में आँसू भर आये और कहठ गदगद हो गया । श्रीरामचन्द्र के इस प्रकार पूँछने पर वे मृग शीघ्र उठ कर दक्षिणाभिमुख हो आकाश मार्ग को दिखलाते हुए चले और जिस रास्ते से रावण सीता को हर कर ले गया था, उसी मार्ग से वे आगे बढ़े ॥ १७ ॥ १८ ॥

तेन मार्गेण धावन्तो निरीक्षन्ते नराधिपम् ।

येन मार्गं च भूमि च निरीक्षन्ते स्म ते मृगाः ॥ १९ ॥

पुनश्च मार्गमिच्छन्ति लक्ष्मणेनोपलक्षिताः ।

तेषां वचनसर्वस्वं लक्षयामास चेद्ग्रन्थितम् ॥ २० ॥

उसी मार्ग पर मृग दौड़ते चले जाते थे और मुङ्ग मुङ्ग कर पीछे श्रीरामचन्द्र जी को देखते जाते थे । जिस ओर के रास्ते को और ज़मीन को वै मृग देखते तथा जाते जाते शब्द करते जाते थे ; उस ओर लक्ष्मण ने देखा और उन मृगों की बोली के अभिप्राय को समझ तथा उनकी चेष्टा पर ध्यान दे ॥ १९ ॥ २० ॥

उवाच लक्ष्मणो ज्येष्ठं धीमान्नातरमार्तवत् ।

क्व सीतेति त्वया पृष्ठा यथेमे सहसोत्थिताः ॥ २१ ॥

लक्ष्मण ने आर्त की तरह अपने ज्येष्ठ बुद्धिमान भाई से कहा—आपने इनसे पूछा कि, सीता कहाँ है ? सो ये मृग एक साथ उठ कर, ॥ २१ ॥

दर्शयन्ति क्षितिं चैव दक्षिणां च दिशं मृगाः ।

साधु गच्छावहै देव दिशमेतां हि नैऋतिम् ॥ २२ ॥

हमें आकाश और दक्षिण दिशा दिखला रहे हैं । अतः जैसा कि, ये बतला रहे हैं, वैसे ही हमें नैऋत्य दिशा की ओर चलना चाहिये ॥ २२ ॥

यदि स्यादागमः कश्चिदार्यवा साऽथ लक्ष्यते ।

बाढमित्येव काकुत्स्थः प्रस्थितो दक्षिणां दिशम् ॥ २३ ॥

सम्भव है उस ओर जाने से सीता का पता चल जाय या वही मिल जाय। लक्ष्मण के ये बचन सुन और “बहुत अच्छा” कह, श्रीरामचन्द्र दक्षिण दिशा को ओर चल दिये ॥ २३ ॥

लक्ष्मणानुगतः श्रीमान्वीक्षमाणो वसुन्धराम् ।

एवं सम्भाषमाणौ तावन्योन्यं भ्रातरावुभौ ॥ २४ ॥

लक्ष्मण जो श्रीराम के पीछे हो लिये। श्रीरामचन्द्र ज़मीन की ओर दृष्टि लगाये हुए चले। इस प्रकार वे दोनों भाई आपस में वर्तालाप करते चले जाते थे ॥ २४ ॥

वसुन्धरायां पतितं पुष्पमार्गमपश्यताम् ।

तां पुष्पवृष्टिं पतितां दृष्ट्वा रामो महीतले ॥ २५ ॥

उन्होंने कुछ दूर आगे जा कर देखा कि, पृथकी में आकाश से गिरे हुए फूल मार्ग पर पड़े हैं। उस पुष्पवृष्टि के पुष्पों को धरातल पर पड़े हुए देख, ॥ २५ ॥

उवाच लक्ष्मणं वीरो दुःखितो दुःखितं वचः ।

अभिजानामि पुष्पाणि तानीमानीह लक्ष्मण ॥ २६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने दुःखी हो दुःखित लक्ष्मण से कहा, हे लक्ष्मण ! मैं जानता हूँ ये वे हो फूल हैं ॥ २६ ॥

पिनद्वानीह वैदेशा मया दत्तानि कानने ।

मन्ये सूर्यश्च वायुश्च मेदिनी च यशस्विनी ॥ २७ ॥

अभिरक्षन्ति पुष्पाणि प्रकुर्वन्तो मम प्रियम् ।

एवमुक्त्वा महाबाहुं लक्ष्मणं पुरुषर्भः ॥ २८ ॥

जो मैंने ला कर वन में सीता को दिये थे और जिन्हें उसने अपने अंगों पर धारण किया था। ऐसा जान पड़ता है कि, मेरी प्रसन्नता के लिये सूर्य ने इन्हें कुम्हलाने नहीं दिया, पवन ने इनको उड़ा कर तितर वितर नहीं किया और यशस्विनों पृथिवी ने इन्हें जहाँ के तहाँ बनाये रखा है। पुष्टब्रेत्र श्रीराम ने इस प्रकार महावाहु लद्धमण से कहा ॥ २७ ॥ २८ ॥

उवाच रामो धर्मात्मा गिरि प्रस्तवणाकुलम् ।

कच्चित्क्षितिभृतां नाथ दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ॥ २९ ॥

तदनन्तर धर्मात्मा श्रीरामवन्द्र जो ने प्रस्तवण पर्वत से कहा, हे पर्वतनाथ! क्या तुमने उस सर्वाङ्गसुन्दरी सीता को देखा है? ॥ २६ ॥

रामा रम्ये वनोद्देशे मया विरहिता त्वया ।

क्रुद्धोऽब्रवीद्गिरि तत्र सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ३० ॥

मेरी प्रिया मेरे विना क्या इस वन में तुमने कहों देखी है। जब उस पर्वत ने कुछ भी उत्तर न दिया, तब श्रीरामवन्द्र कड़क कर क्रुद्ध हो वैसे ही उस पर्वत से बोले, जैसे सिंह गुर्रा कर मृगों से बोलता है ॥ ३० ॥

तां हेमवर्णां हेमाभां सीतां दर्शय पर्वत ।

यावत्सानूनि सर्वाणि न ते विध्वंसयाम्यहम् ॥ ३१ ॥

हे पर्वत! तुम मुझे उस सुवर्णवणी सीता को दिखला दो। नहीं तो मैं तुम्हारे इन शृङ्गों को नष्ट कर डालूँगा ॥ ३१ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण पर्वते मैथिलीं प्रति ।

शंसन्निव ततः सीतां नादर्शयत राघवे ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र द्वारा सीता के विषय में इस प्रकार पूछे जाने पर वह पर्वत बतलाने की इच्छा रखता हुआ भी, (रावण के भय से) बतलाने को तैयार न हुआ ॥ ३२ ॥

ततो दाशरथी राम उवाच च शिलोच्यम् ।

मम वाणाग्निनिर्दग्धो भस्मीभूतो भविष्यसि ॥ ३३ ॥

तब दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र जी ने पर्वत से कहा कि, तू मेरे बाणों की आग से जल कर भस्म हो जायगा (अर्थात् मैं तुझे अपने बाणों से भस्म कर डालूँगा) ॥ ३३ ॥

असेव्यः सन्ततं चैव निस्तृणद्रुमपल्लवः ।

इमां वा सरितां चाद्य शोषयिष्यामि लक्ष्मण ।

यदि नाख्याति मे सीतामार्या चन्द्रनिभाननाम् ॥ ३४ ॥

फिर तृण वृक्ष, पल्लवादि के भस्म होने से कोई तेरा आश्रय ग्रहण न करेगा । हे लक्ष्मण ! यदि यह पर्वत और नदी गोदावरी मेरी पतिव्रता एवं चन्द्रबदनी सीता का पता नहीं बतलावेगी तो आज मैं इस गोदावरी नदी को भी सुखा डालूँगा और पर्वत को नष्ट कर डालूँगा ॥ ३४ ॥

एवं स रुषितो रामो दिधक्षन्निव चक्षुषा ॥ ३५ ॥

इस प्रकार से श्रीरामचन्द्र जी कह, अत्यन्त कुपित हुए और कुछ हो, वे मानों नेत्रों से उस पर्वत को भस्म करना चाहते थे ॥ ३५ ॥

ददर्श भूमौ निष्कान्तं राक्षसस्य पदं महत् ।

त्रस्ताया रामकाङ्क्षिष्याः प्रधावन्त्या इतस्ततः ॥ ३६ ॥

इतने में वहाँ भूमि पर राक्षस का विशाल पद-चिन्ह देख पड़ा । साथ ही उन जानकी जी के पदों के चिन्ह भी दिखलाई पड़े, जो

श्रीरामबद्र के दर्शनों की इच्छा किये हुए, राक्षस से ब्रह्म हो,
इधर उधर दौड़ी थीं । ॥ ३६ ॥

राक्षसेनानुवृत्ताया मैथिल्याश्च पदान्यथ ।

स समीक्ष्य परिक्रान्तं सीताया राक्षसस्य च ॥ ३७ ॥

राक्षस का पोक्का करने से जानको के भोपैटों के विष्वह राक्षस
के पैटों के विष्वहों के भोतर बने देख पड़े । श्रीरामबद्र जो ने सीता
जी वा राक्षस के पदविष्वहों को एक में मिला देखा ॥ ३७ ॥

भग्नं धनुश्च तूणी च विकीर्णं बहुधा रथम् ।

सम्भ्रान्तहृदयो रामः शशंस भ्रातरं प्रियम् ॥ ३८ ॥

फिर धनुष व तरक्षस को भी दूढ़ा हुआ वहाँ पड़ा देख, तथा
रथ को भी चूर चूर हुआ देख, श्रीरामबद्र जो ने उद्धिन हो, अपने
प्यारे भाई लक्ष्मण से कहा ॥ ३८ ॥

पश्य लक्ष्मण वैदेह्याः शीर्गाः कनकविन्दवः ।

भूषणानां हि सौमित्रे माल्यानि विविधानि च ॥ ३९ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो जानकी जो के गहनों के सौने के रौने (दाने)
तथा विविध प्रकार की मालाएं यहाँ विभरी हुई पड़ी हैं ॥ ३९ ॥

तस्मिन्दुनिराशैश्च चित्रैः क्षतज्विन्दुभिः ।

आवृतं पश्य सौमित्रे सर्वतो धरणीतलम् ॥ ४० ॥

और देखो ये लोह की सुवर्णचिन्दु सम चित्र बूँदे, पृथिवी
के चारों ओर टकाशी हुई सो देख पड़ती हैं ॥ ४० ॥

मन्ये लक्ष्मण वैदेही राक्षसैः कामल्पिभिः ।

भित्त्वा भित्त्वा चिपका वा भक्षिता वा भविष्यति ॥ ४१ ॥

हे लक्ष्मण ! इससे जान पड़ता है कि, कामरुषी राक्षसों ने सीता के शरीर को टुकड़े टुकड़े कर और आपस में हिस्सा बांट कर खा डाला है ॥ ४१ ॥

तस्या निमित्तं वैदेहा द्वयोर्विवदमानयोः ।

बभूव युद्धं सौमित्रे घोरं राक्षसयोरिह ॥ ४२ ॥

ऐसा मालूम देता है कि, सीता के लिये दो राक्षसों का यहाँ परस्पर भगड़ा हुआ है और आपस में घोर लड़ाई हुई है ॥ ४२ ॥

मुक्तामणिमयं चेदं तपनीयविभूषितम् ।

धरण्यां पतितं सौम्य कस्य भग्नं महद्धनुः ॥ ४३ ॥

हे सौम्य ! मोती और मोतियों से जड़ा हुआ यह विशाल धनुष दूटा हुआ ज़मीन पर किसका पड़ा हुआ है ? ॥ ४३ ॥

[राक्षसानामिदं वत्स सुराणामथवाऽपि वा ।]

तरुणादित्यसङ्काशं वैदूर्यगुलिकाचितम् ॥ ४४ ॥

हे वत्स ! या तो यह धनुष किसी राक्षस का है अथवा किसी देवता का । क्योंकि यह मध्यान्ह कालीन सूर्य की तरह कैसा चमक रहा है और स्थान स्थान पर पन्नों की गोलियाँ कैसी जड़ी हैं ॥ ४४ ॥

विशीणं पतितं भूमौ कवचं कस्य काञ्चनम् ।

छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम् ॥ ४५ ॥

यह सोने का कवच किसका दूटा फूटा पड़ा है और सौ कीलियों का यह छत्र जो दिव्य मालाध्रों से भूषित है, किसका है ? ॥ ४५ ॥

भग्नदण्डमिदं कस्य भूमौ सम्यनिपातितम् ।

काञ्चनोरश्छदाश्रेमे पिशाचवदनाः खराः ॥ ४६ ॥

भीमरूपा महाकायाः कस्य वा निहता रणे ।

दीपपावकसङ्काशो वृत्तिमान्समरध्वजः ॥ ४७ ॥

अपविद्धश्च भग्नश्च कस्य सांग्रामिको रथः ।

रथाक्षमात्रा विशिखास्तपनीयविभूषणाः ॥ ४८ ॥

और यह दूटा हुआ दण्ड किसका ज़मीन पर पड़ा हुआ है ? देखो ये सुवर्णकवच से सजे हुए, पिशाचमुख, भयङ्कर और बड़े डौल डौल के खचर युद्ध में किसके मारे गये हैं । यह प्रज्वलित अग्नि की तरह चमकता और समरध्वज युक्त संग्राम-रथ चूर हो कर किसका पड़ा है ? या सौ अंगुल लंबे और फलहीन एवं सुवर्ण-भूषित ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

कस्येमेऽभिहता वाणाः प्रकीर्णा घोरकर्मणः ।

शरावरौ शरैः पूर्णा विध्वस्तौ पश्य लक्ष्मण ॥ ४९ ॥

भयङ्कर वाण किसके छूतराये हुए पड़े हैं । हे लक्ष्मण ! वाणों से भरे ये दोनों तरकस किसके पड़े हुए हैं ? ॥ ४९ ॥

प्रतोदाभीषुहस्तो वै कस्यायं सारथिर्हतः ।

कस्येमौ पुरुषव्याघ्र शयाते निहतो युधि ॥ ५० ॥

चामरग्राहिणौ सौम्य सोष्णीषमणिकुण्डलौ ।

पदवी पुरुषस्यैषा व्यक्तं कस्यापि रक्षसः ॥ ५१ ॥

देखो, चावुक और रास हाथ में लिये किसी का सारथी भी मरा हुआ पड़ा है । हे पुरुषसिंह ! चँवर लेने वाले ये दोनों जन जो सिर

पर पगड़ी और कानों में जड़ाऊ कुण्डल धारण किये हुए हैं, युद्ध में मरे हुए किसके पड़े हैं, जान पड़ता है कि, अवश्य यह किसी राज्ञस के आने जाने का मार्ग है ॥ ५० ॥ ५१ ॥

वैरं शतगुणं पश्य ममेदं जीवितान्तकम् ।

सुधोरहृदयैः सौम्य राक्षसैः कामरूपिभिः ॥ ५२ ॥

हे सौम्य ! देखो ; अथवा उसके साथ अब तो सौगुना अधिक ऐसा वैर हो गया, जिसका परिणाम उनका प्राणनाश होगा ॥ ५२ ॥

हृता मृता वा सीता सा भक्षिता वा तपस्विनी ।

न धर्मस्त्रायते सीतां हियमाणां महावने ॥ ५३ ॥

या तो राज्ञसों ने सीता को हर लिया, अथवा उस तपस्विनी ने सङ्कट में पड़, स्वयं प्राण त्याग दिये अथवा किसी वन्य पशु ने उसे खा डाला । देखो हरे जाने के समय इस महावन में धर्म ने भी सीता की रक्षा न की ॥ ५३ ॥

भक्षितायां हि वैदेह्यां हृतायामपि लक्ष्मण ।

के हि लोकेऽप्रियं कर्तुं शक्ताः सौम्य ममेश्वराः ॥ ५४ ॥

हे सौम्य ! जब जानकी जी मार कर खायी गयी अथवा हरी ही गयी, तब यदि धर्म ने उसको रक्षा न की, तब इस संसार में और कौन ईश्वरीय शक्ति सम्पन्न पुरुष मेरा हित कर सकता है ॥ ५४ ॥

कर्तारमपि लोकानां शूरं^१ करुणवेदिनम्^२ ।

अज्ञानादवमन्येरन्सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥ ५५ ॥

^१ शूरमरि संझार करण उपर्य मरि । (गो०) ^२ करुण वेदिनं — काहाय परं मपुरुषं । (गो०)

इसीसे हे लक्ष्मण ! प्राणिमात्र अङ्गान के वशनर्ती हो, उन परमेश्वर का, जो लोकों के रचने, पालने और संहार करने की शक्ति रखते हैं, नहीं मानते अर्थात् उनका अनादर करते हैं। लोगों का यह स्वभाव ही है ॥ ५५ ॥

मृदुं लोकहिते युक्तं दान्तं^१ करुणवेदिनम् ।

निर्वीर्यं इति मन्यन्ते नूनं मां त्रिदशेश्वराः ॥ ५६ ॥

हे सौम्य ! देवता लोग तो मेरे कोमल-हृदय, लोकहित में तत्पर, जितेन्द्रिय और दयालु होने के कारण मुझको पराक्रमहीन मानते हैं ॥ ५६ ॥

मां प्राप्य हि गुणो दोषः संवृत्तः पश्य लक्ष्मण ।

अद्यैव सर्वभूतानां रक्षसामभवाय च ॥ ५७ ॥

हे लक्ष्मण ! इन गुणों का समावेश मुझमें होने के कारण, गुण दूषित हो गये हैं। देखो, अब सब प्राणियों और विशेष कर राक्षसों के अभाव के लिये ॥ ५७ ॥

संहृत्यैव शशिज्योत्सनां महान्सूर्यं इवोदितः ।

संहृत्यैव गुणान्सर्वान्मम तेजः प्रकाशते ॥ ५८ ॥

चन्द्रमा की चाँदनी को हटा, उदय हुए सूर्य को तरह, इन गुणों को नाश कर, मेरा तेज कैसा प्रकट होता है ॥ ५८ ॥

नैव यक्षा न गन्धर्वा न पिशाचा न राक्षसाः ।

किञ्चरा वा मनुष्या वा सुखं प्राप्स्यन्ति लक्ष्मण ॥ ५९ ॥

^१ करुणवेदिन दान्तं—विषयचारल्यरहितं मां । (गो०)

हे लक्ष्मण ! इस तेज के प्रकट होने पर न तो यज्ञ, न गन्धर्व,
न विशाच, न राक्षस, न किन्नर और न मनुष्य ही सुखी रहने
पावेंगे ॥ ५६ ॥

ममास्त्रबाणसम्पूर्णमाकाशं पश्य लक्ष्मण ।

निःसम्पातं करिष्यामि हृदयं त्रैलोक्यचारिणाम् ॥ ६० ॥

हे लक्ष्मण ! देखो, मैं अपने अस्त्र रूपी बाणों से आकाश को
ढके देता हूँ, जिससे तीनों लोकों में आने जाने वाले विमानों का
रास्ता ही बंद हो जायगा ॥ ६० ॥

सन्निरुद्धग्रहणमावारितनिशाकरम् ।

विप्रनष्टानलमरुद्धास्करद्युतिसंवृतम् ॥ ६१ ॥

अहों की गति रुक जायगी, चद्रमा जहाँ का तहाँ स्थिर हो
जायगा । वायु, अग्नि और सूर्य की द्युति के ढक जाने से सर्वत्र
अन्धकार छा जायगा ॥ ६१ ॥

विनिर्मथितशैलाग्रं शुष्यमाणजलाशयम् ।

ध्वस्तदुमलतागुल्मं विप्रणाशितसागरम् ॥ ६२ ॥

पर्वतों के शृङ्ख काट कर मैं गिरा दूँगा, जलाशयों को सुखा
दूँगा और बनों को बृक्ष, लता तथा भाड़ीं से शून्य कर दूँगा ।
समुद्रों को उजाड़ दूँगा ॥ ६२ ॥

त्रैलोक्यं तु करिष्यामि संयुक्तं कालधर्मणा ।

न तां कुशलिनीं सीतां प्रदास्यन्ति यदीश्वराः* ॥ ६३ ॥

यदि देवतागण सीता को कुशल पुर्वक मुझे न दे देंगे, तो मैं
तीनों लोकों में प्रलयकाल उपस्थित कर दूँगा ॥ ६३ ॥

* पाठान्तरे—ममेश्वराः ।

अस्मिन्मुहूर्ते सौमित्रे मम द्रक्ष्यन्ति विक्रमम् ।

नाकाशमुत्पत्तिष्यन्ति सर्वभूतानि लक्ष्मण ॥ ६४ ॥

हे लक्ष्मण ! मैं उनको (देवताओं को) अभी अपना पराक्रम दिखला दूँगा । आकाश में जाकर भी कोई न बच सकेगा ॥ ६४ ॥

मम चापगुणोन्मुक्तैर्बाणजालैर्निरन्तरम् ।

अर्दितं मम नाराचैर्ध्वस्तभ्रान्तमृगद्विजम् ॥ ६५ ॥

हे लक्ष्मण ! आज मेरे धनुष से छूटे हुए तीरों से समस्त प्राणी निरन्तर आहत होंगे । मृग व पक्षी सब के सब तीरों से घायल हो कर तथा घबड़ा कर नष्ट हो जायंगे ॥ ६५ ॥

समाकुलममर्यादं जगत्पश्याद्य* लक्ष्मण ।

आकर्णपूर्णैरिषुभिर्जीविलोकं दुरासदैः† ॥ ६६ ॥

करिष्ये मैथिलीहेतोरपिशाचमराक्षसम् ।

मम रोषप्रयुक्तानां सायकानां बलं सुराः ॥ ६७ ॥

द्रक्ष्यन्त्यद्य विमुक्तानामतिदूरातिगामिनाम् ।

नैव देवा न दैतेया न पिशाचा न राक्षसाः ॥ ६८ ॥

हे लक्ष्मण ! देखना, सारा जगत् घबड़ा कर मर्यादा त्याग देगा । सीता के लिये मैं कमान का रोदा कान तक खींच कर, ऐसे बाण छोड़ूँगा, जिन्हें कोई न सह सकेगा और मैं इस जगत की पिशाचों और राक्षसों से शून्य कर दूँगा । आज मेरे उन बाणों की महिमा को, जिन्हें मैं क्रोध में भर चलाऊँगा और जो बहुत दूर तक चले जायेंगे, देवता लोग देखेंगे । न तो देवता, न दैत्य न पिशाच और न राक्षस ही ॥ ६६ ॥ ६७ ॥

* पाठान्तरे—“ जगत्पश्यार्य । ” †पाठान्तरे...दुरावरैः । ”

भविष्यन्ति मम क्रोधात्रैलोक्ये विप्रणाशिते ।

देवदानवयक्षाणां लोका ये रक्षसामपि ॥ ६९ ॥

क्रोध में भर इस त्रैलोक्य का नाश करते समय मेरे सामने टिक सकेंगे । देवताओं, दान औं, यज्ञों और राक्षसों के भोजा लाकर हैं ॥ ६९ ॥

बहुधा न भविष्यन्ति वाणीघैः शक्तीकृताः ।

निर्मर्यादानिमाँलोकान्करिष्याम्यद्य सायकैः ॥ ७० ॥

वे मेरे तीरों की मार से खण्ड खण्ड हो कर नीचे गिर पड़ेंगे ।
मैं अपने बाणों की मार से आज लोकों की मर्यादा भङ्ग कर दूँगा ॥ ७० ॥

हृतां मृतां वा सौमित्रे न दास्यन्ति ममेश्वराः ।

तथारूपां हि वैदेहीं न दास्यन्ति यदि प्रियाम् ॥ ७१ ॥

यदि देवता लोग मेरी सीता को जो भले ही हर ली गयी हो
या मर ही क्यों न गयी हो, सकुशल मुझे न देवेंगे ॥ ७१ ॥

नाशयामि जगत्सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।

इत्युक्त्वा रोषाताम्राक्षो रामो निष्पीड्य कार्मुकम् ॥ ७२ ॥

तो मैं चराचर सहित सारे जगत ही को नहीं, प्रत्युत तीनों
लोकों को नष्ट कर डालूँगा । इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने क्रोध
के मारे नेत्रों को लाल लाल कर, हाथ में धनुष लिया ॥ ७२ ॥

शरमादाय सन्दीप्तं घोरमाशीविषोपमम् ।

सन्धाय धनुषि श्रीमानरामः परपुरञ्जयः ॥ ७३ ॥

फिर चमचमाता और सर्प के विष के समान भयझर बाण
ले, शत्रुनाशकारी श्रीमान रामचन्द्र ने धनुष पर रखा ॥ ७३ ॥

युगान्ताग्निरिव क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ।

यथा जरा यथा मृत्युर्यथा कालो यथा विधिः^१ ॥ ७४ ॥

नित्यं न प्रतिहन्यन्ते सर्वभूतेषु लक्षणं ।

तथाऽहं क्रोधसंयुक्ता न निवार्योऽस्मि सर्वथा ॥ ७५ ॥

और प्रलय कालीन अग्नि की तरह क्रुद्ध हो यह वचन बोले—
हे लक्षण ! जिस प्रकार से बुढ़ापा, मृत्यु और भाण्य प्राणी मात्र
के रोके नहीं रोके जा सकते, उसी प्रकार क्रोध से युक्त मुझको भी
कोई किसी प्रकार भी नहीं रोक सकता ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

पुरेव मे चारुदतीमनिन्दितां

दिशन्ति सीतां यदि नाद्य मैथिलीम् ।

सदेवगन्धर्वमनुष्यपन्नगं

जगत्सशैलं ^१परिवर्तयाम्यहम् ॥ ७६ ॥

इति चतुःष्टितमः सर्गः ॥

सुन्दर दीत वाली, निन्दा रहित मैथिली सीता यदि मुझे न
मिली तो मैं देव, गन्धर्व, मनुष्य, पन्नग और पहाड़ों सहित सारे
जगत को नष्ट कर डालूँगा ॥ ७६ ॥

अररयकाण्ड का चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—————*

१ विधिः—अदृष्टं । (गो०) २ परिवर्तयामि—नाशयामि । (गो०)

पञ्चषष्टितमः सर्गः

—:*:—

तप्यमानं तथा रामं सीताहरणकर्शितम् ।
 लोकानामभवे युक्तं संवर्तकमिवानलम् ॥ १ ॥
 वीक्षमाणं धनुः सज्यं निःश्वसन्तं पुनः पुनः ।
 दग्धुकामं जगत्सर्वं युगान्ते तु यथा हरम् ॥ २ ॥
 अदृष्टपूर्वं संक्रुद्धं दृष्टा रामं तु लक्षणः ।
 अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं मुखेन परिशुष्यता ॥ ३ ॥

सीता जी के हरण से क्लेशित और सन्तप्त और प्रलय कालोन अग्नि की तरह लोकों का नाश करने में तत्पर, बार बार रोदा युक्त धनुष को देखते हुए, बार बार लंबी साँसें लेते हुए, तथा युग के अन्त में सम्पूर्ण जगत् की रुद्र की तरह भस्म करने को तत्पर, अपूर्व विलक्षण क्रोध से युक्त, श्रीरामचन्द्र जी को देख, लक्ष्मण जी हाथ जोड़ कर उनसे बोले । (उस समय) मारे डर के लक्ष्मण जी का मुख सूख गया था ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

पुरा भूत्वा मृदुर्दान्तः सर्वभूतहिते रतः ।
 न क्रोधवशमापन्नः प्रकृतिं हातुर्मर्हसि ॥ ४ ॥

आप दयालु स्वभाव, जितेन्द्रिय और प्राणिमात्र के हित में रत होकर, इस समय क्रोध के वशवर्ती हो, अपने स्वभाव को न त्यागिये ॥ ४ ॥

चन्द्रे लक्ष्मीः प्रभा सूर्ये गतिर्वायौ भुवि क्षमा ।

एतच्च नियतं सर्वं त्वयि चानुत्तमं यशः ॥ ५ ॥

जैसे चन्द्रमा में श्री, सूर्य में प्रभा, वायु में गति और पृथ्वी में
क्षमा नियमित रूप से रहती है, वैसे ही आपमें इन चारों गुणों के
सहित उत्तम यश स्थित है ॥ ५ ॥

एकस्य नापराधेन लोकान्हन्तुं त्वर्महसि ।

न तु जानामि कस्यायं भग्नः सांग्रामिको रथः ॥ ६ ॥

केन वा कस्य वा हेतोः सायुधः सपरिच्छदः ।

खुरनेमिक्षतश्चायं सित्को रुधिरविन्दुभिः ॥ ७ ॥

आपको यह उचित नहीं कि, एक के अपराध से सम्पूर्ण जगत
का नाश करें। अभी तो यह भी नहीं मालूम कि, यह किसका
अस्त्रशब्दों सहित तथा सपरिकर संग्राम रथ टूट पड़ा है और
किसने और क्यों इसको तोड़ा है। यह स्थान खुर और रथ के
पहियों से खुदा हुआ तथा लोह की बूँदों से छिटकाया हुआ देख
पड़ता है ॥ ६ ॥ ७ ॥

देशो निर्वृत्तसंग्रामः सुघोरः पार्थिवात्मज ।

एकस्य तु विमर्देऽयं न द्रयोर्वदतां वर ॥ ८ ॥

हे राजकुमार ! अतः अवश्य ही यहाँ घोर संग्राम हुआ है ।
साथ ही यह भी जान पड़ता है कि, एक रथी के साथ किसी पशु
का युद्ध हुआ है; दो जनों का युद्ध नहीं हुआ ॥ ८ ॥

न हि वृत्तं हि पश्यामि बलस्य महतः पदम् ।

नैकस्य तु कृते लोकान्विनाशयितुमर्हसि ॥ ९ ॥

बड़ो सेना के चरणचिन्ह भी यहाँ पर नहीं देख पड़ते । इस लिये आपको एक के पीछे समस्त लोकों का नाश करना ठीक नहीं ॥ ६ ॥

युक्तादण्डा हि मृदवः प्रशान्ता वसुधाधिपाः ।

सदा त्वं सर्वभूतानां शरण्यः परमा गतिः ॥ १० ॥

राजा लोग अपराध के अनुसार दण्ड देने वाले होने पर भी दयालु और शान्त स्वभाव हुआ करते हैं और आप तो सदा सब प्राणियों को शरण देने वाले और उनकी परमगति हैं ॥ १० ॥

को नुदारप्रणाशं ते साधु मन्येत राघव ।

सरितः सागराः शैला देवगन्धर्वदानवाः ॥ ११ ॥

हे राघव ! आपकी खी का नष्ट होना कौन अच्छा मानता है ।
नदी, समुद्र, पर्वत, देव, गन्धर्व और दानव ॥ ११ ॥

नालं ते विप्रियं कर्तुं दीक्षितस्येव साधवः^१ ।

येन राजन्हृता सीता तमन्वेषितु मर्हसि ॥ १२ ॥

इनमें से कोई भी आपका चिंगाड़ नहीं कर सकता, जैसे ऋत्विज यज्ञदीक्षा प्राप्त पुरुष का अप्रिय नहीं कर सकते । हे राजन् ! जिसने सीता चुराई है, उसकी तलाश करना चाहिये ॥ १२ ॥

मद्द्वितीयो धनुष्पाणिः सहायैः परमर्षिभिः ।

समुद्रं च विचेष्यामः पर्वतांश्च वनानि च ॥ १३ ॥

गुहाश्च विविधा घोरा नदीः पद्मवनानि च ।

देवगन्धर्वलोकांश्च विचेष्यामः समाहिताः ॥

यावन्नाधिगमिष्यामस्तव भार्यापहारिणम् ॥ १४ ॥

^१ साधवः—ऋत्विजः । (गो०)

इस काल में भी, मैं धनुष को ले आपका सहायक होऊँगा । महर्षि भी आपको इस कार्य में सहायता देंगे । हम लोग जब तक सीता का हरण करने वाले का पता न लगा लेंगे, तब तक समुद्र, पर्वत, वन, भयानक गुफाएँ, कमलों सहित अनेक ताल तलैयाँ, देव और गन्धर्वों के लोकों में चल, सावधानी से ढूँढ़ते ही रहेंगे ॥१३॥१४॥

न चेत्साम्ना प्रदास्यन्ति पवीं ते त्रिदशेश्वराः ।
कोसलेन्द्र ततः पश्चात्प्राप्तकालं करिष्यसि ॥ १५ ॥

इस पर भी यदि देवतागण सीधी तरह आपकी पली को ला कर, उपस्थित न करेंगे, तो हे कौशलेन्द्र ! उनको दण्ड दीजियेगा ॥ १५ ॥

शीलेन साम्ना विनयेन सीतां
नयेन न प्राप्स्यसि चेन्नरेन्द्र ।
ततः समुत्पाटय हेमपुङ्गै-
र्महेन्द्रवज्रप्रतिमैः शरौघैः ॥ १६ ॥

इति पञ्चषष्ठितमः सर्गः ॥

हे नरेन्द्र ! शील, साम, विनय और नीति से यदि सीता आपको न मिले, तो आप इन्द्र के वज्र के समान सौने के पुंखों वाले तीरों से लोकों को नष्ट कर डालियेगा ॥ १६ ॥

अरण्यकाण्ड का पैसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।



षट् षष्ठितमः सर्गः

—*—

तं तथा शोकसन्तप्तं विलपन्तभनाथवत् ।

मोहेन महताऽविष्टं परिद्यूनमचेतनम् ॥ १ ॥

लह्मण के इस प्रकार समझाने पर भी शोकसन्तस, अनाथ की तरह विलाप करते, महामोह से युक्त, मारे चिन्ता के चेतना रहित ॥ १ ॥

ततः सौमित्रिराश्वास्य मुहूर्तादिव लक्ष्मणः ।

रामं संबोधयामास चरणौ चाभिपीडयन् ॥ २ ॥

श्रीराम को लह्मण जी उनके चरण पकड़ कर, एक मुहूर्त तक समझाते हुए, कहने लगे ॥ २ ॥

महता तपसा राम महता चापि कर्मणा ।

राजा दशरथेनासि लब्धोऽमृतमिवामरैः ॥ ३ ॥

हे राम ! महाराज दशरथ ने बड़े जप, तप और कर्मानुष्ठान कर के आपको उसी प्रकार प्राप्त किया था, जिस प्रकार बड़े बड़े प्रयत्न कर, देवताओं ने अमृत प्राप्त किया था ॥ ३ ॥

तव चैव गुणैर्बद्धस्त्वद्वियोगान्महीपतिः ।

राजा देवत्वमापन्नो भरतस्य यथा श्रुतम् ॥ ४ ॥

महाराज, तुम्हारे गुणों पर मुग्ध हो, तुम्हारे वियोग में, देवलोक को प्राप्त हुए हैं। यह बात हम लोगों को भरत जी से अवगत हो चुकी है ॥ ४ ॥

यदि दुःखमिदं प्राप्तं काकुत्स्थ न सहिष्यसे ।
प्राकृतश्चाल्पसत्त्वश्च इतरः कः सहिष्यति ॥ ५ ॥

हे काकुत्स्थ ! यदि आप ही इस प्राप्ति हुए दुःख को न सहेंगे, तो अज्ञानी और अल्पबुद्धि वाले दूसरे लोगों में कौन सह सकेगा ॥ ५ ॥

[आश्वासिहि नरश्रेष्ठ प्राणिनः कस्यनापदः ।
संस्पृश त्वग्निवद्राजन् क्षणेन् व्यप्यान्तिच ॥ ६ ॥]

हे नरश्रेष्ठ ! आप अपने चित्त को सँभालिये । क्योंकि कौन ऐसा प्राणी है, जिस पर विपत्ति नहीं पड़ती और अग्नि की तरह स्पर्श कर, ज्ञान भर ही में निकल नहीं जाती ॥ ६ ॥

लोकस्य भाव एवैष ययातिर्नहुषात्मजः ।
गतः शक्रेण सालोक्यमनयस्तं तमः स्पृशत् ॥ ७ ॥

लोक का स्वभाव ही यह है । देखिये राजा नहुष के पुत्र ययाति स्वर्ग में जा कर भी अपनी उद्दण्डता से च्युत हुए ॥ ७ ॥

महर्षिर्यो वसिष्ठस्तु यः पितुर्नः पुरोहितः ।
अहा त्रशतं जडे तथैवास्य पुनर्हतम् ॥ ८ ॥

फिर हमारे पिता के पुरोहित महर्षि वशिष्ठ जी के सौ पुत्रों को एक ही दिन में विश्वामित्र ने मार डाला ॥ ८ ॥

या चेयं जगतां माता देवी लोकनमस्तुता ।
अस्याश्च चलनं भूमेर्दश्यते सत्यसंश्रव ॥ ९ ॥

हे सत्यप्रतिज्ञ ! जगन्माता, सर्वपूज्या यह पृथ्वी भी स्थिर नहीं है । भूकम्पादि दुःख इस पर भी पड़ा करते हैं ॥ ९ ॥

यौ धर्मौ जगतां नेत्रौ यत्र सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

आदित्यचन्द्रौ ग्रहणमभ्युपेतौ महाबलौ ॥ १० ॥

ज्ञेय सूर्य चन्द्र जगत् के नेत्र और साक्षात् धर्म स्वरूप हैं और जिनमें समस्त संसार टिका हुआ है, सो इन दोनों महाबलियों को भी राहु केतु ग्रस लेते हैं ॥ १० ॥

'सुमहान्त्यपि भूतानि देवाश्च पुरुषर्षभ ।

न दैवस्य प्रमुञ्चन्ति सर्वभूतादिदेहिनः^२ ॥ ११ ॥

हे पुरुषश्चेष्ट ! राजा मान्धाता, नल आदि जैसे बड़े बड़े लोग और देवता भी तो सर्वान्तर्यामी दैव से क्लृप्तकारा नहीं पा सकते ॥ ११ ॥

शक्रादिष्वपि देवेषु वर्तमानौ नयानयी ।

श्रूयेते नरशार्दूल न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ १२ ॥

इन्द्रादि देवता भी नीति अनीति से उत्पन्न सुख और दुःख भोगते हुए सुने जाते हैं । अतः आप दुःखी न हों ॥ १२ ॥

नष्टायामपि वैदेह्यां हृतयामपि चानघ ।

शोचितुं नार्हसे वीर यथाऽन्यः प्राकृतस्तथा ॥ १३ ॥

हे अनघ ! हैं वीर ! चाहे जानकी मार डाली गयी हो अथवा हर ही क्यों न लो गयी हो । तो भी आपको साधारण लोगों की तरह शोक करना उचित नहीं ॥ १३ ॥

त्वद्विधा न हि शोचन्ति सततं सत्यदर्शिनः ।

सुमहत्स्वपि कृच्छ्रेषु रामानिर्विषणदर्शनाः ॥ १४ ॥

^१ सुमहान्त्यपि भूतानि—मान्धातृबलप्रभृति महाजना अपि । (गो०)

^२ सर्वभूतादिदेहिनः—सर्वभूतान्तर्यामिणदत्यर्थः । (गो०)

क्योंकि आप जैसे निरन्तर व्यार्थदर्शी महात्मा शोक से विकल नहीं होते । प्रत्युत बड़े बड़े कलेशकारो स्थानों अथवा अवसरों में भी ऐसे लोग विगत शोक देख पड़ते हैं ॥ १४ ॥

तत्त्वतो हि नरश्रेष्ठ बुद्धया समनुचिन्तय ।

बुद्धया युक्ता महाप्राज्ञा विजानन्ति शुभाशुभे ॥ १५ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! आप अपनी बुद्धि से इसका ठीक ठीक विचार कीजिये । क्योंकि जो बुद्धिमान् होते हैं, वे अपनी बुद्धि ही से शुभ और अशुभ जान लेते हैं ॥ १५ ॥

अदृष्टगुणदोषाणामध्रुवाणांतु कर्मणाम् ।

नान्तरेण क्रियां तेषां फलमिष्टं प्रवर्तते ॥ १६ ॥

जिन कर्मों के गुण दोष प्रत्यक्ष देखने में नहीं आते, ऐसे अस्थिर कर्मों के अवृष्टान से, इश्वर की प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है ॥ १६ ॥

त्वमेव हि पुरा राम मामेवं वहुशोऽन्वशाः^१ ।

अनुशिष्याद्वि को नु त्वामपि साक्षाद्बृहस्पतिः ॥ १७ ॥

हे वीर ! आप ही ने मुझे पहले कितना न्याय और अन्याय सम्बन्धो उपदेश दिया था, सो भला आपको उपदेश देने में तो साक्षात् बृहस्पति भी समर्थ नहीं हैं ॥ १७ ॥

बुद्धिश्च ते महाप्राज्ञ देवैरपि दुरन्वयाः^२ ।

शोकेनाभिप्रसुप्तं ते ज्ञानं सम्बोधयाम्यहम् ॥ १८ ॥

^१ अन्वशाः—अनुशासित ज्ञानसि । (गो०) ^२ दुरन्वया—दुर्लभा । (गो०)

हे महाप्राज्ञ ! आपकी बुद्धि को देवता लोग भी नहीं पा सकते ।
किन्तु इस समय शोक के कारण आपका ज्ञान जो सो रहा है, उसे
मैं जगाता हूँ ॥ १८ ॥

दिव्यं च मानुषं च त्वमात्मनश्च पराक्रमम् ।

इक्ष्वाकुवृषभावेक्ष्य यतस्व द्विषतां वधे ॥ १९ ॥

हे इक्ष्वाकुश्रेष्ठ ! आप अपने दिव्य और मानवी पराक्रम की
ओर देख कर, शत्रुवध का प्रयत्न कीजिये ॥ १९ ॥

किं ते सर्वविनाशेन कृतेन पुरुषर्षभ ।

तमेव त्वं रिपुं पापं विज्ञायोद्दर्तुर्महसि ॥ २० ॥

इति षट्पष्टितमः सर्गः ॥

हे पुरुषश्रेष्ठ ! सब का नाश कर आप क्या कीजियेगा । आप
उसी अपने शत्रु को खोजिये, जिसने सीता हरी है और उसीका
आप नाश भी कीजिये ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का छ्याछ्निवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

सप्तपष्टितमः सर्गः

—;*;—

पूर्वजोऽप्युक्तमात्रस्तु लक्ष्मणेन सुभाषितम् ।

सारग्राही महासारं प्रतिजग्राह राघवः ॥ १ ॥

जब लक्ष्मण ने श्रीरामचन्द्र को इस प्रकार समझाया, तब
सारग्राही श्रीरामचन्द्र शान्त हुए ॥ १ ॥

सन्निगृह्य महावाहुः प्रवृत्तं कोपमात्मनः ।

अवश्य धनुश्चित्रं रामो लक्ष्मणमब्रवीत् ॥ २ ॥

और महावाहु श्रीरामचन्द्र ने क्रोध को त्याग और अपने विचित्र धनुष की प्रत्यञ्चा उतार लक्ष्मण से कहा ॥ २ ॥

किं करिष्यावहे वत्स कवा गच्छाव लक्ष्मण ।

केनोपायेन पश्येयं सीतामिति विचिन्तय ॥ ३ ॥

हे वत्स लक्ष्मण ! अब क्या करूँ और कहाँ जाऊँ ? अब यह सोचो कि, सीता के पाने के लिये क्या उपाय किया जाय ? ॥ ३ ॥

तं तथा परितापार्तं लक्ष्मणो राममब्रवीत् ।

इदमेव जनस्थानं त्वमन्वेषितुमर्हसि ॥ ४ ॥

तब अत्यन्त सन्तस श्रीरामचन्द्र जी से लक्ष्मण ने कहा—आप इसी जनस्थान में सीता को खोजिये ॥ ४ ॥

राक्षसैर्वहुभिः कीर्णं नानादुमलतायुतम् ।

सन्तीह गिरिदुर्गाणि १निर्दराः कन्दराणि च ॥ ५ ॥

क्योंकि यहाँ बहुत से राक्षस रहा करते हैं और यहाँ अनेक वृक्ष, लता, दुर्गम पर्वत घाटियाँ और कन्दराएँ हैं ॥ ५ ॥

गुहाश्च विविधा घोरा नानामृगगणाकुलाः ।

आवासाः किन्नाराणां च गन्धर्वभवनानि च ॥ ६ ॥

वे कन्दराएँ विविध प्रकार के भयङ्कर जीव जन्तुओं से भरी हैं । यहाँ अनेक किन्नरों के निवासस्थान और गन्धर्वों के भवन भी हैं ॥ ६ ॥

१ निर्दराः—विदीर्णपाषाणाः । (१०)

तानि युक्तो मया सार्धं त्वमन्वेषितुमर्हसि ।

त्वद्विधा बुद्धिसम्पन्ना महात्मानो नर्षभ ॥ ७ ॥

उन सब को आप मेरे साथ चल कर भली भाँति छूटिये । आप जैसे महात्मा, बुद्धिमान् और नृपतिश्रेष्ठ ॥ ७ ॥

आपत्सु न प्रकम्पन्ते वायुवेगैरिवाचलाः ।

इत्युक्तस्तद्वनं सर्वं विचचार सलक्षणः ॥ ८ ॥

सङ्कट के समय वैसे ही कभी विचलित नहीं होते, जैसे वायु के भोकों से पर्वत नहीं हिलाया जा सकता । लक्षण जी के कहने को मान, श्रीरामचन्द्र जी लक्षण सहित उस सप्तस्त वन में विचरने लगे ॥ ८ ॥

क्रुद्धो रामः शरं घोरं सन्धाय धनुषि क्षुरम् ।

ततः पर्वतकूटाभं महाभागं द्विजोत्तमम् ॥ ९ ॥

क्रुद्ध हो कर श्रीरामचन्द्र जी ने अपने धनुष पर बड़ा पैना और महाभयङ्कर कुरा के नाम से प्रसिद्ध बाण चढ़ा लिया ॥ ९ ॥

ददर्श पतितं भूमौ क्षतजार्द्धं जटायुषम् ।

तं दृष्ट्वा गिरिशृङ्गाभं रामो लक्षणप्रवीत् ॥ १० ॥

कुछ दूर आगे जाने पर श्रीरामचन्द्र ने पर्वत के शिखर की तरह विशालकाय और रुधिर से तर उस महाभाग पत्निराज जटायु को भूमि पर पड़ा देखा । उसे देख श्रीरामचन्द्र जी ने लक्षण से कहा ॥ १० ॥

अनेन सीता वैदेही भक्षिता नात्र संशयः ।

गृथरूपमिदं रक्षो व्यक्तं भवति कानने ॥ ११ ॥

देखो, निस्सन्देह इसीने सीता को खाया है। अवश्य ही यह गृह्ण का रूप धारण किये कोई राज्ञस है और इसी बन में धूमता फिरता है ॥ ११ ॥

भक्षयित्वा विशालाक्षीमास्ते सीतां यथासुखम् ।

एनं वधिष्ये दीपास्यैर्घरैर्बाणैरजिह्वगैः ॥ १२ ॥

देखो यह राज्ञस विशालनेत्रों वाली सीता को खा कैसे सुख से बैठा हुआ है। अतः मैं सोधे जाने वाले और अग्नि की तरह चम चमाते भयङ्कर बाणों से इसका वध करूँगा ॥ १२ ॥

इत्युक्त्वाऽभ्यपतदगृध्रं सन्धाय धनुषि क्षुरम् ।

क्रुद्धो रामः समुद्रान्तां कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ १३ ॥

यह कह कर और क्रोध कर, आसमुद्र पृथ्वी को कंपाते हुए, श्रोरामचन्द्र जो ने धनुष पर जुर नामक बाण रखा और तदनन्तर वे उसे देखने के लिये उसके समीप गये ॥ १३ ॥

तं दीनं दीनया वाचा सफेनं रुधिरं वमन् ।

अभ्यभाषत पक्षी तु रामं दशरथात्मजम् ॥ १४ ॥

इनको आते देख, बेवारे जटायु ने, फेनयुक रुधिर की वमन कर और अत्यन्त दुःखी हो दशरथनन्दन श्रोरामचन्द्र से कहा ॥ १४ ॥

यामोषधिमिवायुष्मन्नेषसि महावने ।

सा देवी मम च प्राणा रावणोभयं हृतम् ॥ १५ ॥

हे आयुष्मन् ! औषधि की तरह तुम जिसे इस महावन में हड्डते फिरते हो, उस देवी सीता को और मेरे प्राणों को रावण ने निर्भय हो हर लिया है ॥ १५ ॥

त्वया विरहिता देवी लक्ष्मणेन च राघव ।

हियमाणा मया दृष्टा रावणेन बलीयसा ॥ १६ ॥

हे राघव ! महाबली रावण को, आपकी और लक्ष्मण की अनु-पस्थिति में सूने आश्रम से सीता को हर कर ले जाते हुए मैंने देखा है ॥ १६ ॥

सीतामभ्यवपन्नोऽहं रावणश्च रणे मया ।

विध्वंसितरथश्चात्र पातितो धरणीतले ॥ १७ ॥

सीता को ले जाते देख, मैंने रावण का सामना किया और उससे युद्ध कर उसके रथ को तोड़ कर, यहाँ गिरा दिया ॥ १७ ॥

एतदस्य धनुर्भग्नेतदस्य शरावरम् ।

अयमस्य रथो राम भग्नः सांग्रामिको मया ॥ १८ ॥

हे श्रीराम ! देखिये, वह तो उसका दूटा हुआ धनुष पड़ा है और यह उसका बढ़िया बाण दूटा पड़ा है । मेरा तोड़ा हुआ यह उसका संग्राम-रथ पड़ा है ॥ १८ ॥

अयं तु सारथिस्तस्य मत्पक्षो निहतो युधि ।

परिश्रान्तस्य मे पक्षौ च्छ्रवा खड्डेन रावणः ॥ १९ ॥

यह सारथी भी उसीका है, जिसे युद्ध में मैंने अपने पंखों के प्रहार से मार कर पृथिवी पर पटक दिया था । मुझे थका हुआ देख, रावण ने तलबार से मेरे पंख काट डाले ॥ १९ ॥

सीतामादाय वैदेहीमुत्पपात विहायसम् ।

रक्षसा निहतं पूर्वं न मां हन्तुं त्वर्महसि ॥ २० ॥

और सीता को ले वह आकाशमार्ग से चला गया । राज्ञस ने तो पहिले ही मुझे मार डालने में कुछ उठा नहीं रखा, अतः आपको मेरा वध करना उचित नहीं ॥ २० ॥

रामस्तस्य तु विज्ञाय बाष्पपूर्णमुखस्तदा ।

द्विगुणीकृततापार्तः सीतासक्तां प्रियां कथाम् ॥ २१ ॥

गृध्रराजं परिष्वज्य परित्यज्य महद्भुः ।

निपपातावशो भूमौ रुरोद सहलक्ष्मणः ॥ २२ ॥

श्रीरामचन्द्र इस प्रकार उसकी दशा देख और उसके मुख से व्यारी सीता का वृत्तान्त सुन, दूने दुःखी हुए । तदनन्तर जटायु को छाती से लगा और धनुष को फेंक, पृथिवी पर गिर, लक्ष्मण सहित रोने लगे ॥ २१ ॥ २२ ॥

^१एकमेकायने दुर्गे निःश्वसन्तं कथञ्चन ।

समीक्ष्य दुःखितरं रामः सौमित्रिमब्रवीत् ॥ २३ ॥

अकेले मनुष्य के जाने योग्य मार्ग वाले विकट स्थान में पड़े और कभी कभी सांस लेते हुए जटायु को देख ; शोक से विकल हो, श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण से कहा ॥ २३ ॥

राज्याद्द्वंशो वने वासः सीता नष्टा द्विजो हतः ।

ईदृशीयं ममालक्ष्मीर्निर्दहेदपि पावकम् ॥ २४ ॥

राज्य से भ्रष्ट, वन में वास, सीताहरण और इस पक्षी का मरण, ये सब मेरे खोये भाग्य के हो परिणाम हैं । इस प्रकार का मेरा खोटा भाग्य यदि चाहे तो अग्नि को भी भस्म कर सकता है ॥ २४ ॥

^१ एकमेकायने—एकमात्रजनगम्ये अतएव कृछ्ले देशेषतित मितिशेषः । (शि०)

सम्पूर्णमपि चेदद्य प्रतरेयं^१ महोदधिम् ।

सोऽपि नूनं ममालक्ष्म्या विशुष्येत्सरितां पतिः ॥ २५ ॥

मैं अपने भाग्य का क्या बखान करूँ । यदि मैं अपने सन्ताप की शान्ति के लिये समुद्र में कूदूँ, तो वह भी मेरे खोटे भाग्य से सूख जाय ॥ २५ ॥

नास्त्यभाग्यतरो लोके मत्तोऽस्मिन्सचराचरे ।

येनेयं महती प्राप्ता मया व्यसनवागुरा ॥ २६ ॥

हे भाई ! इस चराचर जगत में, मेरे तुल्य अभाग कोई न होगा । क्योंकि इसीके कारण, मुझे महादुःख रूपी जाल में फँसना पड़ा है ॥ २६ ॥

अयं पितृवयस्यो^२ मे गृध्रराजो जरानिवितः ।

शेते विनिहतो भूमौ मम भाग्यविपर्ययात् ॥ २७ ॥

देखो यह वृद्ध गृद्धराज जटायु मेरे पिता का मित्र है । मेरा भाग्य लौट जाने से यह भी मृत हो पृथिवी पर पड़ा है ॥ २७ ॥

इत्येवमुक्त्वा बहुशो राघवः सहलक्ष्मणः ।

जटायुषं च पस्पर्शं पितृस्नेहं विदर्शयन् ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण जी से अनेक बातें कहीं । तदनन्तर लक्ष्मण जी सहित श्रीरामचन्द्र ने पिता समान स्नेह दिखलाते हुए जटायु को स्पर्श किया ॥ २८ ॥

निकृतपक्षं रुधिरावसिक्तं

स गृध्रराजं परिरभ्य रामः ।

^१ पतरेयं — तापशान्तेयेष्टवेयं चेत् । (गो०) ^२ पितृवयस्यः — सखा । (गो०)

कव मैथिली प्राणसमा ममेति

विमुच्य वाचं निपपात भूमौ ॥ २९ ॥

इति सप्तषष्ठितमः सर्गः ॥

पंख कटे हुए और सधिर में सने गीधों के राजा जटायु के शरीर पर हाथ फेर, श्रीरामचन्द्र ने उससे यह बात पूछी कि, “मेरी वह प्राण समान सीता कहाँ है ?” यह कह श्रीरामचन्द्र जी पृथिवी पर गिर पड़े ॥ २६ ॥

अरसयकाण्ड का सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

अष्टषष्ठितमः सर्गः

—;*;—

रामः संप्रेक्ष्य तं गृध्रं भुवि रौद्रेणपातितम् ।

सौमित्रिं मित्रसम्पन्नमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

जटायु को, उस भयङ्कर राक्षस के प्रहार से पृथिवी पर पड़ा हुआ देख, श्रीरामचन्द्र जी लक्ष्मण से यह बोले ॥ १ ॥

ममायं नूनमर्थेषु यतमानो विहङ्गमः ।

राक्षसेन हतः संख्ये प्रणास्त्यक्ष्यति दुस्त्यजान् ॥ २ ॥

हे लक्ष्मण ! निश्चय ही यह पक्षी मेरा काम करता हुआ, मेरे लिये ही राक्षस द्वारा लड़ाई में मारा जा कर अब दुस्त्यज प्राणों को त्याग रहा है ॥ २ ॥

अयमस्य^१ शरीरेऽस्मिन्प्राणो लक्षणं विद्यते ।

तथाहि स्वरहीनोऽयं विकृबः समुदीक्षते ॥ ३ ॥

हे लक्षण ! अभी इसके शरीर में थोड़ी थोड़ी जान बाकी है किन्तु इसका स्वर धीमा पड़ गया है और विकल हो, यह हम लोगों को देख रहा है ॥ ३ ॥

जटायो यदि शक्नोषि वाक्यं व्याहरितुं पुनः ।

सीतामारुण्याहि भद्रं ते वधमारुण्याहि चात्मनः ॥ ४ ॥

हे जटायु ! यदि तुममें बोलने की शक्ति हो, तो तुम सीता का वृत्तान्त और अपने वध का हाल मुझसे पुनः कहो । तुम्हारा कल्याण हो ॥ ४ ॥

किन्निमित्तोऽहरत्सीतां रावणस्तस्य किं मया ।

अपराधंतु यं दृष्टा रावणेन हृता प्रिया ॥ ५ ॥

किस लिये रावण ने सीता को हरा । मैंने उसका क्या बिगाड़ा था जिससे वह मेरी प्यारी को हर ले गया ॥ ५ ॥

कथं तच्चन्द्रसङ्काशं मुखमासीन्मनोहरम् ।

सीतया कानि चोक्तानि तस्मिन्काले द्विजोत्तम ॥ ६ ॥

हे पक्षिश्रेष्ठ ! उस समय सीता का वह चन्द्रसम सुन्दर मुख-मण्डल कैसा देख पड़ता था और उस समय सीता ने क्या क्या कहा था ॥ ६ ॥

कथंवीर्यः कथंरूपः किंकर्मा स च राक्षसः ।

क्व चास्य भवनं तात ब्रूहि मे परिपूच्छतः ॥ ७ ॥

^१ अयंप्राणः—सूक्ष्मप्राणः । (गो०)

उस राज्ञस का पराक्रम और रूप कैसा है ? वह राज्ञस का मा क्या करता है और वह रहने वाला कहाँ का है । मैं जो पूछता हूँ सो सब आप बतला दें ॥ ७ ॥

तमुद्धीक्ष्याथ दीनात्मा विलपन्तमनन्तरम् ।

वाचाऽतिसन्नया^१ रामं जटायुर्दिमब्रवीत् ॥ ८ ॥

तब जटायु ने श्रीरामचन्द्र का विलाप सुन, विकल हो बड़ी कठिनता से अर्थात् लड़खड़ाती बाणी से उनसे यह कहा ॥ ८ ॥

हृता सा राक्षसेन्द्रेण रावणेन विहायसा ।

मायामास्थाय विपुलां वातदुर्दिनसङ्कुलाम् ॥ ९ ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! वह दुरात्मा राक्षसेन्द्र रावण, वायु और मेघों की घटा से युक्त बड़ी माया रच कर, सीता को हर कर ले गया है ॥ ९ ॥

परिश्रान्तस्य मे तात पक्षौ च्छित्त्वा स राक्षसः ।

सीतामादाय वैदेहीं प्रयातो दक्षिणां दिशम् ॥ १० ॥

मुझ थके हुए के दोनों पंख काढ, वह राज्ञस सीता को दक्षिण दिशा को चला गया है ॥ १० ॥

उपरुद्ध्यन्ति मे प्राणा दृष्टिर्भ्रमति राघव ।

पश्यामि वृक्षान्सौवर्णानुशीरकृतमूर्धजान् ॥ ११ ॥

हे राघव ! मरण की पीड़ा से मेरे प्राण छटपटा रहे हैं । मेरी आँखों के सामने चक्कर आ रहे हैं । मुझे अपने सामने सौने के वृक्ष, जिनकी चोटियों पर खस जमा है, देख पड़ते हैं ॥ ११ ॥

^१ अतिसन्नया—अतिकाश्यं प्राप्तया । (गो०)

येन यातो मुहूर्तेन सीतामादाय रावणः ।

विप्रनष्टं धनं क्षिप्रं तत्स्वामी प्रतिपद्यते ॥ १२ ॥

हे राम ! जिस घड़ी रावण ने सीता को हरा वह घड़ी ऐसी है कि, उस घड़ी में खोया हुआ धन उसके मालिक को पुनः प्राप्त हो । अथवा नष्ट हुआ धन उसीके स्वामी को मिले ॥ १२ ॥

विन्दो नाम मुहूर्तोऽयं स च काकुत्स्थ नाबुधत् ।

त्वत्प्रियां जानकीं हृत्वा रावणो राक्षसेश्वरः ॥ १३ ॥

हे काकुत्स्थ ! उसके हरणकाल के मुहूर्त का नाम वृन्द था । किन्तु रावण को यह बात मालूम न थी । आपकी प्रिया सीता को हर कर राक्षसेश्वर रावण ॥ १३ ॥

भृषवद्विशं गृहच्य क्षिप्रमेव विनश्यति ।

न च त्वया व्यथा कार्या जनकस्य सुतां प्रति ॥ १४ ॥

बंसी के काँटे को निगलने वाली मछली की तरह शीघ्र ही नाश को प्राप्त होगा । तुमको जानकी के लिये दुःखी न होना चाहिये ॥ १४ ॥

वैदेह्या रंस्यसे क्षिप्रं हृत्वा ते राक्षसं रणे ।

असंमूढस्य गृहस्य रामं प्रत्यनुभाषतः ॥ १५ ॥

क्योंकि तुम शीघ्र युद्ध में उस राक्षस को मार, फिर सीता के साथ विहार करोगे । अतः सावधानता पूर्वक वार्तालाप करते करते ॥ १५ ॥

आस्यात्सुस्नाव रुधिरं म्रियमाणस्व सामिषम् ।

पुत्रो विश्रवसः साक्षाद्भ्राता वैश्रवणस्य च ॥ १६ ॥

मांस और हथिर की उसे वमन हुई। तिस पर भी उसने इतना और बतलाया कि, वह राज्ञस विश्ववा का पुत्र और कुबेर का भाई है ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा दुर्लभान्प्राणान्मुमोच पतगेश्वरः ।

ब्रूहि ब्रूहीति रामस्य ब्रुत्राणस्य कृताञ्जलेः ॥ १७ ॥

यह कह पञ्चिराज जटायु ने अपने दुर्लभ प्राणों को त्याग दिया। उधर श्रीरामचन्द्र जी हाथ जोड़े कह रहे थे कि, आगे कहो; आगे कहो ॥ १७ ॥

त्यक्त्वा शरीरं गृध्रस्य जग्मुः प्राणां विहायसम् ।

स निक्षिप्य शिरो भूमौ प्रसार्य चरणौ तदा ॥ १८ ॥

गीध के शरीर को छोड़ जटायु का आत्मा आकाश में पहुँचा। तब उस पक्षी का सिर पृथिवी पर लटक पड़ा और उसके दोनों पैर फैल गये ॥ १८ ॥

विक्षिप्य च शरीरं स्वं पपात धरणीतले ।

तं गृध्रं प्रेक्ष्य ताम्राक्षं गतासुमचलोपमम् ॥ १९ ॥

शरीर को फैला कर वह पृथिवी पर गिर पड़ा। श्रीरामचन्द्र जी ने पर्वत के समान बड़े भारी डीलडौल के, ताम्रवत् लाल नेत्र वाले गीध को मरा हुआ देखा ॥ १९ ॥

रामः सुबहुभिः दुखैर्दीनः सौमित्रिमब्रवीत् ।

बहूनि रक्षसां वासे वर्षाणि वसता सुखम् ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र जो ने बहुत दुःखी और उदास हो लक्ष्मण से कहा—बहुत काल तक जन-स्थान में सुख पूर्वक रह कर ॥ २० ॥

अनेन दण्डकारणे विशीर्णमिह पक्षिणा ।

अनेकर्वाषिको यस्तु चिरकालसमुत्थितः ॥ २१ ॥

इस पक्षी ने इसी दण्डकारण में प्राण त्यागे हैं (अर्थात् यहाँ रहा और यही प्राण भी त्यागे) यह बहुत काल का पुराना बूढ़ा है ॥ २१ ॥

सोऽयमद्व हतः शेते कालो हि दुरतिक्रमः ।

पश्य लक्ष्मण गृध्रोऽयमुपकारी हतश्च मे ॥ २२ ॥

सीतापश्यवपनो वै रावणेन बलीयसा ।

गृध्रराज्यं परित्यज्य पैतृपैतामहं महत् ॥ २३ ॥

सो वह आज यहाँ मरा हुआ पड़ा है । इसीसे कहा जाता है कि, काल का उलझून कोई नहीं कर सकता । देखो लक्ष्मण ! यह गोध मेंग कैसा उपकारी था । यह सीता को बचाते समय बलवान् रावण के हाथ से मारा गया है । देखो वंशपरम्परागत गृद्धराज्य की परित्याग कर ॥ २२ ॥ २३ ॥

मम हेतोरयं प्राणान्मुमोच पतगेश्वरः ।

सर्वत्र खलु दृश्यन्ते साधवो धर्मचारिणः ॥ २४ ॥

इस पक्षिराज ने ऐरे पीछे अपने प्राण गंवाये हैं । हे लक्ष्मण ! निश्चय ही साधु-स्वभाव और धर्मात्मा सर्वत्र ही पाये जाते हैं ॥ २४ ॥

शूराः शरणः सौमित्रे तिर्यग्येनिगतेष्वपि ।

सीताहरणं दुःखं न मे सौम्य तथागतम् ॥ २५ ॥

सो केवल मनुष्यों ही में नहीं, किन्तु पशुपक्षियों में भी वीर और शरण आये हुए की रक्षा करने वाले पाये जाते हैं । हे सौम्य !

सीता जी के हरे जाने का मुझे उतना अब क्लैश नहीं है, जितना कि, ॥ २५ ॥

यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परन्तप ।

राजा दशरथः श्रीमान्यथा मम महायशाः ॥ २६ ॥

पूजनीयश्च मान्यश्च तथाऽयं पतगेश्वरः ।

सौमित्रे हर काष्ठानि निर्मथिष्यामि पावकम् ॥ २७ ॥

मुझे मेरे लिये प्राण गँवाने वाले इस गृद्ध के मरने का है। जिस प्रकार महायशस्वी महाराज दशरथ मेरे पूज्य और मान्य थे, उसी प्रकार पूज्य और मान्य यह पक्षिराज है। हे लक्ष्मण ! तुम जा कर लकड़ियाँ ले आओ। मैं लकड़ियाँ रगड़ कर अग्नि उत्पन्न करूँगा ॥ २६ ॥ २७ ॥

गृध्रराजं दिधक्षामि मत्कृते निधनं गतम् ।

देहं पतगराजस्य* चितामारोप्य राघव ॥ २८ ॥

जो गृद्धराज मेरे पीछे मारा गया है, उसका दाह मैं करूँगा। यह कह श्रीरामचन्द्र जी ने जटायु के मृत शरीर को चिता पर रखा ॥ २८ ॥

इमं धक्ष्यामि सौमित्रे हतं रौद्रेण रक्षसा ।

या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः ॥ २९ ॥

फिर लक्ष्मण से कहा कि, मैं इस गीधराज का, जिसे भयङ्कर कर्म करने वाले रावण ने मार डाला है, दाहकर्म करता हूँ। (फिर जटायु के आत्मा को संबोधन कर श्रीरामचन्द्र जी बोले) जो गति अश्वमेधादि यज्ञ करनेवालों को, जो गति अग्निहोत्रादि कर्म करने वालों को मारने के बाद प्राप्त होती है, वह तुझे प्राप्त हो ॥ २८ ॥

* पाठान्तरे—“ नाथं पतगलोकस्य ” ।

अपरावर्तिनां या च मा च भूमिप्रदायिनाम् ।

मया त्वं समुद्गातो गच्छ लोकाननुत्तमान् ॥ ३० ॥

जो गति (या लोक) मुमुक्षुओं को, जो गति (या लोक) भूमिदान करने वालों को प्राप्त होती हैं उन उत्तम गतियों (लोकों) को तुम मेरी आङ्गा से प्राप्त हो ॥ ३० ॥

[नोट—इस प्रमद्ध से यह बात निष्पत्त होती है कि, कर्मजानादि से भी कहीं बढ़ कर भगवत्कैर्क्य की महिमा है ।]

गृध्रराज महासत्त्व संस्कृतश्च मया ब्रज ।

एवमुक्त्वा चितां दीप्तामारोप्य पतगेश्वरम् ॥ ३१ ॥

हे महावली गृध्रराज ! मैंने तुम्हारा अन्तिम संस्कार किया है । अब तुम जाओ । यह कह कर और गोध के मृत शरीर को चिता पर रख उसमें श्रीरामचन्द्र ने आग लगा दी ॥ ३१ ॥

ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दुःखितः ।

रामोऽथ सहस्रौमित्रिवर्वनं गत्वा स वीर्यवान् ॥ ३२ ॥

धर्मात्मा अर्थात् कृतज्ञ श्रीरामचन्द्र अपने भाई बन्द की तरह जटायु का दाहकर्म कर, दुःखी हुए । तदनन्तर पराकमी श्रीरामचन्द्र लद्मण जी के साथ वन में जा, ॥ ३२ ॥

स्थूलान्हत्वा महारोहीननु तस्तार तं द्विजम् ।

रोहिमांसानि चोत्कृत्य पेशीकृत्य महायशाः ॥ ३३ ॥

शकुनाय ददौ रामो रम्ये हरितशाद्वले ।

यत्तत्पेतस्य मर्त्यस्य कथयन्ति द्विजातयः ॥ ३४ ॥

तत्स्वर्गगमनं तस्य पित्र्यं^१ रामो जजाप ह ।

ततो गोदावरीं गत्वा नदीं नरवरात्मजौ ॥

उदकं चक्रतुस्तस्मै गृध्रराजाय तावुभौ ३५ ॥

मौद्री रोहू मद्भलियों को मार कर, उस पक्षी के लिये महायशस्वी श्रीराम ने भूमि पर कुश विद्धाये। फिर मद्भलियों के माँस के दुकड़े कर और माँस को साफ कर तथा उसे पीस कर, उसके पिण्ड बना सुन्दर हरे कुशों के ऊपर पक्षी को पिण्डदान किया। ब्राह्मणगण मृतकर्म में मृतपुरुष की सद्गति के लिये जिन मंत्रों का प्रयोग करते हैं, उन मंत्रों का प्रयोग श्रीरामचन्द्र जी ने गृद्धराज की स्वर्गगमन कामना के लिये, उसको अपना पितर मान, किया। तदनन्तर श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण सहित गोदावरी नदी के तट पर पहुँच कर, गृद्धराज को जलाञ्जलि दी ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

शास्त्रदृष्टेन विधिना जले गृध्राय राघवौ ।

स्नात्वा तौ गृध्रराजाय उदकं चक्रतुस्तदा ॥ ३६ ॥

श्रीरामचन्द्र जी ने शास्त्र की निर्दिष्ट की हुई विधि से जल में स्नान कर, गृद्धराज को जलाञ्जलि दी ॥ ३६ ॥

स गृध्रराजः कृतवान्यशस्करं

सुदुष्करं कर्म रणे निपातितः ।

महर्षिकल्पेन च संस्कृतस्तदा

जगाम पुण्यां गतिमात्मनः शुभाम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार वह जटायु, जिसने अत्यन्त दुष्कर और यश देने वाला कर्म कर युद्ध में प्राण गंवाये थे, महर्षियों की तरह श्रीराम-

^१ पित्र्यं—विनृदेवताकं । (गो०)

चन्द्र जी के हाथ से अन्तिम संस्कार पाकर परमपवित्र पुण्यगति अर्थात् परमपद (त्रिपाद विभूति-वैकुण्ठ) को प्राप्त हुआ ॥३७॥

कृतोदकौ तावपि पक्षिसत्तमे
स्थिरां च बुद्धिं प्रणिधाय जग्मतुः ।

अवेश्य सीताधिगमे ततो मनो

वनं सुरेन्द्राविव विष्णुवासवौ ॥ ३८ ॥

इति अष्टष्ठृतमः सर्गः ॥

पक्षियों में उत्तम जटायु का श्राद्धादि कर्म कर और पक्षिराज के इस कथन में कि, तुमको सीता मिलेगी, विश्वास कर, दोनों भाई सीता को खोजने के लिये इन्द्र और उपेन्द्र की तरह वन में आगे बढ़े ॥ ३८ ॥

[नोट—इस प्रसङ्ग से यह बात निष्पक्ष होती है कि, श्राद्धादि मृतक करने की पद्धति अलादि काल से चली आ रही है । दूसरी बात ध्यान देने योग्य है कि श्रीरामचन्द्र जी ने वैदिक मन्त्रों से गीध को पिण्ड दानादि क्यों किया ? इस शङ्का का समाधान करते हुए भूषणटीकाकार ने कहा है कि, गीध भगवद्भक्त था, अतः उसके लिये वर्ण का बंधन नहाँ रहा । क्योंकि महाभारत का यह बचन है कि—

“ नशुद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः ।
सर्वशर्णेषु ते शुद्रा ये श्वभक्ता जनार्दने ॥] ”

आरण्यकाण्ड का अःसठवां सर्ग पूर्ण हुआ ।

—;*;—

एकोनसततितमः सर्गः

—;*;—

कृत्वैवमुदकं तस्मै प्रस्थितो रामलक्ष्मणौ ।

अवेक्षन्तौ वने सीतां पश्चिमां जग्मतुर्दिशम् ॥ १ ॥

पक्षिराज की जलक्रियादि पूरी कर, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण वहाँ से रवाने हा, बन में साता को ढूँढते हुए पश्चिम दिशा की ओर चले ॥ १ ॥

तौ दिशं दक्षिणां गत्वा शरचापासिधारिणौ ।

अविप्रहतमैक्षवाकौ पन्थानं प्रतिजग्मतुः* ॥ २ ॥

फिर धनुष वाण खड़ दाथों में ले दोनों भाई उस मार्ग से जिस पर पहले कोई नहीं चला था, चल कर, पश्चिम दक्षिण के कोण की ओर चले ॥ २ ॥

गुलमैर्दृक्षैश्च बहुभिर्लताभिश्च प्रवेष्टितम् ।

आवृतं सर्वतो दुर्गं गहनं घोरदर्शनम् ॥ ३ ॥

अनेक प्रकार के घने झाड़, वृक्षवल्ली, लता आदि होने के कारण वह रास्ता केवल दुर्गम हो नहीं था, बल्कि भयड़कर भी था ॥ ३ ॥

व्यतिक्रम्य तु वेगेन व्यालसिंहनिषेवितम् ।

सुभीमं तन्महारण्यं व्यतियातौ महावलौ ॥ ४ ॥

इस मार्ग को तै कर, वे अत्यन्त बलवान दोनों राजकुमार, ऐसे स्थान में पहुँचे, जहाँ पर अजगर सर्प और सिंह रहते थे । इस महाभयड़कर महारण्य को भी उन दोनों ने पार किया ॥ ४ ॥

ततः परं जनस्थानाद्विक्रोशं गम्य राघवौ ।

क्रौञ्चारण्यं विविशतुर्गहनं तौ महौजसौ ॥ ५ ॥

तदनन्तर चलते चलते वे दोनों बड़े पराक्रमी राजकुमार जनस्थान से तीन कोस दूर, क्रौञ्च नामक एक घने जड़बल में पहुँचे ॥ ५ ॥

* पाठान्तरे—“ पन्थानं प्रतिषेदतुः ” ।

अथवा “ पन्थानमभिजग्मतुः ” ।

नानामेघघनप्रख्यं प्रहृष्टमिव सर्वतः ।

नानापक्षिगणौ ज्ञुष्टं नानाव्यालभृगैर्युतम् ॥ ६ ॥

यह वन में गधों की घटा की तरह गंभीर था । उसमें जिधर देखो उधर फूल खिले हुए होने के कारण तथा भाँति भाँति के पक्षियों से भरा पूरा और तरह तरह के अजगरों और अन्य वन जन्तुओं से परिपूर्ण होने के कारण वह हँसता हुआ सा जान पड़ता था ॥ ६ ॥

दिव्यक्षमाणौ वैदेहीं तद्वनं तौ विचिक्यतुः ।

तत्र तत्रावतिष्ठन्तौ सीताहरणकर्शितौ ॥ ७ ॥

दोनों राजकुमार सीता जी के हरण से दुःखित हो, उस वन में इधर उधर सीता जी को खोजने लगे । बीच बीच में वे ठहर भी जाते थे ॥ ७ ॥

ततः पूर्वेण तौ गत्वा त्रिक्रोशं भ्रातरौ तदा ।

क्रौञ्चारण्यमतिक्रम्य मतङ्गाश्रममन्तरे ॥ ८ ॥

तदनन्तर वे दोनों राजकुमार तीन कोस पूर्व की ओर जा, क्रौञ्चारण्य को पार कर, मतङ्गाश्रम में पहुँचे ॥ ८ ॥

तृष्णा तु तद्वनं घोरं बहुभीममृगद्विजम् ।

नानासत्त्वसमाकीर्णं सर्वं गहनपादपम् ॥ ९ ॥

वह वन बहुत से भयङ्कर बनैले जीव जन्तुओं से भरा हुआ होने के कारण बड़ा भयङ्कर था । उसमें तरह तरह के जीव जन्तु रहते थे और वह सघन वृक्षों से भरा हुआ था ॥ ९ ॥

दद्याते तु तौ तत्र दरीं दशरथात्मजौ ।

पातालसमगम्भीरां तमसा नित्यसंगृताम् ॥ १० ॥

दोनों दशरथनन्दनों ने वहाँ पर एक पर्वत-कन्दरा देखी। वह पाताल की तरह गहरी थी और उसमें सदा अंधकार छाया रहता था ॥ १० ॥

आसाद्य तौ नरव्याघ्रौ दर्यास्तस्या विदूरतः ।
दद्वशाते महारूपां राक्षसीं विकृताननाम् ॥ ११ ॥

उन दोनों पुष्पसिंहों ने, उस गुफा के समीप जा कर एक भयङ्कर रूप वाली विकृताननी राक्षसी को देखा ॥ ११ ॥

भवदामल्पसत्त्वानां बीभत्सां रौद्रदर्शनाम् ।
लम्बोदरीं तीक्ष्णदंष्ट्रां करालां परुषत्वचम् ॥ १२ ॥

वह छोटे जीव जन्तुओं के लिये बड़ी डरावनी थी। उसका रूप बड़ा श्रिनौना था। वह देखने में बड़ी भयङ्कर थी। क्योंकि उसकी डाढ़े बड़ी पैनी थीं और पेट बड़ा लंबा था। उसकी खाल बड़ी कड़ी थी ॥ १२ ॥

भक्षयन्तीं मृगान्भीमान्विकटां मुक्तमूर्धजाम् ।
प्रैक्षेतां तौ ततस्तत्र भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १३ ॥

वह बड़े बड़े मृगों को खाया करती थी, वह विकट रूप वाली और सिर के बालों को खोले हुए थी। ऐसी उस राक्षसी को उन दोनों भाइयों ने देखा ॥ १३ ॥

सा समासाद्य तौ वीरौ व्रजन्तं भ्रातुरग्रतः ।
एहि रंस्यावहेत्युक्त्वा समालम्बत^१ लक्ष्मणम् ॥ १४ ॥

^१ समालम्बत—हस्ते गृहीतवती । (मो०)

वह राक्षसी इन दोनों भाइयों को देख और आगे चलते हुए लक्ष्मण को देख, बोली—“आओ हम दोनों विहार करें”, तदनन्तर उसने लक्ष्मण का हाथ पकड़ निया ॥ १४ ॥

उवाच चैनं वचनं सौमित्रिमुपगृह्य^१ सा ।

अहं त्वयोमुखी नाम लाभस्ते त्वमसि प्रियः ॥ १५ ॥

वह लक्ष्मण जी को चिपटा कर कहने लगी—मेरा अधोमुखी नाम है। तुम मुझे बड़े प्रिय हो। बड़े भाग्य से तुम मुझे मिले हो ॥ १५ ॥

नाथ पर्वतकूटेषु नदीनां पुलिनेषु च ।

आयुशेषमिमं वीर त्वं मया सह रंस्यसे ॥ १६ ॥

हे नाथ ! दुर्गम पर्वतों में और नदियों के तटों पर जीवन के शेष दिनों तक मेरे साथ तुम विहार करना ॥ १६ ॥

एवमुक्तस्तु कुपितः खज्जमुदधृत्य लक्ष्मणः ।

कर्णनासौ स्तनौ चास्या निचकर्तारिसूदनः ॥ १७ ॥

उसके ऐसे वचन सुन, लक्ष्मण जी ने कुपित हो और म्यान से तलबार निकाल उसके नाक, कान और स्तनों को काट डाला ॥ १७ ॥

कर्णनासे निकृत्ते तु विस्वरं सा विनश्य च ।

यथागतं प्रदुद्राव राक्षसी भीमदर्शना ॥ १८ ॥

जब उसके कान और नाक काट डाले गये, तब वह भयङ्कर राक्षसी भयङ्कर नाद करती जिधर से आयी थी उधर ही को भाग खड़ी हुई ॥ १८ ॥

^१ उपगृह्य—आलिङ्गन । (गो०)

तस्यां गतायां गहनं विश्वन्तौ वनयोजसा ।

आसेदतुरमित्रघ्नौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ १९ ॥

जब वह वहाँ से चली गयी तब शत्रुघ्नों का नाश करने वाले और महातेजस्वी दोनों भाई श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण वहाँ से शीघ्रता पूर्वक चल एक गहन वन में पहुँचे ॥ १९ ॥

लक्ष्मणस्तु महातेजाः १सत्त्ववाऽशी२लवाऽशुचिः३ ।

अत्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं भ्रातरं भीमतेजसम्* ॥ २० ॥

महातेजस्वी, निर्मल मन वाले, सदाचारी एवं पवित्र शरीर वाले लक्ष्मण जी हाथ जोड़ कर प्रकाशमान श्रीरामचन्द्रजी से बोले ॥ २० ॥

स्पन्दते मे हृदं बाहुरुद्दिग्मिव मे मनः ।

प्रायशश्चाप्यनिष्टानि निमिचान्युपलक्षये ॥ २१ ॥

हे भाई ! मेरी वाम भुजा बहुत कड़क रही है और मन ऊब सा रहा है । इनके अतिरिक्त और भी अपशकुन मुझे देख पड़ते हैं ॥ २१ ॥

तस्मात्सज्जीभवार्य त्वं कुरुष्व वचनं हितम् ।

ममैव हि निमित्तानि सद्यः शंसन्ति सम्भ्रमम् ॥ २२ ॥

सो आप मेरे कहने से तैयार रहिये । ये सारे के सारे अपशकुन मुझे निकटवर्ती भय की स्पष्ट सूचना दे रहे हैं ॥ २२ ॥

एष वश्चुलको नाम पक्षी परमदारणः ।

आवयोर्विजयं युद्धे शंसन्निव विनर्दति ॥ २३ ॥

१ सत्त्ववान् — निर्मलमनस्कः । (गो०) २ शीलवान् — सद्वृत्तान् (गो०)
५ शुचि — कायशुद्दियुक्तः । (गो०) * “ पाठान्तरे — दीपतेजसम् ”

परन्तु विजय हमारी अवश्य होगी। क्योंकि यह अत्यन्त भयानक वज्रलक पक्षी मानों हमारी विजयसूचना का बखान करता हुआ बोल रहा है ॥ २३ ॥

तयोरन्वेषतोरेवं सर्वं तद्वनमोजसा ।

संजङ्गे विपुलः शब्दः प्रभञ्जनिव तद्वनम् ॥ २४ ॥

जिस समय तेजस्वी श्रीराम और लक्ष्मण उस वन को हूँढ रहे थे; उस समय एक ऐसा भयानक शब्द सुन पड़ा, जिससे ऐसा जान पड़ा कि, मानों वन टुकड़े टुकड़े हुआ जाता हो ॥ २४ ॥

संवेष्टितमिवात्यर्थं गगनं मातरिश्वना^१ ।

वनस्य तस्य शब्दोऽभूदिवमापूरयन्निव ॥ २५ ॥

इतने में बड़ी ज़ोर से आंधी चली। पवन चलने के शब्द से समस्त वन शब्दायमान हो गया और वह शब्द आकाश में छा सा गया ॥ २५ ॥

तं शब्दं काङ्क्षमाणस्तु रामः कक्षे^२ सहानुजः ।

ददर्श सुमहाकायं राक्षसं विपुलोरसम् ॥ २६ ॥

वे दोनों भाई उस शब्द होने का कारण जानना ही चाहते थे कि, एक बड़े डीलडौल का और चौड़ी छाती वाला राक्षस समीप ही देख पड़ा ॥ २६ ॥

आसेदतुस्ततस्तत्र तावुभौ प्रमुखे स्थितम् ।

विवृद्धमशिरोग्रीवं कवन्धमुदरेमुखम् ॥ २७ ॥

वह राक्षस आकर श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण के सामने खड़ा हो गया। वह बहुत लंबा चौड़ा, बिना सिर और गरदन का कवन्ध था और उसका मुख पेट में था ॥ २७ ॥

^१ मातरिश्वना—वायुना । (गो०) ^२ कक्षे—गुल्मे । (गो०)

रोमभिर्निचितैस्तीक्ष्णर्महागिरिमिवोच्छ्रुतम् ।

नीलमेघनिभं रौद्रं मेघस्तनितनिःस्वनम् ॥ २८ ॥

उसके शरीर के रोंगटे कौटों की तरह नुक्कीले थे और वह पहाड़ की तरह ऊँचा था । बड़ा भयङ्कर और मेघ की गरज की तरह उसका स्वर था ॥ २८ ॥

अग्निज्वालानिकाशेन ललाटस्थेन दीप्यता ।

महापक्ष्मेण पिङ्गेन विपुलेनायतेन च ॥ २९ ॥

अग्नि की शिखा की तरह प्रदीप उसका एक नेत्र ललाट में था, जिस पर धुमैले पलक थे । वह नेत्र बड़ा भी बहुत था ॥ २९ ॥

एकेनोरसि घोरेण नयनेनाशुदर्शिना ।

महादंष्ट्रोपपन्नं तं लेलिहानं महामुखम् ॥ ३० ॥

एक नेत्र उसका उसकी छाती पर था । यह नेत्र अत्यन्त भयङ्कर देख पड़ता था । उसका मुख भी बहुत बड़ा था, जिसमें बड़े बड़े दौत थे और वह अपने ओठों को चाढ़ता था ॥ ३० ॥

भक्षयन्तं महाघोरानुक्षसिंहमृगाद्विपान् ।

घोरौ भुजौ विकुर्वण्मुभौ योजनमायतौ ॥ ३१ ॥

कराभ्यां विविधानगृह्य ऋक्षन्पक्षिगणान्मृगान् ।

आकर्षन्तं विकर्षन्तमनेकान्मृगयूथपान् ॥ ३२ ॥

बड़े बड़े भयङ्कर भालुओं, सिंहों, मृगों, और पक्षियों को वह खाया करता था और बड़ी बड़ी तथा भयङ्कर एवं एक योजन भर लंबी दोनों भुजाओं को फैला, हाथों से अनेक रीछों, पक्षियों, और मृगों को पकड़ कर, अपने मुख में डाल लिया करता था ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

स्थितमावृत्य पन्थानं तयोर्भ्रात्रिः प्रपञ्चयोः ॥ ३३ ॥
 अथ तौ समभिक्रम्य क्रोशमात्रे ददर्शतुः ॥ ३३ ॥
 महान्तं दाखणं भीमं कबन्ध भुजसंवृतम् ।
 कबन्धमिव संस्थानादतिघोरप्रदर्शनम् ॥ ३४ ॥
 स महाबाहुरत्यर्थं प्रसार्य विपुलौ भुजौ ।
 जग्राह सहितावेव राघवौ पीडयन्वलात् ॥ ३५ ॥

वह रास्ता रांके हुए था । एक कोस की दूरी से ही राजस दोनों भाइयों को देख पड़ा और जब वे उसके पास पहुँचे, तब उस अत्यन्त भयझूर एवं निष्ठुर कबन्ध ने अपना लंगी भुजाएँ फैला कर उन दोनों को किचकिचा कर पकड़ लिया ॥ ३३ ॥ ३४ ३५ ॥

खड्जिनौ दृढधन्वानौ तिग्मतेजोवपुर्धरौ ।
 भ्रातरौ विवशं प्राप्तौ कृष्यमाणौ महावलौ ॥ ३६ ॥

तलवार और मज़बूत धनुष लिये हुए, अत्यन्त तेजस्वी शरीर धारी और महावलवान् होने पर भी, वे दोनों भाई कबन्ध द्वारा खींच लिये गये ॥ ३६ ॥

तत्र धैर्येण शूरस्तु राघवो नैव विव्यथे ।

बाल्यादन्तश्रयत्वाच्च लक्ष्मणस्तत्तिविव्यथे ॥ ३७ ॥

श्रीरामचन्द्र ना अपना धीरना और वीरता से दुःखी न हुए, परन्तु लक्ष्मण बालक होने के कारण पकड़ जाने पर घबड़ा गये ॥ ३७ ॥

उवाच च विषण्णः सन्नराघवं राघवातुजः ।

पश्य मां वीर विवशं राक्षसस्य वशं गतम् ॥ ३८ ॥

और दुःखी हो श्रीरामचन्द्र जी से बोले, हे वीर ! देखो मैं तो
इस राज्ञस के फंडे मैं फँस गया ॥ ३८ ॥

मयैकेन विनियुक्तः परिमुञ्चस्व राघव ।

मां हि भूतबलिं दत्त्वा पलायस्त्र यथातुखम् ॥ ३९ ॥

अतः अब आप मेरी इस राज्ञस को बलि दे और अपने को
छुड़ा, आप सुखपूर्वक चले जाइये ॥ ३९ ॥

अधिगन्ताऽसि वैदेहीमचिरेणेति मे मतिः ।

प्रतिलभ्य च काकुत्स्थ पितृपैतामहीं महीम् ॥ ४० ॥

हे काकुत्स्थ श्रीरामचन्द्र ! मुझे विश्वास है कि, आपको सीता
मिलेगी । आप पुरुषों का राज्य पाकर ॥ ४० ॥

तत्र मां राम राज्यस्थः स्मर्तुर्महसि सर्वदा ।

लक्ष्मणैनैवमुक्तस्तु रामः सामित्रिमब्रवीत् ॥ ४१ ॥

और राजसिंहासन पर बैठ, मुझे सदा स्मरण करते रहियेगा
अथवा मुझे भूल मत जाइयेगा । जब लक्ष्मण ने इस प्रकार कहा
तब श्रीरामचन्द्र जी उनसे बोले ॥ ४१ ॥

मा स्म त्रासं कृथा वीर न हि त्वाद्यग्विषीदति ।

एतस्मिन्बन्तरे क्रूरो भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४२ ॥

हे वीर ! भयभीत मत हो । क्योंकि तुम्हारे जैसे पराक्रमी
पुरुषों को इस प्रकार घबड़ाना चित नहीं । इतने मैं उस निर्दयी
राज्ञस ने दोनों भाई श्रीराम लक्ष्मण से कहा ॥ ४२ ॥

प्रपञ्च घननिर्धोषः कवन्धो दानयोत्तमः

कौ युवां वृषभस्कन्धौ महाखङ्गधुर्धरौ ॥ ४३ ॥

दानवोत्तम कबन्ध ने मेघ की तरह गरज कर पूछा कि, तुम दोनों युवक जो वृषभ जैसे ऊँचे कंधों वाले और बड़े बड़े खड्डों को धारण किये हुए हो, कौन हो ? ॥ ४३ ॥

घोरं देशमिमं प्राप्तौ मम भक्षावुपस्थितौ ।

वदतं कार्यमिह वां किमर्थं चागतौ युवाम् ॥ ४४ ॥

इस भयङ्कर वन में आकर तुम मेरे भवय बने हो । अब तुम अपना प्रयोजन बतलाओ कि, तुम दोनों यहाँ क्यों आये हो ॥ ४४ ॥

इमं देशमतुप्राप्तौ क्षुधार्तस्येह तिष्ठतः ।

सवाणचापखड्डों च तीक्ष्णशृङ्गाविवर्षभौ ॥ ४५ ॥

मैं इस समय भूख से दुःखी हो रहा हूँ । सो तुम्हारा यहाँ धनुष वाण आर खड़ धारण कर, पैने साँगों के बैल की तरह आना ॥ ४५ ॥

मपास्यमनुसम्प्राप्तौ दुर्लभं जीवितं पुनः ।

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा कबन्धस्य दुरात्मनः ॥ ४६ ॥

मानों मेरे मुख में पड़ना है । अतः तुम्हारा अब जीवित बचना दुर्लभ है । उस दुष्ट कबन्ध के ये बचन सुन ॥ ४६ ॥

उवाच लक्ष्मणं रामो मुखेन परिशुष्यता ।

कृच्छ्रात्कृच्छ्रतरं प्राप्य दारुणं सत्यविक्रम ॥ ४७ ॥

सूखे मुख से श्रीरामचन्द्र लक्ष्मण से बोले । हे सत्यपराक्रमी ! देखो, ऐसे ऐसे दारुण कष्ट सह कर, ॥ ४७ ॥

व्यसनं जीवितान्ताय प्राप्तमप्राप्य तां प्रियाम् ।

कालस्य सुमहद्वीर्यं सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥ ४८ ॥

और प्राणों को ज्ञाखों में डाल कर कर भी प्यारी सीता को हमन पा सके। हे लक्ष्मण ! मुझे तो काल ही सब से बढ़ कर बली जान पड़ता है ॥ ४८ ॥

त्वां च मां च नरव्याघ्र व्यसनैः पश्यमोहितौ ।
नातिभारोऽस्ति दैवस्य सर्वभूतेषु लक्ष्मण ॥ ४९ ॥

हे लक्ष्मण ! देखो, तुम और मैं दोनों ही काल के प्रभाव से इस विपत्ति में आ फंसे हैं। प्राणिमात्र को दुःख देने में काल को तनिक भी श्रम नहीं होता ॥ ४९ ॥

शूराश्च बलवन्तश्च कृतास्थाश्च रणाजिरे ।

कालाभिपन्नाः सीदन्ति तथा वालुकसेतवः ॥ ५० ॥

देखो, शूर, बलवान् एवं अस्त्रविद्या में पटु लोग भी युद्ध में काल के वश होकर बालू के बाँध की तरह खसक पड़ते हैं ॥ ५० ॥

इति ब्रुवाणो दृष्टस्त्यविक्रमो
महायशा दाशरथिः प्रतापवान् ।

अवेक्ष्य सौमित्रिमुद्रयपौरुषं

स्थिरां तदा स्वां मतिमात्मनाऽकरोत् ॥ ५१ ॥

इति एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥

दृढ़, सत्यपराक्रमी, प्रतापी और महायशस्वी दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्र ने बड़े पुरुषार्थी लक्ष्मण को देख कर और मन में सोच समझ कर, धैर्य धारणा किया ॥ ५१ ॥

अरण्यकाण्ड का उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।



सप्ततितमः सर्गः

—*—

तौ तु तत्र स्थितौ दृष्टा भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ।
बाहुपाशपरिक्षिसौ कवन्धो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण को अपनी बाहें में जकड़े हुए खड़े देख, कवन्ध ने उनसे कहा ॥ १ ॥

तिष्ठतः किं नु मां दृष्टा क्षुधार्थं क्षत्रियर्षभौ ।

आहारार्थं तु सन्दिष्टौ दैवेन गतचेतसौ ॥ २ ॥

अरे क्षत्रियश्रेष्ठ ! मुझे देख तुम दोनों जन डरे हुए से क्यों खड़े हो ! मुझ भूखे के आहार के लिये विभाता ने तुमको मेरे पास भेज दिया है ॥ २ ॥

तच्छ्रुत्वा लक्ष्मणो वाक्यं प्राप्तकालं हिते तदा ।

उवाचार्तिं समापन्नो विक्रमे कृतनिश्चयः* ॥ ३ ॥

कवन्ध के ये बचन सुन, लक्ष्मण जी दुःखित हो और अपना बल अज्ञाने का निश्चय कर, समयानुकूल श्रीरामचन्द्र जी से बोले ॥ ३ ॥

त्वां च मां च पुरा तूर्णमादत्ते राक्षसाधमः ।

तस्मादसिभ्यामस्याशु बाहू च्छन्दावहै गुरु ॥ ४ ॥

देखो, यह राक्षसाधम हम दोनों को पकड़े हुए हैं। अतः हम दोनों इसकी ये दोनों बड़ी भारी भुजाएं काट डालें ॥ ४ ॥

भीषणोऽयं महाकायो राक्षसो भुजविक्रमः ।

लोकं हयतिजितं कृत्वा हयावां हन्तुमिहेच्छति ॥ ५ ॥

यह बड़े डीलडौल का भयङ्कर राक्षस केवल अपनी भुजाओं के बलबूते पर सब लोकों को जीत कर, अब हम दोनों को मार डालना चाहता है ॥ ५ ॥

निश्चेष्टानां वधो राजन्कुत्सितो जगतीपतेः ।

क्रतुमध्येष्योपनीतानां पशूनामिव राघव ॥ ६ ॥

हे राघव ! यज्ञ में बलि देने के लिये लाये गये बकरों की तरह चेष्टा रहित मरना ज्ञातियों के लिये बड़ी निन्दा की बात है ॥ ६ ॥

एतत्सज्जलिपतं श्रुत्वा तयोः क्रुद्धस्तु राक्षसः ।

विदार्यास्यं तदा रौद्रस्तौ भक्षयितुमारभत् ॥ ७ ॥

उन दोनों की इस प्रकार की बातचीत सुन, राक्षस कुद्ध हो अपना भयङ्कर मुँह फैला, उन दोनों को खाने के लिये तैयार हुआ ॥ ७ ॥

ततस्तौ देशकालज्ञौ खङ्गाभ्यामेव राघवौ ।

अच्छिन्दतां सुसंहृष्टौ^१ वाहू तस्यांसदेशतः ॥ ८ ॥

तब देश और काल के जानने वाले श्रीरामन्द्र और लक्ष्मण ने अपनी अपनी तलवारों से उसकी बाहें सहज में कन्धे से काट डालीं ॥ ८ ॥

दक्षिणो^२ दक्षिणं वाहुमसक्तमसिना ततः ।

चिच्छेद रामो वेगेन सव्यं वीरस्तु लक्ष्मणः ॥ ९ ॥

^१ सुसंहृष्टौ—कदलीकाण्ड वस्तुखच्छेदनादिति । (गो०) ^२ दक्षिणः—समर्थः । (गो०) ^३ असक्तं—अप्रतिबंधं यथाभवात् तथा । (गो०)

तलवार चलाने में समर्थ अथवा दक्ष श्रीरामचन्द्र ने उसकी दहिनी भुजा और शूरवीर लक्ष्मण ने उसकी बाईं भुजा बड़ी फुरती से काटी ॥ ६ ॥

स पपात महावाहुश्छब्दवाहुर्महास्वनः ।

खं च गां च दिशश्वैव नादयञ्जलदो यथा ॥ १० ॥

भुजाओं के कटते ही महावाहु कबन्ध, मेघ की तरह भयङ्कर शब्द कर और अपने उस भयङ्कर शब्द से आकाश, पृथिवी तथा समस्त दिशाओं को पूरित करता हुआ, भूमि पर गिर पड़ा ॥ १० ॥

स निकृत्तौ भुजौ दृष्ट्वा शोणितौघपरिप्लुतः ।

दीनः प्रच्छ तौ वीरौ कौ युवामिति दानवः ॥ ११ ॥

दोनों भुजाओं के कटने से अपने शरीर को रुधिर से लस्त-पस्त देख और दीन हो, दानव कबन्ध ने पूछा, तुम दोनों युवक कौन हो ? ॥ ११ ॥

इति तस्य ब्रुवाणस्य लक्ष्मणः शुभलक्षणः ।

शशंस राघवं तस्य कवन्धस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

इस प्रश्न के उत्तर में शुभ लक्षणों से युक्त लक्ष्मण, कबन्ध को, श्रीरामचन्द्र का परिचय देते हुए, कहने लगे ॥ १२ ॥

अयमिक्ष्वाकुदायादो रामो नाम जनैः श्रुतः ।

अस्यैवावरजं विद्धि भ्रातरं मां च लक्ष्मणम् ॥ १३ ॥

यह इक्ष्वाकुकुलोत्पन्न हैं और श्रीराम के नाम से संसार में प्रसिद्ध हैं। मैं इनका छोटा भाई हूँ और मेरा नाम लक्ष्मण है ॥ १३ ॥

[मात्रा प्रतिहृते राज्ये रामः प्रव्राजितो वनम् ।

मया सह चरत्येष भार्यया च महद्वनम्] ॥ १४ ॥

इनकी सौतेली माता ने इनकी राज्य की प्राप्ति में वाधा डाली और उसके कहने से ये, वन में चले आये। सो मेरे तथा अपनी भार्या के सहित ये महावन में विचरण करते थे ॥ १४ ॥

अस्य देवप्रभावस्य वसतो विजने वने ।

राक्षसाऽपहृता पद्मी यामिच्छन्ताविहागतौ ॥ १५ ॥

इन देवतुल्य प्रभावशाली श्रीरामचन्द्र की पत्नी को, इस विजन वन में रहने के समय, एक राक्षस हर कर ले गया है। उसीको खोजते खोजते हम लोग यहाँ आये हैं ॥ १५ ॥

त्वं तु को वा किमर्थं वा कवन्धसद्वशो वने ।

आस्येनोरसि दीप्तेन भग्रजङ्गो १विवेष्टसे ॥ १६ ॥

यह तो बतलाओ कि, तुम कौन हो और किस लिये कवन्ध को तरह और अपनी छाती में चमचमाता मुख लगाये, जंघारहित हो, इस निर्जन वन में लौट रहे हो ॥ १६ ॥

एवमुक्तः कवन्धस्तु लक्ष्मणेनोत्तरं वचः ।

उवाच परमप्रीतस्तदिन्द्रवचनं स्परन् ॥ १७ ॥

लक्ष्मण जी का वचन सुन, वह राक्षस हर्षित हो और इन्द्र की कही वात को स्मरण कर, कहने लगा ॥ १७ ॥

स्वागतं वां नरव्याघ्रौ दिष्टया पश्यामि चाप्यहम् ।

दिष्टया चेमौ निकृत्तौ मे युवाभ्यां बाहुबन्धनौ ॥ १८ ॥

हे नरश्रेष्ठ ! मैं तुम दोनों का स्वागत करता हूँ। आज भाष्य ही से मैंने तुम दोनों के दर्शन पाये हैं। यह भी मेरे लिये सौभाग्य

की बात है कि, मेरे इन दोनों बाहुरूपी बन्धनों को तुमने काट डाला ॥ १८ ॥

विरूपं यज्ञे मे रूपं प्राप्तं हयविनयाद्यथा ।

तन्मे शृणु नरव्याघ्र तत्त्वतः शंसतस्तव ॥ १९ ॥

इति सप्ततितमः सर्गः ॥

मैंने अपनी अनन्त्रता से जिस प्रकार यह बेढ़ंगा रूप पाया है,
उसका यथार्थ वर्णन मैं करता हूँ । हे नरव्याघ्र ! उसे तुम सुनो ॥ २० ॥

अरण्यकाण्ड का सत्तरवां सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

एकसप्ततितमः सर्गः

—*—

पुरा राम महाबाहो महावलपराक्रम ।

रूपमासीन्ममाचिन्त्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥ १ ॥

हे महाबाहु श्रीरामचन्द्र ! प्राचीन काल में मैं महावलवान् और
बड़ा पराक्रमी था, मैं अपने अचिन्त्य रूप की सुन्दरता के लिये तीनों
लोकों में वैसे ही प्रसिद्ध था ॥ १ ॥

यया सोमस्य शक्रस्य सूर्यस्य च यथा वपुः ।

सोऽहं रूपमिदं कृत्वा लोकवित्रासनं महत् ॥ २ ॥

जैसे सूर्य, इन्द्र और चन्द्रमा प्रसिद्ध हैं । मैं लोगों को डराने के
लिये बड़ा भयानक रूप बना कर ॥ २ ॥

ऋषीन्वनगतान्राम त्रासयामि ततस्ततः ।

ततः स्थूलशिरा नाम महर्षिः कोपितो मया ॥ ३ ॥

हे राम ! वन में बसने वाले ऋषियों को त्रस्त करने लगा । कुद्ध काल बीतने पर स्थूलशिरा नाम के एक महर्षि^१ को मैंने कुपित किया ॥ ३ ॥

संचिन्वन्विधं वन्यं रूपेणानेन धर्षितः ।

तेनाहमुक्तः प्रेक्षयैवं घोरशापाभिधायिना ॥ ४ ॥

एक दिन स्थूलशिरा वन में विविध भाँति के फूलफलादि इकट्ठे कर रहे थे । मैंने इस रूप से उनको बहुत दुःख दिया । तब उन्होंने मेरी ओर देख कर, मुझे घोर शाप दिया ॥ ४ ॥

एतदेवनृशंसं ते रूपमस्तु विगर्हितम् ।

स मया याचितः क्रुद्धः शापस्यान्तो भवेदिति ॥ ५ ॥

वे बोले—तेरा इसी प्रकार का कर और गहित रूप सदा के लिये हो जाय । कुद्ध हो उनको शाप देते देख, मैंने शाप के अन्त के लिये उनसे प्रार्थना की ॥ ५ ॥

अभिशापकृतस्येति तेनेदं भाषितं वचः ।

यदा च्छित्त्वा भुजौ रामस्त्वां दहेद्विजने वने ॥ ६ ॥

तब शाप का अन्त होने के लिये उन्होंने कहा कि, जब श्रीराम-चन्द्र तेरी दोनों भुजाएं काट विजन वन में तुझे फूंक देंगे ॥ ६ ॥

तदा त्वं प्राप्स्यसे रूपं स्वमेव विपुलं शुभम् ।

श्रिया विराजितं पुत्रं दनोस्त्वं विद्धि लक्ष्मण ॥ ७ ॥

इन्द्रकोपादिदं रूपं प्राप्तमेवं रणाजिरे ।

अहं हि तपसोग्रेण पितामहम् तोषयम् ॥ ८ ॥

तब तू पूर्ववत् अपना अत्यन्त सुन्दर और शुभ रूप पावेगा । हे लक्ष्मण ! तुम मुझे दंतु का पुत्र जानो । तब तक मेरा रूप सुन्दर था । किन्तु मेरा यह विकराल रूप तो रणाङ्गण में इन्द्र के कुपित होने से हुआ है । वह वृत्तान्त इस प्रकार है—मैंने उग्रतप द्वारा ब्रह्मा जी का सन्तुष्ट किया ॥ ७ ॥ ८ ॥

दीर्घमायुः स मे प्रादात्ततो मां १विभ्रमोऽस्पृशत् ।
दीर्घमायुर्मया प्राप्तं किं ये शक्रः करिष्यति ॥ ९ ॥

सन्तुष्ट हो जब मुझे ब्रह्मा जी ने दीर्घायु होने का वरदान दिया; तब मुझे बड़ा गर्व हो गया । मैंने सोचा कि, जब मुझे दीर्घायु होने का वरदान मिल चुका है; तब इन्द्र मेरा क्या कर सकता है ॥ ९ ॥

इत्येवं बुद्धिमास्थाय रणे शक्रमधर्षयम् ।
तस्य बाहुप्रमुक्तेन वज्रेण शतपर्वणा ॥ १० ॥

यह सोच मैंने युद्धक्षेत्र में इन्द्र को ललकारा । तब इन्द्र ने अपना सौ धार का बज्र मेरे ऊपर छोड़ा ॥ १० ॥

सक्थिनी चैव मूर्धा च शरीरे संप्रवेशितम् ।
स मया यात्यमानः सन्नानयद्यमसादनम् ॥ ११ ॥

जिसके लगने से मेरी दोनों जंघाएँ और मस्तक शरीर में छुस गये, किन्तु मेरे प्रार्थना करने पर मुझे मार नहीं डाला अथवा मैंने अपनी मौत चाही भी परन्तु उन्होंने मुझे यमपुर को नहीं भेजा ॥ ११ ॥

पितामहवचः सत्यं तदस्त्वति ममाब्रवीत् ।
अनाहारः कथं शक्तो भग्नसक्थिशिरोमुखः ॥ १२ ॥

प्रत्युत इन्द्र ने इतना ही कहा कि, जाओ वितामह ब्रह्मा जी का वचन सत्य हो । इस पर मैंने इन्द्र से कहा कि—जंघा, सिर और मुख तो आपने वज्र के आघात से मेरे शरीर में छुसा दिये । अब मैं भोजन विना बहुत दिनों तक कैसे जीता रहूँगा ॥ १२ ॥

वज्रेणाभिहतः कालं सुदीर्घमपि जीवितुम् ।

एवमुक्तस्तु मे शक्रो बाहू योजनमायतौ ॥ १३ ॥

इस बात को सुन इन्द्र ने कहा कि, अच्छा, अब तेरी बाँहें, एक योजन लंबी हो जायगी और तू बहुत दिनों तक जीवित भी रहेगा ॥ १३ ॥

प्रादादास्यं च मे कुक्षौ तीक्ष्णदंष्ट्रमकल्पयत् ।

सोऽहं भुजाभ्यां दीर्घाभ्यां संकृष्यास्मिन्वनेचरान् ॥ १४ ॥

सिंहद्विपमृगव्याघ्रान्भक्षयामि समन्ततः ।

स तु मामब्रवीदिन्द्रो यदा रामः सलक्ष्मणः ॥ १५ ॥

छेत्स्यते समरे बाहू तदा स्वर्गं गमिष्यसि ।

अनेन वयुषा राम वनेऽस्मिन्राजसत्तम ॥ १६ ॥

इन्द्र ने मेरे मुख में पैने पैने दाँत लगा मुख मेरे पेट में लगा दिया । तब से मैं अपने दोनों लंबे हाथ फैला कर, वन में बिचरने वाले सिंह, चीते, हिरन, तैंदुए को पकड़ पकड़ कर मुख में डाल लिया करता हूँ । इन्द्र ने मुझसे यह भी कहा कि, लक्ष्मण सहित श्रीराम-चन्द्र जब तुम्हारी भुजाओं को काटेंगे, तब तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति होगी । तब से हे राजसत्तम ! मैं इसी शरीर से इस वन में ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

यद्यत्पश्यामि सर्वस्य ग्रहणं साधु रोचये ।

अवश्यं ग्रहणं रामो मन्येऽहं समुपैष्यति ॥ १७ ॥

मैं जिस जीवजन्तु को पाता, उसे पकड़ना अच्छा समझता था । साथ ही यह भी विचारता था कि, किसी दिन श्रीरामचन्द्र भी मेरी भुजाओं से अवश्य पकड़े जायेंगे ॥ १७ ॥

इमां बुद्धिं पुरस्कृत्य देहन्यासकृतश्रमः ।

स त्वं रामोऽसि भद्रं ते नाहमन्येन राघव ॥ १८ ॥

इस प्रकार मैं इस शरीर को त्यागने के लिये प्रयत्न कर रहा था । सो आप वही राम हैं । क्योंकि और किसी का सामर्थ्य नहीं, जो मुझे मार सके ॥ १९ ॥

शक्यो हन्तुं यथात्त्वमेवमुक्तं महर्षिणा ।

अहं हि ॑मतिसाचिव्यं करिष्यामि नरर्षभ ॥ १९ ॥

क्योंकि महर्षि जो ही ने ऐसा कहा था सो सत्य ही हुआ । अतः हे पुरुषश्रेष्ठ ! और तो मुझसे कुछ नहीं हो सकता, परन्तु मैं अपने बुद्धिबल से आपकी सहायता करूँगा ॥ २० ॥

मित्रं चैवोपदेश्यामि युवाभ्यां संस्कृतोऽग्निना ।

एवमुक्तस्तु धर्मात्मा दनुना तेन राघवः ॥ २० ॥

आप द्वारा मेरा अग्निसंस्कार होने पर, मैं आपको एक मित्र बताऊँगा । जब इस प्रकार से उस दनु के पुत्र ने धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी से कहा ॥ २० ॥

इदं जगाद वचनं लक्ष्मणस्योपशृण्वतः ।

रावणेन हृता भार्या मम सीता यशस्विनी ॥ २१ ॥

तब श्रीरामचन्द्र जी ने लक्ष्मण को सुनाते हुए उससे कहा — रावण ने मेरी यशस्विनी भार्या सीता हर ली है ॥ २१ ॥

निष्क्रान्तस्य जनस्थानात्सह भ्रात्रा यथासुखम् ।

नाममात्रं तु जानामि न रूपं तस्य रक्षसः ॥ २२ ॥

रावण ने जब सीता हरी, तब मैं लक्ष्मण सहित जनस्थान से बाहर गया हुआ था । मैं उस राजस का नाम मात्र जानता हूँ, उसे पहचानता नहीं ॥ २२ ॥

निवासं वा प्रभावं वा वयं तस्य न विद्धहे ।

शोकार्त्तनामनाथानामेवं विपरिधावताम् ॥ २३ ॥

हमें यह भी नहीं मालूम कि, वह कहाँ का रहने वाला है और उसका प्रभाव कैसा है । देखो, हम शोकाकुल और सहायहीन हो इधर उधर मारे मारे फिर रहे हैं ॥ २३ ॥

कारुण्यं सदृशं कर्तुमुपकारे च वर्तताम् ।

काष्टान्यादाय शुष्काणि काले भग्नानि कुञ्जरैः ॥ २४ ॥

इसलिये तुम हम पर दया कर, हमारी उपयुक्त सहायता करो । हम हाथियों के, समय पर अर्थात् खाने के लिये तोड़े हुए लकड़ इकट्ठे कर, ॥ २४ ॥

धक्ष्यामस्त्वां वयं वीर श्वभ्रे महति कलिपते ।

स त्वं सीतां समाचक्ष्व येन वा यत्र वा हृता ॥ २५ ॥

और बड़ा गढ़ा खोद, हे वीर ! हम तुम्हें अभी भस्म किये देते हैं । किन्तु तुम यह तो बताओ कि, सीता को कौन हर कर ले गया है और कहाँ ले गया है ॥ २५ ॥

कुरु कल्याणमत्यर्थं यदि जानासि तत्त्वतः ।

एवमुक्तस्तु रामेण बाक्यं दनुरनुच्चमम् ॥ २६ ॥

प्रोवाच कुशलो वक्तुं वक्तारमपि राघवम् ।

दिव्यमस्ति न मे ज्ञानं नाभिजानामि मैथिलीम् ॥ २७ ॥

यदि तुम्हें ठीक ठीक हाल मालूम हो और यदि उसे तुम हमें बतला दोगे, तो इससे हमारा बड़ा काम निकलेगा । जब श्रीराम चन्द्र जी ने ऐसा कहा, तब वह दानवश्रेष्ठ, श्रीरामचन्द्र जी से बड़ी कुशलता के साथ कहने लगा । वह बोला --हे राम ! न तो मुझे दिव्य ज्ञान है और न मैं सीता को पहिचानता ही हूँ ॥ २६ ॥ २७ ॥

यस्तां ज्ञास्यति तं वक्ष्ये दग्धः स्वं रूपमास्थितः ।

अदग्धस्य तु विज्ञातुं शक्तिरस्ति न मे प्रभो ॥ २८ ॥

परन्तु मैं जल कर जब अपना असली रूप पाऊँगा, तब मैं उस बतलाने वाले का नाम छिकाना बतलाऊँगा, जो उस राक्षस को जानता है । हे प्रभो ! विना दग्ध हुए बतलाने की मुझमें शक्ति नहीं है ॥ २८ ॥

राक्षसं ते महावीर्यं सीता येन हृता तव ।

विज्ञानं हि मम ऋष्टं शापदोषेण राघव ॥ २९ ॥

जिस राक्षस ने तुम्हारी सीता हरी है वह बड़ा पराक्रमी है । हे राघव ! शाप-दोष से मेरा ज्ञान नष्ट हो गया है ॥ २६ ॥

स्वकृतेन मया प्राप्तं रूपं लोकविगर्हितम् ।

किंतु यावन्न यात्यस्तं सविता श्रान्तवाहनः ॥ ३० ॥

अपने पाप के बल से मुझे यह लोकनिन्दित रूपं प्राप्त हुआ है । हे श्रीरामचन्द्र ! सूर्यास्त होने के पूर्व ही ॥ ३० ॥

[नोट—इससे जान पड़ता है कि, मुद्दें को सूर्यास्त के बाद दग्ध न करना चाहिये ।]

तावन्मापवटे क्षिप्त्वा दह राम यथाविधि ।

दग्धस्त्वयाऽहमवटे न्यायेन रघुनन्दन ॥ ३१ ॥

वक्ष्यामि तमहं वीर यस्तं ज्ञास्यति राक्षसम् ।

तेन सख्यं च कर्तव्यं न्यायवृत्तेन राघव ।

कल्पयिष्यति ते प्रीतः साहाय्यं लघुविक्रमः ॥ ३२ ॥

मुझे गढ़े में रख, यथाविधि भस्म कर दो । हे राम ! जब तुम मुझे विधिपूर्वक गढ़े में डाल भस्म कर दोगे, तब मैं उसका नाम तुमको बतलाऊँगा, जो उस राक्षस को जानता है । तुम उससे न्याय-पूर्वक मित्रता करना । वह प्रसन्न हो कर बहुत शीघ्र तुम्हारा काम कर देगा ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

न हि तस्यास्त्वविज्ञातं त्रिषु लोकेषु राघव ।

सर्वान्परिसृतो लोकान्पुराऽसौ कारणान्तरे ॥ ३३ ॥

इति एकसप्ततितमः सर्गः ॥

क्योंकि तीनों लोकों में ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसे वह न जानता हो । क्योंकि वह कारणान्तर से, सब लोकों में पहिले धूम चुका है ॥ ३३ ॥

अरण्यकाण्ड का एकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।



द्विसप्ततितमः सर्गः



एवमुक्तौ तु तौ वीरौ कवन्धेन नरेश्वरौ ।

गिरिप्रदरमासाद्य पावकं विससर्जतुः ॥ १ ॥

उन राजकुमारों से कवन्ध ने जब इस प्रकार कहा, तब उन दोनों भाइयों ने एक पहाड़ी गढ़े में उसके शरीर को डाल, आग लगा दी ॥ १ ॥

लक्ष्मणस्तु महोलकाभिर्ज्वलिताभिः समन्ततः ।
चितामादीपयामास सा प्रजञ्चाल सर्वतः ॥ २ ॥

फिर लक्ष्मण ने बड़े बड़े लकड़ जला चारों ओर से चिता में आग लगा, चिता प्रदीप कर दी। चिता चारों ओर से जलने लगी ॥ २ ॥

तच्छरीरं कवन्धस्य धृतपिण्डोपमं महत् ।
येदसा पच्यमानस्य मन्दं दहति पावकः ॥ ३ ॥

तब कवन्ध का धी के पिंड के समान चरबी से पूर्ण बड़ा शरीर, अग्नि में धीरे धीरे जलने लगा ॥ ३ ॥

स विधूय चितामाशु विधूमोऽग्निरीवोत्थितः ।
अरजे वाससी विभ्रन्मालां दिव्यां महावलः ॥ ४ ॥

तदनन्तर महावली कवन्ध शीघ्र चिता को छोड़, दो स्वच्छ वस्त्र और दिव्य माला धारण कर, धूमरहित अग्नि की तरह उसमें से निकला ॥ ४ ॥

ततश्चिताया वेगेन भास्वरो विमलाम्बरः ।
उत्पपाताशु संहृष्टः सर्वप्रत्यङ्गभूषणः ॥ ५ ॥

वह कान्तियुक्त शरीर धारण कर, प्रसन्न होता हुआ, बड़े वेग से आकाश में गया। उसके शरीर के समस्त अंग प्रत्यंग गहनों से भूषित थे ॥ ५ ॥

विमाने भास्वरे तिष्ठन्हंसयुक्ते यशस्करे ।

प्रभया च महातेजा दिशो दश विराजन् ॥ ६ ॥

तदन्तर वह चमचमाते हंसयुक्त यश देने वाले विमान में बैठकर अपने शरीर की प्रभा से दसों दिशाओं को प्रकाशित करने लगा ॥६॥

सोऽन्तरिक्षगतो रामं कवन्धा वाक्यमब्रवीत् ।

शृणु राघव तत्त्वेन यथा सीतापवाप्स्यसि ॥ ७ ॥

आकाश में पहुँच कवन्ध ने श्रीराम को सम्बोधन कर कहा—
हे श्रीरामचन्द्र ! सुनो मैं बतलाता हूँ जिस प्रकार तुमको सीता मिलेगी ॥ ७ ॥

राम षड्युक्तयो लोके याधिः सर्वं विमृश्यते ।

परिमृष्टो दशान्तेन दशाभागेन सेव्यते ॥ ८ ॥

काम करने की संसार में द्रः युक्तियाँ हैं—(यथा १ सन्धि, २ विग्रह, ३ यान, ४ आसन, ५ द्वैधीभाव और ६ समाश्रय) श्रेष्ठजन इन्हींकी सहायता से सब बातों का विचार करते हैं । इनको काम में लाये बिना कोई काम सिद्ध नहीं होता । जो मनुष्य दुर्दशाग्रस्त होता है अथवा जिसे दुर्दशा धेर लेती है उसकी दुर्दशा ही होती चली जाती है ॥ ८ ॥

दशाभागगतो हीनस्त्वं हि राम सलक्ष्मणः ।

यत्कृते व्यसनं प्राप्तं त्वया दारप्रधर्षणम् ॥ ९ ॥

तुम दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण दुर्दशाग्रस्त हो रहे हो ।
इसीसे खोहरण का यह दुःख तुम पर पड़ा है ॥ ९ ॥

तदवश्यं त्वया कार्यः स सुहृत्सुहृदां वर ।

अकृत्वा हि न ते सिद्धिमहं पश्यामि चिन्तयन् ॥ १० ॥

अतः हे सुहृदों में श्रेष्ठ ! तुम अवश्य उससे मैत्री करो । क्योंकि मैंने बहुत सोचा, मुझे तो तुम्हारे कार्य की सिद्धि, विना उससे मैत्री किये, अन्य किसी उपाय से नहीं दीख पड़ती ॥ १० ॥

श्रूतां राम वक्ष्यामि सुग्रीवो नाम वानरः ।

भ्रात्रा निरस्तः क्रुद्धेन वालिना शक्त्वानुना ॥ ११ ॥

हे श्रीराम ! सुनो, मैं कहता हूँ ! सुग्रीव नाम का एक वानर है । इन्द्रपुत्र वालि ने उस अपने भाई को कुद्ध हो, निकाल दिया है ॥ ११ ॥

ऋश्यमूके गिरिवरे पम्पापर्यन्तशोभिते ।

निवसत्यात्पवान्वीरश्चतुर्भिः सह वानरैः ॥ १२ ॥

वह ज्ञानवान् सुग्रीव अपने चार साथी वानरों के सहित ऋष्य-मूक पर्वत पर जो पम्पा सरोवर तक फैला हुआ शोभायमान है, सदा वास करता है ॥ १२ ॥

वानरेन्द्रो महावीर्यस्तेजोवानमितप्रभः ।

सत्यसन्धो विनीतश्च धृतिमान्मतिमान्महान् ॥ १३ ॥

वह वानरों का राजा सुग्रीव बड़ा बलवान्, तेजस्वी, अमित प्रभा वाला, सत्यप्रतिज्ञ, विनीत, धैर्यवान् और बड़ा बुद्धिमान है ॥ १३ ॥

दक्षः प्रगल्भो द्युतिमान्महाबलपराक्रमः ।

भ्रात्रा विवासितो राम राज्यहेतोर्महाबलः ॥ १४ ॥

वह सुग्रीव चतुर, साहस्री, कान्तिमान्, महाबली और महा पराक्रमी है । हे श्रीराम ! उस महाबली को उसके ज्येष्ठ भाई वाली ने राज्य के हेतु निकाल दिया है ॥ १४ ॥

स ते सहायो मित्रं च सीतायाः परिमार्गणे ।

भविष्यति हि ते राम मा च शोके मनः कृथाः ॥ १५ ॥

निश्चय ही वह तुमसे मैत्री करेगा और सीता के हृदने में तुम्हें सहायता भी देगा । हे राम ! तुम दुःखो मत हो ॥ १५ ॥

भवितव्यं हि यच्चापि न तच्छक्यमिहान्यथा ।

कर्तुमिक्ष्वाकुशार्दूल कालो हि दुरतिक्रमः ॥ १६ ॥

हे इच्छाकु-कुलशार्दूल ! होनहार को मैंठने की शक्ति किसी में नहीं हैं । क्योंकि काल की गति को कोई रोक नहीं सकता ॥ १६ ॥

गच्छ शीघ्रमितो राम सुग्रीवं तं महाबलम् ।

वयस्यं तं कुरु क्षिप्रमितो गत्वाद्य राघव ॥ १७ ॥

अतः हे राम ! अब तुम शीघ्र यहाँ से महाबलो सुग्रीव के पास जाओ । हे राघव ! यहाँ से शीघ्र जाकर तुम उससे मैत्री करलो ॥ १७ ॥

अद्रोहाय समागम्य दीप्यमाने विभावसौ ।

स च ते नावमन्तव्यः सुग्रीवो वानराधिपः ॥ १८ ॥

जिससे पीछे आपस में मनसुटाव न हो, इस लिये प्रज्वलित अग्नि को साक्षी कर मैत्री करना । साथ ही यह भी याद रखना कि, वानरराज सुग्रीव का आपके द्वारा कभी श्रपमान न होने पावे ॥ १८ ॥

कृतज्ञः कामरूपी च सहायार्थी च वीर्यवान् ।

शक्तौ हृद्य युवां कर्तुं कार्यं तस्य चिकीर्षितम् ॥ १९ ॥

क्योंकि वह वानरराज कृतज्ञ है, इच्छानुसार रूप धारण करने वाला है, बड़ा बलवान है और इस समय उसे भी सहायता

की आवश्यकता है (तुम दोनों उसके कार्य को करने में समर्थ भी हो) ॥ १६ ॥

कृतार्थे वाऽकृतार्थे वा कृत्यं तव करिष्यति ।
स क्रक्षरजसः पुत्रः पम्पामटति शङ्कितः ॥ २० ॥

चाहे उसका काम पूरा हो जाय या अधूरा ही रहे, किन्तु वह तुम्हारा काम कर देगा । वह ऋग्नराज नामक वानर का पुत्र, भाई के ढर के मारे पम्पा के किनारे किनारे घूमा करता है ॥ २० ॥

भास्करस्यौरसः पुत्रो वालिना कृतकिल्बिषः^१ ।
सन्निधायायुधं क्षिप्रमृश्यमूकालयं कपिम् ॥ २१ ॥

वह सूर्य का औरस पुत्र, वालि से शत्रुता होने के कारण बहुत दुःखी रहता है । तुम सब आयुधों को रख कर, उस ऋष्यमूक पर्वतवासी वानर से ॥ २१ ॥

कुरु राघव सत्येन^२ वयस्यं वनचारिणम् ।
स हि स्थानानि सर्वाणि कात्स्न्येन कपिकुञ्जरः ॥ २२ ॥
नरमांसाशिनां लोके नैपुण्यादधिगच्छति ।
न तस्याविदितं लोक किञ्चिदस्ति हि राघव ॥ २३ ॥

शपथपूर्वक मैत्री करना । क्योंकि वह कपिकुञ्जर सुग्रीव मनुष्याहारी राक्षसों के समस्त स्थानों को भली भाँति जानता है । हे राघव ! लोक में कोई भी जगह ऐसी नहीं, जिसे वह न जानता हो ॥ २२ ॥ २३ ॥

१ कृतकिल्बिषः—कृतवैरः । (गो०) २ सत्येन—शपथेन । (गो०)

यावत्सूर्यः प्रतपति सहस्रांशुररिन्द्रम् ।

स नदीर्विपुलाञ्छैलानिरदुर्गाणि कन्दरान् ॥ २४ ॥

हे अरिन्द्र ! जहाँ तक सूर्य को किरण जा सकती है उतने बीच की समस्त नदियों, पवर्ती, दुर्गम स्थानों और कन्दराओं को ॥ २४ ॥

अन्वीक्ष्य वानरैः सार्धं पत्नीं तेऽधिगमिष्यति ।

वानरांश महाकायान्प्रेषयिष्यति राघव ॥ २५ ॥

वानरों के साथ हूँढ कर वह तुम्हारी पत्नी तुमको प्राप्त करवा देगा । अथवा (स्वयं न जाकर) अपने अधीनस्थ बड़े डीलडौल के बन्दरों को सीता को हूँढ़ने के लिये भेज सकेगा ॥ २५ ॥

दिशो विचेतुं तां सीतां त्वद्वियोगेन शोचतीम् ।

स यास्यति वरारोहां निर्मलां रावणालये ॥ २६ ॥

तुम्हारे वियोग में चिन्तित निष्कलङ्क सुन्दरी सीता का पता लगा—यदि वह रावण के घर में हुई तो भी—वहाँ से ला कर उन्हें तुमसे मिला देगा ॥ २६ ॥

स मेरुशृङ्गाग्रगतामनिन्दितां

प्रविश्य पातालतलेऽपि वाश्रिताम् ।

प्लवङ्गमानां प्रवरस्तव प्रियां

निहत्य रक्षांसि पुनः प्रदास्यति ॥ २७ ॥

इति द्विसततिमः सर्ग ॥

हे श्रीरामचन्द्र ! वह वानरशेष ऐसा प्रतापी है कि, चाहे सीता मेरुपर्वत के शिखर पर गयो हो अथवा पाताल में हो, वह वहाँ जा और राक्षसों को मार कर, तुम्हें लाकर दे देगा ॥ २७ ॥

श्रीरामचन्द्र का बहतरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

त्रिसततितमः सर्गः ॥

—;*;—

निर्दर्शयित्वा रामाय सीतायाः प्रतिपादने ।
वाक्यमन्वर्थमर्थज्ञः कबन्धः पुनरब्रवीत् ॥ १ ॥

कबन्ध सीता जी के मिलने का इस प्रकार उपाय बतला, फिर भी श्रीरामचन्द्र जी से अर्थयुक्त बचन कहने लगा ॥ १ ॥

एष राम शिवः पन्था यत्रैते पुष्पिता द्रुमाः ।
प्रतीर्चीं दिशामाश्रित्य प्रकाशन्ते मनोरमाः ॥ २ ॥

हे श्रीराम ! वहाँ जाने के लिये आपको यह रास्ता सुखदायी होगा, क्योंकि ये जहाँ फूले हुए मनोहर वृक्ष लग रहे हैं । वे वृक्ष पश्चिम की ओर देखने से देख पड़ेंगे ॥ २ ॥

जम्बूप्रियालपनसप्लक्षन्यग्रोधतिन्दुकाः ।

अश्वत्थाः कर्णिकारात्र चूताश्रान्ये च पादपाः ॥ ३ ॥

देखो, जामुन, चिरोंजी, कटहर, बड़, पाकर, तेंदू, पीपल, कठ, चम्पा और आम के अनेक वृक्ष हैं ॥ ३ ॥

धन्वना नागवृक्षाश्च तिलका नक्तमालकाः ।

नीलाशोकाः कदम्बाश्च करवीराश्च पुष्पिताः ॥ ४ ॥

धव, नागकेसर, तिलक, करञ्ज, नील, अशोक, कदंब और पुष्पित कनैर ॥ ४ ॥

अग्निमुख्या अशोकश्च सुरक्ताः पारिभद्रकाः ।

तानारुद्धाथवा भूमौ पातयित्वा च तान्वलात् ॥ ५ ॥

अरुस, अशोक, रक्तचन्दन और मन्दार-नामक वृक्ष लगे हैं। या तो इन पर चढ़ कर अथवा बलपूर्वक उनकी डालें झुका कर ॥ ५ ॥

फलान्यमृतकल्पानि भक्षयन्तौ गमिष्यथः ।

तदतिक्रम्य काकुत्स्थ वनं पुष्पितपादपम् ॥ ६ ॥

अमृत की तरह मीठे फलों की तोड़ और उनको खाते हुए तुम दोनों जन चले जाना । हे काकुत्स्थ ! उस पुष्पित वृक्षों से युक्त वन को नांधने पर ॥ ६ ॥

नन्दनप्रतिमं चान्यत्कुरवो हुत्तरा इव ।

सर्वकामफला वृक्षाः पादपास्तु मधुस्वाः ॥ ७ ॥

तुमको नन्दन और उत्तर कुरु की तरह रक्तवन मिलेगा । इस वन के वृक्षों में सदा फल फूला करते हैं और बड़े मीठे और रसदार होते हैं ॥ ७ ॥

सर्वे च ऋतवस्तत्र वने चैत्ररथे यथा ।

फलभारानतास्तत्र महाविटपधारिणः ॥ ८ ॥

उस वन में, चैत्ररथ वन को तरह वृक्षों में सब अृतुओं के फल लगा करते हैं। फलों के शोभ से वहाँ के वृक्ष झुके रहते हैं॥८॥

शोभन्ते सर्वतस्तत्र मेघपर्वतसन्निभाः ।

तानारुद्धरथ वा भूमौ पातयित्वा यथासुखम् ॥९॥

बड़ी बड़ी शाखाओं के कारण वहाँ के वृक्ष पर्वताकार मेघों की तरह सुशोभित देख पड़ते हैं। हे राम ! इन वृक्षों पर चढ़ कर अथवा ज़मीन पर गिरा कर—जैसे सुविधा हो वैसे ॥९॥

फलान्यमृतकल्पानि लक्ष्मणस्ते प्रदास्यति ॥

चड्क्रमन्तौ वारान्देशाञ्छैलाञ्छैलं वनाद्रनम् ॥१०॥

लक्ष्मण जी उन अमृत की तरह स्वादिष्ट फलों को लाकर तुमको दे दिया करेंगे ! इस प्रकार कितने ही सुन्दर देशों, पर्वतों और बनों में घूमते फिरते ॥१०॥

ततः पुष्करिणीं वीरो पम्पां नाम गमिष्यथः ।

अशर्करामविभ्रंशां समतीर्थामशैवलाम् ॥११॥

तुम दोनों पम्पा नामक सरोवर पर पहुँचोगे। इस सरोवर के भीतर न तो सिवार (एक प्रकार की पानी में जमने वाली धास) है और न कंकड़ियाँ हैं। इसके तट की भूमि पर विछलाहट भी नहीं है। इसके सब धाट भी एक से बने हैं॥११॥

राम सञ्जातवालूकां कमलोत्पलशालिनीम् ।

तत्र हंसाः प्लवाः क्रौञ्चाः कुरराश्वैव राघव ॥१२॥

हे राम ! उसमें अच्छी रेती है। उसमें कमल फूला करते हैं हे राघव ! वहाँ हंस, राजहंस, क्रौञ्च और कुरर रहते हैं॥१२॥

१ वल्लुस्वना निकूजन्ति पम्पासलिलगोचराः २ ।

नोद्रिजन्ते नरान्दृष्टा ३ वधस्याकोविदाः शुभाः ॥ १३ ॥

सरोवर में तैरते हुए बड़ी प्यारी बोलियाँ बोला करते हैं । वे मनुष्यों को देख डरते नहीं ; क्योंकि वध क्या होता है सो वे जानते ही नहीं (अर्थात् वहाँ कोई पक्षी नहीं मारने पाता) ॥ १३ ॥

घृतपिण्डोपमान्स्थूलांस्तान्द्रिजान्भक्षयिष्यथः ।

रोहितान्वक्रतुण्डांश्च नडपीनांश्च राघव ॥ १४ ॥

हे राघव ! उन घृतपिण्ड की तरह मौटे मौटे पक्षियों को और रोह, चकतुरण, नड नामक मछलियों को मार कर तुम खाना ॥ १४ ॥

पम्पायामिषुभिर्मत्स्यांस्तत्र राम वरान्हतान् ।

निस्त्वकपक्षानयस्तप्तानॄकुशानेककण्टकान् ॥ १५ ॥

हे रामचन्द्र ! जिनके पांख नहीं होते और जो बड़ी मौटी होती हैं एवं त्वचा और बहुत काँटों वाली बढ़िया मछलियों को काँटे में छेद कर और आग पर भूंज कर (कवाव बना कर) ॥ १५ ॥

तत्र भक्त्या समायुक्तो लक्ष्मणः सम्पदास्यति ।

भृशं ते खादतो मत्स्यान्पम्पायाः पुष्पसञ्चये ॥ १६ ॥

बड़े चाव से लक्ष्मण तुमको देंगे । कमल पुष्पों में विचरती हुई बहुत सी मछलियों को तुम खाना ॥ १६ ॥

पद्मगन्धि शिवं५वारि सुखशीतमनामयम् ।

उद्धृत्य सतताकिलष्टं रौप्यस्फाटिकसन्निभम् ॥ १७ ॥

१ वल्लुस्वनाः—रम्यस्वनाः । (गो०) २ सलिलगोचराः—सलिलचारिः (गो०) ३ वधस्याकोविदाः—वधमजानानाः । (गो०) ४ अधस्तसान्—अथः—शूलाग्रोततया पक्षान् । (गो०) ५ शिवं—पापापहं । (गो०)

असौ पुष्करपणेन लक्ष्मणः पाययिष्यति ।

स्थूलानिगरिगुहाशय्यान्वराहान्वनचारिणः ॥ १८ ॥

अपां लोभादुपावृत्तान्वृषभानिव नर्दतः ।

१रूपान्वितांश्च पम्पायां द्रक्ष्यसि त्वं नरोत्तम ॥ १९ ॥

पम्पा सरोवर का कमल पुष्प की सुगन्धि से युक्त, रोग-हर, पापनाशक, ध्रानन्ददायक, सुशीतल, चाँदी और स्फटिक पथर की तरह स्वच्छ जल, लक्ष्मण कमल के पत्तों में लाकर तुमको पिलावेंगे । पर्वत कंदरों में सोने वाले तथा वन में विचरने वाले बड़े मौरे मौरे सुन्दर सुश्रर जो पम्पा सरोवर के तट पर बैल की तरह बोलते हुए जल पीने आया करते हैं, तुमको देख पड़ेंगे ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

सायाहै विचरन्राम विटपीन्माल्यधारिणः ।

शीतोदकं च पम्पाया दृष्ट्वा शोकं विहास्यसि ॥ २० ॥

हे श्रीराम ! सन्ध्या के समय जब तुम वहाँ धूमा करोगे तब तुम को बड़ी बड़ी शाखाएं वाले और फूले हुए वृक्षों तथा पम्पा सरोवर के शीतल जल को देख कर तुम्हारा शोक दूर हो जायगा ॥ २० ॥

सुपनोभिश्चतांस्तत्र तिलकान्वक्तमालकान् ।

उत्पलानि च फुल्लानि पङ्कजानि च राघव ॥ २१ ॥

हे राघव ! वहाँ पर तिलक और करंज के वृक्ष फूलों से लदे हैं । कुई और कमल के फूल वहाँ फूले हुए हैं ॥ २१ ॥

न तानि कश्चिन्माल्यानि तत्रारोपयिताः नरः ।

न च वै म्लानतां यान्ति न च शीर्यन्ति राघव ॥ २२ ॥

१ रूपान्वितान्—सौन्दर्यवतः । (गो०) २ आरोपयिता—गृहीत्वाग्रथिता । (गो०)

हे राघव ! किन्तु उन फूलों की माला बनाने वाला कोई आदमी वहाँ नहीं रहता । वहाँ के पुष्प न कभी मुरझाते हैं, न अपने आप गिरते हैं ॥ २२ ॥

मतङ्गशिष्यास्तत्रासन्नुषयः सुसमाहिताः ।

तेषां भाराभितप्तनां वन्यमाहरतां गुरोः ॥ २३ ॥

वहाँ पर मतङ्ग ऋषि के शिष्य ऋषि लोग एकाग्रचित्त होकर रहते थे । जब वे गुरु के लिये बन के फल फूल कंद लेने जाते और बोझ से पीड़ित होते ॥ २३ ॥

ये प्रपेतुर्महीं तूर्णं शरीरात्स्वेदविन्दवः ।

तानि जातानि माल्यानि मुनीनां तपसा तदा ॥ २४ ॥

तब उनकी देह से पसीने की जो बूँदे टपकतीं, वे उनकी तपस्या के प्रभाव से फूल हो जाती थीं ॥ २४ ॥

स्वेदविन्दुसमुत्थानि न विनश्यन्ति राघव ।

तेषामद्यापि तत्रैव दृश्यते परिचारिणी ॥ २५ ॥

हे राघव ! पसीने की बूँदों से उत्पन्न होने के कारण वे फूल कभी नष्ट नहीं होते । (वे ऋषि लोग तो उस स्थान को त्याग कर चले गये हैं) परन्तु उनकी परिचारिका अब तक वहाँ देख पड़ती हैं ॥ २५ ॥

१श्रमणी शवरी नाम काकुत्स्थ चिरजीविनी ।

त्वां तु धर्मेऽ स्थिता नित्यं सर्वभूतनमस्तुतम् ॥ २६ ॥

१ श्रमणी—संन्यासिनी । (गो०) २ धर्मे—गुरु परिचरणधर्मे । (गो०)

दृष्टा देवोपमं राम स्वर्गलोकं गमिष्यति ।

ततस्तद्राम पम्पायास्तीरमाश्रित्य पश्चिमम् ॥ २७ ॥

हे काकुत्स्थ ! उसका नाम शबरी है । वह संन्यासिनी है और वह बहुत बूढ़ी है । परन्तु वह गुरुपरिचर्या में सदा निरत रहने वाली शबरी देवोपम और सब लोगों से नमस्कार किये जाने योग्य, आपके दर्शन कर, स्वर्ग को चल देगी । पम्पा के पश्चिम तीर पर ॥ २६ ॥ २७ ॥

आश्रमस्थानमतुलं गुह्यं^१ काकुत्स्थ पश्यसि ।

न तत्राक्रमितुं नागाः शक्नुवन्ति तमाश्रमम् ॥ २८ ॥

तुमको अनुपम एक ऐसा आश्रम देख पड़ेगा, जिसे दुर्गम होने के कारण, अन्य लोग नहीं देख सकते । हाथी उस आश्रम को नहीं नष्ट कर सकते ॥ २८ ॥

विविधास्तत्र वै नागा वने तस्मिंश्च पर्वते ।

ऋषेस्तत्र मतङ्गस्य विधानात्तच्च काननम् ॥ २९ ॥

यद्यपि वहाँ के वन और वहाँ के पर्वत पर बहुत से हाथी रहा करते हैं, तथापि मतङ्ग ऋषि के प्रभाव से उस आश्रम के वन को नष्ट भ्रष्ट नहीं कर सकते ॥ २६ ॥

[मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन ।]

तस्मिन्नन्दनसङ्काशे देवारण्योपमे वने ॥ ३० ॥

हे रघुनन्दन ! वह वन मतङ्गवन के नाम से प्रसिद्ध है । हे श्रीराम ! वह वन देवताओं के नन्दन वन की तरह रमणीक है ॥ ३० ॥

१ अतुलं—अनुपमम् । (गो०) २ गुह्यं—इतरैरदर्शनीयं । (गो०)

नानाविहगसङ्कीर्णे रंस्यसे राम निर्वृतः^१ ।

ऋश्यमूकश्च पम्पायाः पुरस्तात्पुष्पितद्रुमः ॥ ३१ ॥

उसमें भाँति भाँति के दुःख त्याग कर पक्षी रहते हैं । हे श्रीराम !
उस बन में तुम विहार करना । पम्पा सरोवर के सामने ही
पुष्पित वृक्षों से शोभित ऋश्यमूक नामक पर्वत है ॥ ३१ ॥

सुदुःखारोहणी नाम शिशुनागाभिरक्षितः ।

उदारो ब्रह्मणा यैव पूर्वकाले विनिर्मितः ॥ ३२ ॥

शयानः पुरुषो राम तस्य शैलस्य मूर्धनि ।

यत्स्वप्ने लभते वित्तं तत्प्रबुद्धोऽधिगच्छति ॥ ३३ ॥

उस दुरारोह पर्वत की खबाली छोटे छोटे हाथी के बच्चे
किया करते हैं । इस पर्वत को उदारमना ब्रह्मा जी ने पूर्वकाल में
स्वयं बनाया था । उस पर्वत के शिखर पर यदि कोई पुरुष सावे और
स्वप्न में उसे धन का मिलना देख पड़े तो, जागने पर भी उसे धन
मिलता है ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

न त्वेन विषमाचारः पापकर्माधिऽरोहति ।

यस्तु तं विषमाचारः पापकर्माधिऽरोहति ॥ ३४ ॥

तत्रैव प्रहरन्त्येनं सुप्तमादाय राक्षसाः ।

तत्रापि शिशुनागानामाक्रन्दः श्रूयते महान् ॥ ३५ ॥

पापाचारी और पापी पुरुष उस पर्वत पर नहीं चढ़ सकता ।
यदि कोपाचारी और पापी पुरुष उस पर चढ़ भी जाय तो जब

^१ निर्वृतः—निवृत्तदुःख । (गो०)

वह सोता है तब राज्ञस लोग उसे मार डालते हैं। वहाँ पर छोड़े हाथियों का चिंधारना बहुत सुन पड़ता है ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

क्रीडतां राम पम्पायां मतङ्गारण्यवासिनाम् ।

सिन्का रुधिरधाराभिः संहृत्य परमद्विषाः ॥ ३६ ॥

प्रचरन्ति पृथक्कीर्णा मेधवर्णस्तरस्विनः ।

ते तत्र पीत्वा पानीयं विमलं शीतमव्ययम् ॥ ३७ ॥

हे श्रीराम ! ये महागज मतङ्ग ऋषि के वन में क्रीड़ा करते और वहाँ रहते हैं। वे सब लाल मद की धारों से तर, कभी तो गिरोह बाँध घूमते हैं, कभी अलग अलग चरते हैं। उनके शरीर का रंग काले मेघ जैसा है और वे बड़े बलवान हैं। वे वहाँ पर पम्पा सरोवर का कभी न निघटने वाला, निर्मल और शीतल जल पीकर ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

निर्वृताः संविगाहन्ते^१ वनानि वनगोचराः ।

ऋक्षांश्च द्वीपिनश्चैव नीलकोमलकप्रभान् ॥ ३८ ॥

रुरुनपेतापजयान्दृष्टा शोकं जहिष्यसि ।

राम तस्य तु शैलस्य महती शोभते गुहा ॥ ३९ ॥

शिलापिधाना काकुत्स्थ दुःखं चास्याः प्रवेशनम् ।

तस्या गुहायाः प्राण्डारे महाब्जशीतोदको हृदः ॥ ४० ॥

और अपनी प्यास मिटा, वन में प्रवेश कर, वन में बिचरा करते हैं। हे राम ! रोद्ध, बाघ और नीलम मणि की तरह प्रभा

१ संविगाहन्ते—प्रविशन्ति । (गो०) २ नीलकोमलकप्रभान्—नील रत्नवन्मनोज प्रभान् । (गो०)

वाले रुह मृगों को देखने से तुम्हारा दुःख दूर हो जायगा । वहाँ पर एक पहाड़ी बड़ी गुफा है । उसका द्वार एक शिला से बंद रहता है । उसके भीतर जाना बड़ा कष्टदायक है । उस गुफा के मुहारे के सामने ही शीतल जल का एक बड़ा सरोवर है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

फलमूलान्वितो रम्यो नानामृगसमावृतः ।
तस्यां वसति सुग्रीवश्चतुर्भिः सह वानरैः ॥ ४१ ॥

वहाँ अनेक फल और मूल हैं । भाँति भाँति के बनैले जीव जन्तु उसके इर्दगिर्द घूमा फिरा करते हैं । उसीमें अपने साथी चार वानरों के सहित सुग्रीव रहा करता है ॥ ४१ ॥

कदाचिच्छिखरे तस्य पर्वतस्यावतिष्ठुते ।
कबन्धस्त्वनुशास्यैवं तावुभौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४२ ॥

कभी कभी वह पर्वतशिखर पर भो जा बैठा करता है । इस प्रकार श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण जो को सब बातें बतला कर वह कबंध राज्ञस ॥ ४२ ॥

स्वर्गी भास्करवरणाभिः खे व्यरोचत वीर्यवान् ।
तं तु खस्थं महाभागं कबन्धं रामलक्ष्मणौ ॥
प्रस्थितौ त्वं ब्रजस्वेति वाक्यमूच्तुरन्तिके ॥ ४३ ॥

माला धारण किये सूर्य की तरह चमचमाता हुआ वीर्यवान् वह राज्ञस आकाश में जा शोभायमान हुआ । उस बड़े भाष्यवान को देख, श्रीराम और लक्ष्मण ने उससे कहा कि, अच्छा अब हम तो सुग्रीव के पास जाते हैं, तुम भी स्वर्ग को जाओ ॥ ४३ ॥

गम्यतां कार्यसिद्धयर्थमिति तावब्रवीत्स च ।
सुप्रीतौ तावनुज्ञाप्य कबन्धः प्रस्थितस्तदा ॥ ४४ ॥

इस पर कबन्ध ने कहा कि, आप भी अपना काम सिद्ध करने के लिये जाइये । तब कबन्ध हर्षित श्रीराम लक्ष्मण से बिदा हो, वहाँ से प्रस्थानित हुआ ॥ ४४ ॥

स तत्कबन्धः प्रतिपद्य रूपं

द्रुतः श्रिया भास्करतुल्यदेहः ।
निदर्शयन्नराममवेक्ष्य खस्थः

सरख्यं कुरुष्वेति तदाऽभ्युवाच ॥ ४५ ॥

इति व्रिसप्तितमः सर्गः ॥

इस प्रकार कबन्ध अपना पूर्वरूप प्राप्त कर शोभायुक्त, देढ़ीप्यमान अपनी देह को दिखला और आकाश में स्थित हो श्रीराम को देख कर उनसे बोला कि, आप जाकर सुग्रीव से मैत्री कीजिये ॥ ४५ ॥

अरण्यकाण्ड का तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—*—

चतुःसप्ततितमः सर्गः

—*—

तौ कबन्धेन तं मार्गं पम्पाया दर्शितं वने ।
प्रतस्थतुर्दिशं गृहय प्रतीचीं नृवरात्मजौ ॥ १ ॥

वे दोनों राजकुमार कवच के बतलाये मार्ग को धर पश्चिम की ओर उस वन में हो कर चले ॥ १ ॥

तौ शैलेष्वाचितानेकान्क्षाद्रकल्पफलान्दुमान् ।

वीक्षन्तौ जग्मतुर्दृष्टु सुग्रीवं रामलक्ष्मणौ ॥ २ ॥

श्रीराम और लक्ष्मण पहाड़ों पर तरह तरह के शहद की तरह मीठे फलों से फले हुए बृक्षों को देखते हुए, सुग्रीव से मिलने के लिये चले जाते थे ॥ २ ॥

कृत्वा च शैलपृष्ठे तु तौ वासं रामलक्ष्मणौ ।

पम्पायाः पश्चिमं तीरं राघवावुपतस्थतुः ॥ ३ ॥

श्रीराम लक्ष्मण रास्ते में एक पर्वत के ऊपर टिक कर पम्पा सरोवर के और पश्चिम तट पर जा पहुँचे ॥ ३ ॥

तौ पुष्करिण्याः पम्पायास्तीरमासाद्य पश्चिमम् ।

अपश्यतां ततस्तत्र शबर्या रम्यमाश्रमम् ॥ ४ ॥

पम्पा सरोवर के पश्चिमी तट पर पहुँच वहाँ उन्होंने शवरी का रमणीक आश्रम देखा ॥ ४ ॥

तौ तमाश्रममासाद्य द्रुमैर्वहुभिरावृतम् ।

सुरम्यमभिवीक्षन्तौ शबरीमभ्युपेयतुः ॥ ५ ॥

बहुत से बृक्षों से घिरे हुए शवरी के आश्रम में जा और वहाँ की रमणीयता देखते हुए, वे शवरी के निकट जा पहुँचे ॥ ५ ॥

तौ च दृष्टा तदा सिद्धा समुत्थाय कृताञ्जलिः ।

रामस्य पादौ जग्राह लक्ष्मणस्य च धीमतः ॥ ६ ॥

वह सिद्धा शवरी इन दोनों भाइयों को देखते ही हाथ जोड़ कर खड़ी हो गयी। फिर उसने दोनों बुद्धिमान भाइयों के चरणों का स्पर्श किया ॥ ६ ॥

पाद्यमाचमनीयं च सर्वं प्रादाद्यथाविधि ।

तामुवाच ततो रामः श्रमणीं शंसितव्रताम् ॥ ७ ॥

फिर उसने अर्ध्य, पाद्य, आचमन आदि यथाविधि अर्पण कर उनका आतिथ्य किया। तब श्रीरामचन्द्र जी ने धर्म निरता शवरी से पूछा ॥ ७ ॥

कच्चित्ते निर्जिता विघ्नाः^१ कच्चित्ते वर्धते तपः ।

कच्चित्ते नियतः^२ क्रोध आहारश्च तपोधने ॥ ८ ॥

कामादि व्रः रिपुओं को जो तपस्या में विघ्न डाला करते हैं, तुमने जीत तो लिया है? तुम्हारी तपस्या उत्तरोत्तर बढ़ती तो जाती है? तुमने क्रोध को तो अपने वश में कर रखा है? हे तपोधने! तुम आहार में तो संभल कर रहती हो न? ॥ ८ ॥

कच्चित्ते नियमाः^३ प्राप्ताः कच्चित्ते मनसः सुखम्^४ ।

कच्चित्ते गुरुशुश्रूषा सफला चारुभाषिणि ॥ ९ ॥

हे चारुभाषिणी! तुम्हारे सब व्रत तो ठीक ठीक चले जाते हैं? तुम्हारा मन सन्तुष्ट तो रहता है? क्या तुम्हारी गुरु-शुश्रूषा सफल हुई? ॥ ९ ॥

रामेण तापसी पृष्टा सा सिद्धा सिद्धसम्पता ।

शशंस शवरी वृद्धा रामाय प्रत्युपस्थिता ॥ १० ॥

१ विघ्ना—तपोविघ्नाः कामादयः । (गो) २ नियतः—निगृहीतः । (गो०)

३ नियमाः—व्रतानि । (गो०) ४ मनसः सुखं—मनः सन्तोषः । (गो०)

जब श्रीरामचन्द्र जी ने शवरी से ये प्रश्न किये, तब सिद्धपुरुषों की मान्य वह सिद्धा तपस्त्रिनी श्रीराम से कहने लगी ॥ १० ॥

अद्य प्राप्ता तपःसिद्धिस्तव सन्दर्शनान्मया ।

अद्य मे सफलं तप्तं गुरवश्च सुपूजिताः ॥ ११ ॥

आपके दर्शन करके मुझे आज तप करने का फल मिल गया । आज, मेरा तप करना और गुरु की सेवा करना सफल हुआ ॥ ११ ॥

अद्य मे सफलं जन्म स्वर्गश्चैव भविष्यति ।

त्वयि देववरे राम पूजिते पुरुषर्षभ ॥ १२ ॥

यहो क्यों, आज मेरा जन्म भी सफल हो गया । हे देवश्रेष्ठ पुरुषोंत्तम श्रीरामचन्द्र ! आज आपका पूजन कर, मुझे स्वर्ग भी मिल जायगा ॥ १२ ॥

चक्षुषा तव सौम्येन पूताऽस्मि रघुनन्दन ।

गमिष्याम्यक्षयाँल्लोकांस्त्वत्प्रसादादरिन्दम् ॥ १३ ॥

हे श्रीराम ! आपके निहेंतुक कृपाकटाक्ष से आज मैं पवित्र हो गयी । हे अरिन्दम ! आपकी कृपा से मुझे अब अक्षय लोकों की भी प्राप्ति होगी ॥ १३ ॥

चित्रकूटं त्वयि प्राप्ते विमानैरतुलप्रभैः ।

इतस्ते दिवमारुढा यानहं पर्यचारिषम् ॥ १४ ॥

हे श्रीराम ! जब आप चित्रकूट में पधारे थे, तब वे ऋषिलोग जिनकी मैं सेवा किया करतो थीं, दिव्य विमानों में बैठ स्वर्ग को चले गये ॥ १४ ॥

तैश्चाहमुक्ता धर्मज्ञैर्महाभागैर्महर्षिभिः ।

आगमिष्यति ते रामः सुपुण्यमिममाश्रमम् ॥ १५ ॥

जाते समय वे महाभाग और धर्मज्ञ महर्षि मुझसे यह कह गये कि, श्रीरामचन्द्र तेरे इस पुण्यजनक आश्रम में आवेंगे ॥ १५ ॥

स ते प्रतिग्रहीतव्यः सौमित्रिसहितोऽतिथिः ।

तं च दृष्ट्वा वराँल्लोकानक्षयांस्त्वं गमिष्यसि ॥ १६ ॥

उस समय तू उनका और उनके साथी लक्ष्मण का स्वागत कर आतिथ्य करना । उनके दर्शन करने से तुझे श्रेष्ठ अक्षय लोकों की प्राप्ति होगी ॥ १६ ॥

मया तु विविधं वन्यं सञ्चितं पुरुषर्षभ ।

तवार्थं पुरुषव्याघ्रं पम्पायास्तीरसंभवम् ॥ १७ ॥

हे पुरुषोन्तम ! मैंने आपके लिये पम्पा सरोबर के निकटवर्ती वन से अनेक वन में उत्पन्न होने वाले कन्दमूल फलों को इकट्ठा कर रखा है ॥ १७ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा शबर्या शबरीमिदम् ।

राघवः प्राह विज्ञाने^१ तां नित्यमविष्कृताम् ॥ १८ ॥

धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी ये वचन सुन अति दुर्लभ परमात्मा का ज्ञान रखने वाली उस शबरी से बोले ॥ १८ ॥

दनोः सकाशत्तत्वेन प्रभावं ते महात्मनः ।

श्रुतं प्रत्यक्षमिच्छामि संदृष्टुं यदि मन्यसे ॥ १९ ॥

हे तपस्विनी ! मैंने दनु के मुख से तुम्हारे महात्मा मुनियों के प्रभाव को भली भाँति से सुन रखा है । किन्तु यदि तुम्हें मेरी बात पसंद हो तो, मुझे प्रत्यक्ष उनका प्रभाव दिखाला दी ॥ १९ ॥

^१ विज्ञाने नित्यविष्कृताम्—अतिदुर्लभपरमात्मज्ञानेविज्ञानवतीं । (शि०)

एततु वचनं श्रुत्वा रामवक्त्राद्विनिःसृतम् ।

शबरी दर्शयामास तावुभौ तद्वनं महत् ॥ २० ॥

श्रीरामचन्द्र जी के मुख से निकले हुए ये वचन सुन, शबरी ने दोनों भाइयों को वह बड़ा बन दिखलाया ॥ २० ॥

पश्य मेघघनप्रख्यं मृगपक्षिसमाकुलम् ।

मतङ्गवनमित्येव विश्रुतं रघुनन्दन ॥ २१ ॥

वह बोली—हे रघुनन्दन ! मृगों और पक्षियों से भरा पूरा और काले बादल की तरह श्याम रङ्ग का यह वन देखिये । यह मतङ्ग वन के नाम से प्रसिद्ध है ॥ २१ ॥

इह ते भावितात्मानो गुरवो मे महावने* ।

जुहवांचक्रिरे^१ तीर्थ^२ गमन्त्रवन्मन्त्रपूजितम् ॥ २२ ॥

इसी महावन में विशुद्धात्मा और मंत्रों को जानने वाले गुरु लोग वैदिक मंत्रों से यज्ञ किया करते थे और उन्होंने गङ्गादि पवित्र तीर्थों को मंत्रशक्ति से यहाँ बुलाया था ॥ २२ ॥

इयं प्रत्यक्स्थली वेदिर्यत्र ते मे सुसक्तुताः ।

पुष्पोपहारं कुर्वन्ति श्रमादुद्वेपिभिः करैः ॥ २३ ॥

यही वह प्रत्यक्स्थल नाम की वेदी है, जहाँ बैठ कर मेरे पूज्य गुरुलोग पुष्पाञ्जलि (वृद्धावस्था के कारण) थर थराते हुए हाथों से अर्पण किया करते थे ॥ २३ ॥

^१ जुहवांचक्रिरे—आहूतवन्तः । (गो०) ^२ तीर्थ—गंगादिपुष्य नदिलं । (गो०) ^३ मन्त्रवत्—मन्त्रवता । (गो०) * पाठान्तरे—“महायुते,” “महामते ।”

तेषां तपःप्रभावेण पश्याद्यापि रघूद्वह ।

योतयन्ति दिशः सर्वा श्रिया वेदोऽतुलप्रभाः ॥ २४ ॥

हे रघुनन्दन ! देखिये उनके तपोबल से आज भी यह वेदी अपनी अतुलित प्रभा से सब दिशाओं को प्रकाशित कर रही है ॥ २४ ॥

अशकुवद्द्वि स्तैर्गन्तु मुपवासश्रमालसैः ।

चिन्तितेऽभ्यागतान्पश्य सहितान्सप्त सागरान् ॥ २५ ॥

जब उपवास करते करते वे निर्वल हो गये, तब उनके चिन्तवन करते ही सातों समुद्र उनके स्नानार्थ यहाँ प्रकट हुए । सो इन सातों समुद्रों को देखिये ॥ २५ ॥

कृताभिषेकैस्तैर्न्यस्ता बल्कलाः पादपेष्विह ।

अद्यापि नावशुष्यन्ति प्रदेशे रघुनन्दन ॥ २६ ॥

इस जगह स्नान करके उन्होंने अपने जो गोले बल्कल वस्त्र इन वृक्षों पर सुखाये थे, वे आज तक नहीं सूखे ॥ २६ ॥

देवकार्याणि कुर्वद्दिर्यनीमानि कृतानि वै ।

पुष्टैः कुवलयैः सार्धं ग्लानत्वं नोपयान्ति वै ॥ २७ ॥

देवताओं के पूजन में उन लोगों ने जो कोमल हाल की खिली कलियाँ चढ़ाई थीं, वे अब तक नहीं मुरझायीं हैं ॥ २७ ॥

कृत्स्नं वनमिदं दृष्टं श्रोतव्यं च श्रुतं त्वया ।

तदिच्छाम्यभ्यनुज्ञाता त्यक्तुमेतत्कलेवरम् ॥ २८ ॥

उनके वन में जो सब वस्तुएं देखने योग्य थीं, वे सब आपने देखीं

और उनके सबन्ध में जो बातें सुनने योग्य थीं, वे सब आपने सुन लीं। अब मैं आपकी आकृता से चाहती हूँ कि, इस शरीर को त्याग दूँ॥ २८॥

तेषामिच्छाम्यहं गन्तुं समीपं भावितात्मनाम् ।

मुनीनामाश्रमो येषामहं च परिचारिणी ॥ २९ ॥

जिससे मैं उन धर्मत्वा महर्षियों के पास जा सकूँ, जिनकी मैं दासी हूँ और जिनका यह आश्रम है॥ २९॥

धर्मिष्ठं तु वचः श्रुत्वा राघवः सहलक्ष्मणः ।

प्रहर्षमतुलं लेभे आश्चर्यमिति तत्त्वतः ॥ ३० ॥

उस धर्मिष्ठा शबरी के बचन सुन, श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे, सचमुच यह बड़े आश्चर्य की बात है॥ ३०॥

तामुवाच ततो रामः श्रमणीं संशितव्रताम् ।

अर्चितोऽहं त्वयाभक्त्या गच्छ कामं यथासुखम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजी दृढ़ व्रत धारिणी शबरी से बोले कि, हे भद्रे! तूने हमारा भजी भाँति पूजन किया अब तू सुख पूर्वक जहाँ जाना चाहती हो वहाँ चलो जा॥ ३१॥

इत्युक्ता जटिला वृद्धा चीरकृष्णाजिनाम्बरा ।

तस्मिन्मुहूर्ते शबरी देहं जीर्णं जिहासती ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्र का यह बचन सुन उसी घड़ी वह जटाधारिणी तथा चीर एवं कृष्ण मृगचर्म को पहिरने वाली शबरी अपनी पुरानी देह को त्यागने की इच्छा से॥ ३२॥

अनुज्ञाता तु रामेण हुत्वाऽऽत्मानं हुताशने ।
ज्वलत्पावकसङ्काशा स्वर्गमेव जगाम सा ॥ ३३ ॥

श्रीरामचन्द्र जी की अनुमति ले, जलती हुई आग में कूद पड़ी ।
फिर उस अग्नि में से प्रज्वलित अग्नि की तरह चमचमाता रूप
धारण कर, वह निकली और स्वर्ग को चली गयी ॥ ३३ ॥

दिव्याभरणसंयुक्ता दिव्यमाल्यानुलेपना ।
दिव्याम्बरधरा तत्र बभूव प्रियदर्शना ॥ ३४ ॥

उस समय वह बढ़िया आभूषण पहिने हुए थी । उसके शरीर
में दिव्य चन्दन लगा हुआ था । वह सुन्दर वस्त्र पहिने हुए थी । आभू-
षणों और वस्त्रों से सुसज्जित हो वह देखने में बड़ी सुन्दरी जान
पड़ती थी ॥ ३४ ॥

विराजयन्ती तं देशं विद्युत्सौदामिनी यथा ।
यत्र ते सुकृतात्मानो विहरन्ति महर्षयः ।
तत्पुण्यं शबरी स्थानं जगामात्मसमाधिना ॥ ३५ ॥

इति चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥

वह अपने शरीर की प्रभा से वहाँ ऐसा प्रकाश कर रही थी, जैसे
विजली अपने प्रकाश से चारों ओर प्रकाश कर दिया करती है ।
उसके गुरु धर्मात्मा महर्षि लोग जिन लोकों में विहार करते थे,
वहीं वह शबरी भी अपने समाधिवल से जा पहुँची ॥ ३५ ॥

अरण्यकाण्ड का चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

—;*;—

पञ्चसततितमः सर्गः

—१*—

दिवं तु तस्या यातायां शबर्यां स्वेन तेजसा ।

लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा चिन्तयामास राघवः ॥ १ ॥

जब शबरी अपने तेज के प्रभाव से स्वर्ग को चली गयी, तब धर्मात्मा श्रीरामचन्द्र जी, लक्ष्मण सहित सोचने लगे ॥ १ ॥

स चिन्तयित्वा धर्मात्मा प्रभावं तं महात्मनाम् ।

हितकारिणमेकाग्रं लक्ष्मणं राघवोऽब्रवीत् ॥ २ ॥

और उन महात्माओं के प्रभाव को सोच एकमात्र परम हितैषी अपने भाई लक्ष्मण से श्रीरामचन्द्र जी बोले ॥ २ ॥

द्वष्टोऽयमाश्रमः सौम्य बहाश्चर्यः कुतात्मनाम् ।

१ विश्वस्तमृगशार्दूलो नानाविहगसेवितः ॥ ३ ॥

हे सौम्य ! मैंने उन महात्माओं का यह आश्रम देखा । यहाँ तो अनेक आश्चर्यमय बस्तुए देख पड़ती हैं । देखो न यहाँ पर हिरन और सिंह तथा अनेक पक्षी आपस का वैरभाव त्याग कर बसे हुए हैं ॥ ३ ॥

सप्तानां च समुद्राणामेषु तीर्थेषु लक्ष्मण ।

उप१स्पृष्टं च विधिवत्पितरश्चापि तर्पिताः ॥ ४ ॥

१ विश्वस्ताः —विश्वासं प्राप्ताः परस्यरहिंसकत्वरहिताः । (गो०) २ उपस्पृष्टं—
स्नातं । (गो०)

प्रनष्टमशुभं तत्तत्कलयाणं समुपस्थितम् ।

तेन तत्त्वेन हृष्टं मे मनो लक्षणं सम्प्रति ॥ ५ ॥

हे लक्षण ! मैंने उनके इस सप्तसागर तीर्थ में स्नान कर विधि-वत् पितृतर्पण भी किया । इससे मेरा जो अशुभ था वह दूर हो गया और शुभ आकर अब उपस्थित हुआ । सो अशुभ के नष्ट होने और शुभ के प्राप्त होने से इस समय मेरा मन, हे लक्षण ! अत्यन्त हर्षित है ॥ ४ ॥ ५ ॥

हृदये हि नरव्याघ्रं शुभमार्बिर्भविष्यति ।

तदागच्छ गमिष्यावः पम्पां तां प्रियदर्शनाम् ॥ ६ ॥

हे पुरुषसिंह ! इस समय मेरे हृदय में शुभ भावों का आविर्भाव होगा । सो अब आओ पम्पा सरोवर के तट पर चलें ॥ ६ ॥

ऋश्यमूको गिरिर्यत्र नातिदूरे प्रकाशते ।

यस्मिन्वसति धर्मात्मा सुग्रीवो शुमतः सुतः ॥ ७ ॥

वहाँ से वह ऋष्यमूक पर्वत भी समीप ही देख पड़ता है, जिस पर सूर्य के पुत्र धर्मात्मा सुग्रीव रहते हैं ॥ ७ ॥

नित्यं वालिभयात्र स्तश्चतुर्भिः सह वानरैः ।

अथित्वरे च तं द्रष्टुं सुग्रीवं वानरर्षभम् ॥ ८ ॥

सुग्रीव सदा वाली के भय से त्रस्त हो, चार वानरों सहित वहाँ पर रहते हैं । अतः मैं उन वानरश्रेष्ठ सुग्रीव को देखने के लिये शीघ्र हो चलूँगा ॥ ८ ॥

तदधीनं हि मे सौम्य सीतायाः परिमार्गणम् ।

एवं ब्रुवाणं तं धीरं रामं सौमित्रिब्रवीत् ॥ ९ ॥

हे सौभ्य ! क्योंकि सीता जी को खोजना उसीके अधीन है ।
इस प्रकार कहते हुए वीर श्रीरामचन्द्र से लक्ष्मण जी बोले ॥ ६ ॥

गच्छावस्त्वरितं तत्र ममापि त्वरते मनः ।

आश्रमात्तु ततस्तस्मान्निष्कम्य स विशांपतिः ॥ १० ॥

हाँ, वहाँ शीघ्र ही पहुँचना चाहिये । मेरा मन भी वहाँ पहुँचने के लिये जल्दी कर रहा है । यह सुन पृथ्वीश्वर दोनों भाई उस मातङ्गाश्रम से रवाना हुए ॥ १० ॥

आजगाम ततः पम्पां लक्ष्मणेन सहप्रभुः* ।

स ददर्श ततः पुण्याम्^१उदारजनसेविताम् ॥ ११ ॥

लक्ष्मण सहित श्रीरामचन्द्र जी पम्पां के तट पर पहुँचे और उन्होंने उस भोल को देखा जिसके तट पर तपस्या करने वाले ऋषि मुनि रहा करते थे ॥ ११ ॥

नानाद्रुमलताकीर्णा पम्पां पानीयवाहिनीम्^२ ।

पद्मैः सौगन्धिकैः३ताम्रां शुक्लां कुमुदमण्डलैः ॥ १२ ॥

पम्पा नाम की भोल के चारों ओर सघन वृक्ष और लताएँ लगी हुई थीं और इसका जल पीने में शीतल और स्वादिष्ट था । उसमें लाल लाल कमल और सफेद कुईं के फूल फूल रहे थे ॥ १२ ॥

नीलां कुवलयोदधार्ट्वद्दुवर्णां४ कुथामिव ।

स तामासाद्य वै रामो दूरादुदकवाहिनीम् ॥ १३ ॥

१ उदारजनाः—मुनिप्रभृतयः । (गो०) २ पानीयवाहिनी—पानार्हशीतल स्वाद जलवतीमित्यर्थः । (गो०) ३ सौगन्धिकैः—कल्हारैः । (गो०) ४ कुबल योद्धारैः—कुवलयसमूहैः । (गो०) कुथा—चित्र कम्बलं । (गो०) * पाठान्तरे—सद्वामिभूः ।

मतङ्गसरसं नाम हृदं समवगाहत ।

अरविन्दोत्पलवर्तीं पद्मसौगन्धिकायुताम् ॥ १४ ॥

पुष्पिताम्रवणोपेतां वर्हिणोद्धुष्टनादिताम् ।

तिलकैर्बीजपूरैश्च धवैः शुक्लद्रुमैस्तथा ॥ १५ ॥

पुष्पितैः करबीरैश्च पुं नागैश्च सुपुष्पितैः ।

मालतीकुन्दगुल्मैश्च भाण्डीरीनिचुलैस्तथा ॥ १६ ॥

अशोकैः सप्तपर्णैश्च केतकैरतिमुक्तकैः ।

अन्यैश्च विविधैर्वृक्षैः प्रमदामिव भूषिताम् ॥ १७ ॥

सरोवर में नीले रङ्ग के कमल के फूल भी थे । इन सफेद, लाल और नीले कमलों से ऐसा ज्ञान पड़ता था, मानों रङ्ग विरङ्गा कंचल बिछा हो । फिर श्रीरामचन्द्र जी मतङ्गसर नाम के कुण्ड पर गये । इस कुण्ड का जल उत्तम था और दूर से बह कर वह उसमें गिरता था । श्रीरामचन्द्र जी ने इस ; द में स्नान किये । हृद में खुशबूदार लाल, नीले सफेद कमल खिले हुए थे । उसके चारोंओर पुष्पित आम का वन था और उस वन में मोर बोल रहे थे । तिलक, बीजपूरक, वट, लोधि, फूली हुई कनैर और फूले हुए पुन्नाग, मालती, कुंद, गुल्म, भांडीर, निचुल, (हफरिवडी) अशोक, सप्तपर्ण, केतकि, नेमि आदि वृक्षों से वह वन शृङ्गार की हुई लाली की तरह भूषित देख पड़ता था ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

समीक्षमाणौ पुष्पाद्यं सर्वतो विपुलद्रुमम् ।

कोयष्टिकैश्चार्जुनकैः शतपत्रैश्च कीचकैः ॥ १८ ॥

कोयष्टिका, अर्जुन, शतफ, लंबे बाँस आदि के वृक्ष उस वन में फूलों से लदे हुए, दोनों राजकुमारों ने देखे ॥ १८ ॥

एतैश्चान्यैश्च विहगैर्नादितं तु वनं महत् ।
ततो जग्मतुरव्यग्रौ राघवौ शुसमाहितौ ॥ १९ ॥

इनके अतिरिक्त उस वन में और भी वृक्ष थे । वह महावन भाँति भाँति के पक्षियों की बोलियों से गूँज रहा था । दोनों पुरुष-श्रेष्ठ उस वन में अव्यग्र और सावधान हो विचरण करने लगे ॥ १९ ॥

तद्वनं चैव सरसः पश्यन्तौ शकुनैर्युतम् ।
स दर्दश ततः पम्पां शीतवारिनिधिं शुभाम् ॥ २० ॥

उस वन को तथा उस सरोवर को जो पक्षियों से सेवित था-
दोनों भाइयों ने भली भाँति श्रूम फिर कर देखा । तदनन्तर पवित्र शीतल जल के भण्डार पम्पा नामक सरोवर को देखा ॥ २० ॥

प्रहृष्टनानाशकुनां पादपैरूपशोभिताम् ।
स रामो विविधान्वृक्षान्सरांसि विविधानि च ॥ २१ ॥
पश्यन्कामाभिसन्तसो जगाम परमं^१ हृदम् ।
पुष्पितोपवनोपेतां सालचम्पकशोभिताम् ॥ २२ ॥

वहाँ पर भाँति भाँति के पक्षी प्रसन्न हो बोल रहे थे और तरह तरह के वृक्षों से वह शोभित हो रहा था । इस प्रकार श्रीरामचन्द्र जी विविध वृक्षों और तालाबों को देखते और कामपीड़ित हो, पम्पा सरोवर पर पहुँचे । वह पम्पा सरोवर फूले हुए साल, चम्पा आदि वृक्षों से युक्त उपवनों से विरो हुई थी ॥ २१ ॥ २२ ॥

रम्यो पवनसंबाधारम्य संपीडितोदकाम् ।
स्फटिकोपमतोयाद्यां श्लक्षणवालुकसन्तताम् ॥ २३ ॥

मनेहर वन उसके किनारे पर था वह कमलों से पूर्ण थी और उसका जल ऊपर से गिरने के कारण स्फटिक की तरह निर्मल था और उसकी सुन्दर चिकनो बालू थी ॥ २३ ॥

स तां दृष्टा पुनः पम्पा पद्मसौगन्धिकैर्युताम् ।

इत्युवाच तदा वाक्यं लक्ष्मणं सत्यविक्रमः ॥ २४ ॥

तदनन्तर सत्यपराक्रमी श्रीरामचन्द्र ने उस सुगन्धित कमल के फूलों से युक्त पम्पा सरोवर को पुनः देख लक्ष्मण से कहा ॥ २४ ॥

अस्यास्तीरे तु पूर्वोक्तः पर्वतो धातुमण्डितः ।

ऋश्यमूक इति ख्यातः पुण्यः पुष्पितपादपः ॥ २५ ॥

इसीके किनारे कवन्ध का बतलाया और धातुओं से मणिडत एवं विख्यात ऋश्यमूक पर्वत जिस पर पवित्र पुष्पित बृक्ष लगे हुए हैं, अवस्थित है ॥ २५ ॥

हरेर्कृक्षरजोनाम्नः पुत्रस्तस्य महात्मनः ।

अध्यास्ते तं महाबीर्यः सुग्रीव इति विश्रुतः ॥ २६ ॥

महात्मा वानर ऋक्षराज के पुत्र महाबलवान् सुग्रीव उसी पर रहते हैं ॥ २६ ॥

सुग्रीवमणिगच्छ त्वं वानरेन्द्र नरर्षभ ।

इत्युवाच पुनर्वाक्यं लक्ष्मणं सत्यविक्रमम् ॥ २७ ॥

सो हे नरश्रेष्ठ ! तुम वानरराज सुग्रीव के पास जाओ । यह कह, फिर श्रीरामचन्द्र जी सत्यपराक्रमी लक्ष्मण से कहने लगे ॥ २७ ॥

राज्यभ्रष्टेन दीनेन तस्यामासक्तचेतसा ।

कथं मया विना शक्यं सीतां लक्ष्मणं जीवितुम् ॥२८॥

हे लक्ष्मण ! मैं राज्य से भ्रष्ट दीन और सीतागतप्राण हो रहा हूँ । विना मेरे सीता क्योंकर जी सकेगी ॥ २८ ॥

इत्येवमुक्त्वा मदनाभिपीडितः

स लक्ष्मणं वाक्यं पनन्यचेतसम्^१ ।

विवेश पम्पां नलिनीं॒ ननोहरां

रघूतमः शोकविषादयन्त्रितः ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्र जी काम से पीडित हो लक्ष्मण जी से, जो उनकी बात सुनने को सावधान थे इस प्रकार कह और शोक से पीडित हो, उस कमल से युक्त मनोहर पम्पासरीवर में स्नान करने के लिये घुसे ॥ २९ ॥

ततो महद्वर्त्म सुदूरसंक्रमः

क्रमेण गत्वा प्रतिकूलधन्वनम् ।

दर्दर्श पम्पां शुभदर्शकानना-

मनेकनानाविधपक्षिजालकाम् ॥ ३० ॥

इति पञ्चसप्ततितमः सर्ग ॥

इत्यार्थे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीय आदिकाव्ये

चतुर्विंशतिसहस्रिकायां संहितायाम्

अरण्यकाण्डः समाप्तः ॥

१ ॥अनन्यचेतसं—स्ववाक्यश्रवणेसावधानं । (गो०) २ नलिनो—
सरसों । (गो०) ३ प्रतिकूलधन्वनम्—पथिकजनप्रतिकूल भूतमरुषान्तारं
कवचवनमित्यर्थः । (गो०)

श्रीरामचन्द्र और लक्ष्मण, कवच के अत्यन्त भयङ्कर वन को पार कर तथा बहुत दूर चल कर और रास्ते में अनेक दर्शनीय सुन्दर वनों से जो भाँति भाँति के पक्षियों से परिपूर्ण था, शोभित पम्पासरोबर को देखते हुए ॥ ३० ॥

अरण्यकाण्ड का पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ।

अरण्यकाण्ड समाप्त हुआ ॥

॥ श्रीः ॥

श्रीमद्रामायणपारायणसमापनक्रमः

श्रीवैष्णवसम्प्रदायः

—*—

एवमेतत्पुरावृत्तमाख्यानं भद्रमस्तु वः ।
प्रव्याहरत विस्त्रिष्ठं बलं विश्णोः प्रवर्धताम् ॥ १ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
येषामिन्दीषरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ २ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
देशोऽयं क्षेत्रभरहितो ब्राह्मणाः सन्तु निर्भयाः ॥ ३ ॥

कावेरी वर्धतां काले काले वर्षतु वासवः ।
श्रीरङ्गनाथो जयतु श्रीरङ्गश्रीश्च वर्धताम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
न्याख्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ ५ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनोयगुणाभ्ये ।
चक्रवर्तितनृजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ६ ॥

वेदवेदान्तवेद्याय मेघश्यामलमूर्तये ।
पुंसां मोहनरूपाय पुण्यश्लोकाय मङ्गलम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रान्तरङ्गाय मिथिलान गरीपतेः ।
 भाग्यानां परिपाकाय भव्यरूपाय मङ्गलम् ॥ ५ ॥
 पितृभक्ताय सततं भ्रातृभिः सह सोतया ।
 नन्दिताखिललोकाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ ६ ॥
 त्यक्तसाकेतवासाय चित्रकूटविहारिणे ।
 सेव्याय सर्वयमिनां धीरोदाराय मङ्गलम् ॥ १० ॥
 सौमित्रिणा च जानक्या चापवाणासिधारिणे ।
 संसेव्याय सदा भक्त्या स्वामिने मम मङ्गलम् ॥ ११ ॥
 दण्डकारण्यवासाय खण्डितामरशत्रवे ।
 गृग्रराजाय भक्ताय मुक्तिदायस्तु मङ्गलम् ॥ १२ ॥
 सादरं शबरीदत्तफलमूलाभिलाषिणे ।
 सौलभ्यपरिपूर्णाय सत्वोद्रिकाय मङ्गलम् ॥ १३ ॥
 हनुमत्समवेताय हरीशाभीष्टदायने ।
 वालिप्रमथानायास्तु महाधीराय मङ्गलम् ॥ १४ ॥
 श्रीमते रघुवीराय सेतूलङ्घितसिन्धवे ।
 जितराज्ञसराजाय रणधीराय मङ्गलम् ॥ १५ ॥
 आसाय नगरों दिव्यामभिषिकाय सोतया ।
 राजाविराजराजाय रामभद्राय मङ्गलम् ॥ १६ ॥
 मङ्गलाशासनपरैर्मदाचार्यपुरोगमैः ।
 सर्वैश्च पूर्वेऽराचार्यैः सलृतायास्तु मङ्गलम् ॥ १७ ॥

माधवसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
 न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
 गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
 लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
 देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराभवः ।
 येषामिन्द्रियरश्यामो हृदये सुप्रतिष्ठितः ॥ ३ ॥

मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणावधये ।
 चक्रघतितनुजाय सार्वभौमाय मङ्गलम् ॥ ४ ॥

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
 बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
 करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
 नारायणायेति समर्पयामि ॥ ५ ॥

स्मार्तसम्प्रदायः

स्वस्ति प्रजाभ्यः परिपालयन्तां
 न्याय्येन मार्गेण महीं महीशाः ।
 गोब्राह्मणेभ्यः शुभमस्तु नित्यं
 लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु ॥ १ ॥

काले वर्षतु पर्जन्यः पृथिवी सस्यशालिनी ।
 देशोऽयं क्षोभरहितो ब्राह्मणः सन्तु निर्भयाः ॥ २ ॥

अपुत्राः पुत्रिणाः सन्तु पुत्रिणाः सन्तु पौत्रिणाः ।
 अधनाः सधनाः सन्तु जीवन्तु शरदां शतम् ॥ ३ ॥

चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम् ।
 पक्षेकमक्षरं प्रोक्तं महापातकनाशनम् ॥ ४ ॥
 श्रृणवन्नामायणं भक्त्या यः पादं पदमेव वा ।
 स याति ब्रह्मणः स्थानं ब्रह्मणा पूज्यते सदा ॥ ५ ॥
 रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे ।
 रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः ॥ ६ ॥
 यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्तुते ।
 वृत्रनाशे समभवत्तते भवतु मङ्गलम् ॥ ७ ॥
 मङ्गलं कोसलेन्द्राय महनीयगुणात्मने ।
 चक्रधर्तिनूजाय साक्षेभैरामाय मङ्गलम् ॥ ८ ॥
 यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ।
 अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ९ ॥
 अमृतोत्पादने दैत्यान्ध्रतो वज्रधरस्य यत् ।
 अदितिर्मङ्गलं प्रादातत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ १० ॥
 श्रीन्विक्रमान्प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ।
 यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् ॥ ११ ॥
 ऋतवः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
 मङ्गलानि महाबाह दिशन्तु तव सर्वदा ॥ १२ ॥
 कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा
 बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेः स्वभावात् ।
 करोमि यद्यत्सकलं परस्मै
 नारायणायेति समर्पयामि ॥ १३ ॥